'हिंदी कहानीकार संसद' की प्रथम भेंट—

कथायन

[१]

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद उत्कर्ष-प्राप्त कथाकारों की प्रतिनिधि संकलन-माला के आयोजित दस पुष्पों में से प्रथम पुष्प

संपादक:
आनंदप्रकाश जैन

प्रकाशन प्रतिष्ठान
७८, रायजादगान, मेरठ

संपादकीय

दो वर्ष होने को आए, जब मेरठ में एक कहानीकार-सम्मेलन का आयोजन हुआ था। उसी समय रचनात्मक कार्य को आगे बढ़ाने के लिए 'हिन्दी कहानीकार संसद' की स्थापना हुई—एक अखिल भारतीय संस्था के रूप में—भारत भर के हिंदी कथाकारों को एक सूत्र में बांधने के लिये। मुझे उस का संयोजक व मन्त्री नियत किया गया। झख मेरी थी, प्रस्ताव मेरी ओर से उठा था, इसलिए यह भार भी मैं संभालूं यह तर्कसंगत बात थी।

कुछ दिनों बाद चल कर मुझे लगा कि सामयिक उत्साह में एक बहुत बड़े काम का भार मैं ने ले लिया है। किंतु अनेक साथी दूर तक साथ देने वाले थे और सचमुच रचनात्मक काम में विश्वास रखने थे। उन्हीं के सत्साहस तथा प्रोत्साहन से 'हिंदी कहानीकार संसद' का एक त्रैमासिक बुलेटिन निकला, जो इस वर्ष त्रैमासिक 'कहानीकार' के रूप में परिवर्तित हो गया।

पहले जो अंतरंग समिति बनी थी उस के द्वारा यह निश्चय हुआ था कि एक न एक दिन 'संसद' के अंतर्गत स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद उत्कर्ष-प्राप्त नई पीढ़ी के लगभग सभी उत्साही कथाकार संगठित होने वाले हैं, इसलिए एक वार्षिक-कथा-संकलन प्रकाशित करने का आयोजन किया जाये। इस का निर्णय तो सदा की भांति हो गया, मगर इसे व्यावहारिक रूप देने के मामले में सदा की भांति नींव की कुछ ईंटें खिसक गईं, कुछ रह गईं। मेरे सामने दो मार्ग थे: या तो अपने निजी समय और श्रम का विचार कर के सारे काम पर मिट्टी डाल दी जाये, या कमर कस कर जुट जाऊं। इस से बड़ों का आशीर्वाद और छोटों का जो बन्धुत्व प्राप्त होगा उसी का मूल्य बहुत बड़ा होगा। बिना प्रकाशक खोजे ही मैं ने साथियों की रचनायें मंगा ली और दो महीने लग कर उन का सम्पादन कर डाला। मगर उस के बाद जिस बड़े प्रकाशक के सामने यह योजना रखी गई उसी ने इनकार कर दिया। आजकल उपन्यास चलते हैं, लोक-कथायें चलती हैं, सरकारी खरीद के लिये तथा पाठ्य-क्रमों के अन्तर्गत आयोजित पुस्तकें चलती हैं—यह अर्थ का युग है और इसी से नापा जाना चाहिये!

लेकिन मेरा विचार भिन्न था, जिसे शायद मैं किसी बड़े प्रकाशक को ढंग से समझा नहीं सका या विश्वास नहीं दिला सका। 'कथायन' का नामकरण व इस की पूरी योजना भी उस समय स्पष्ट नहीं हुई थी। 'कथायन' का प्रकाशन इसी भाग पर रुक जाये, तो यह एक गुटबंदी जैसी

चीज़ हो जायेगी। मुझे गुटबंदी से घृणा है। 'संसद' के अनेक तर्कशील सदस्य इस से घृणा करते हैं। अतः यह निश्चय किया गया कि 'कथायन' को दस भागों में प्रकाशित किया जाये, जिस में नई पीढ़ी के लगभग ढाई सौ कथाकारों का विस्तृत परिचय, उन के रचना-शिल्प की विशेषताओं का उल्लेख तथा एक एक श्रेष्ठ रचना संग्रहीत हो। इस से स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य की गति-प्रगति का पता चलेगा और 'कथायन' के ये दसों भाग चाहे पांच वर्ष ले जायें, किंतु इस से हिन्दी-कथा-साहित्य का नवीनतम मोड़ स्पष्ट हो कर सामने आयेगा। काम बहुत बड़ा है, लेकिन बहुत भला भी है। अकेले मुझ में इतने बड़े काम को उठाने की सामर्थ्य कभी न होती यदि सुहृद् साथियों के सहयोग, स्नेह और सहायता पर मुझे विश्वास न होता।

एक बात और उठेगी : 'कथायन' में मात्र 'हिन्दी कहानीकार संसद' के सदस्य-साथियों की रचनायें प्रकाशित होंगी, तो फिर यह दावा कैसे किया जा सकता है कि इस के अन्तर्गत हिन्दी के कथाकारों की समस्त नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व होगा? मेरा विनम्र निवेदन इस के सम्बन्ध में यही है कि न मेरी किसी लेखक-बन्धु से व्यक्तिगत शत्रुता है (इस का अवकाश ही अब तक नहीं मिला) और न 'हिन्दी कहानीकार संसद' कोई इतर मनोवृत्तियों पर आधारित गुट है। हम 'कहानीकार' के द्वारा, निःशुल्क व सशुल्क हर ढङ्ग से, अपनी आवाज भारत के कोने कोने तक पहुंचा रहे हैं, इसलिये इस से अपरिचित रहने का बहाना नहीं किया जा सकता। संगठन होना चाहिये इस से भी किसी को ऐतराज नहीं है, यह मैं जानता हूं। तब भी कुछ साथी इस के संगठन के अन्तर्गत न आयें, तो यह उन की अपनी भावना-विशेष का दोष होगा, क्यों कि जब कांग्रेस को भारत का प्रशासन सौंपा गया था, तब सारा देश उस का सदस्य नहीं था—केवल यही काफी समझा गया था कि वह देश के बहुमत का प्रतिनिधित्व करती है और वही देश की सब से बड़ी राजनीतिक संस्था है।

फिर भी हमारे साधन अभी छोटे हैं। इसलिये जो भूलें इस संकलन में रह गई हों उन के लिये मेरा अज्ञान ही उत्तरदायी है, और मेरी सामर्थ्य को देखते हुये वे क्षम्य भी होनी चाहिये।

'हिन्दी कहानीकार संसद' के सभी पुराने, नये, और भावी सदस्यों को मेरी हार्दिक शुभ-कामनायें तथा अभिनन्दन समर्पित हैं। 'संसद' देश के सभी हिन्दी कथाकारों को बांहें फैला कर आमन्त्रित करती है।

७८ रायजादगान, मेरठ
२० मार्च, १९५९

विषय-सूची

खंड एक : पारिवारिक कथायें

खंड दो : सामाजिक कथायें

(कृ० पृ० उ०)

खंड तीन : प्रणय कथायें

खंड चार : व्यंग्य कथायें

खंड पांच : हास्य कथायें

और

कहानी कैसे लिखें ?

नोट :– कृपया पृष्ठ १९८ पर प्रकाशित लेखक का पता अगली सूचना तक ग़लत समझें ।

खंड एक

पारिवारिक कथाएं

★ विष्णु प्रभाकर

आदरणीय भाई विष्णु प्रभाकर का व्यक्तित्व हिन्दी के कथा-साहित्य के लिये गौरव की वस्तु है। सीधी-सादी, किंतु प्रभावशाली आकृति सुनने में मृदुल तो व्यवहार में भी नवनीत—साथ चलते हैं, तो लगता है कि बड़े भाई की छाया साथ चल रही है।

जन्म उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले में स्थित मीरापुर नामक कस्बे में २१ जून १९१२ ई० को हुआ। अधिक स्वतन्त्र लेखन-कार्य किया। दिल्ली रेडियो पर नाटक-विभाग के प्रोड्यूसर रहे, किंतु लेखन-कार्य प्रायः अवरुद्ध हो जाने के कारण छोड़ दिया। आकाशवाणी से आप के बीसियों नाटक प्रसारित हो चुके हैं, जिन में से अनेक का निर्देशन स्वयं आप ने किया है। आजकल सस्ता साहित्य मंडल में काम कर रहे हैं। अनेक उपन्यास, कथा-संग्रह व नाटक-संग्रह आप की समर्थ लेखनी से निकल चुके हैं।

प्रभाकर जी की कला पात्रों के मर्म को उनके कार्यों के द्वारा ही चित्रित नहीं करती, बल्कि निर्माणकारी सामाजिक दृष्टिकोण से उन का विश्लेषण भी करती चलती है और यह विश्लेषण कभी कभी इतना मार्मिक हो जाता है कि इस अनोखी कलम को चूम लेने को जी चाहता है।

प्रस्तुत कथा 'दो दुर्बल हृदय' साप्ताहिक 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुई थी। स्वयं मेरे आग्रह पर ही प्रभाकर जी ने इसे इस संग्रह के लिये दी है। कथा प्रारम्भ से ही विषम और उत्सुकतापूर्ण परिस्थिति को ले कर चलती है। पहले ही वाक्य में कथा-प्राण 'संघर्ष' के बीज हैं, जिन में कथा की प्रगति के साथ साथ अंकुर फूटते चलते हैं। साथ ही कथा का प्रस्तावना-भाग भी स्पष्ट होता चलता है। प्रस्तावना-भाग को छिपा कर सीधे संघर्ष से कहानी को उठाने का यह एक सुन्दर नमूना है। पाठक की उत्सुकता उत्तरोत्तर जाग्रत होती चलती है। 'आवेश का प्रण तो बालू की नींव पर खड़ा होता है'—'नारी का दर्प चाहे करुणा के रूप में हो चाहे आक्रोश के, आसानी से हार नहीं मानता'—'पुरुष सब से अधिक व्यस्त नारी को ले कर होता है, इतना भी नहीं जाना ?' 'पुरुष को विरह सताता है तो उसे वैराग्य ही सूझता है'— ये गार्हस्थ्य-जीवन के अमर तथ्य हैं, जिन्हें विष्णु प्रभाकर ने इस कथा में उजागर किया है। और इस कहानी के ये 'दो दुर्बल हृदय'—दर्प से फुंकारने वाले, अधिकार से चीखने वाले, आक्रोश से झिड़कने वाले—मरणांतक संघर्ष के साथ आपस में प्यार करते हैं। यही विष्णु जी की लेखनी की गहराई है।

— ८९८ कुंडेवालान चौक, अजमेरी गेट, दिल्ली—६।

● दो दुर्बल हृदय

कई दिन से पति-पत्नी में मनमुटाव चल रहा था और जैसा कि सुनील का स्वभाव था वह बहुत शीघ्र परिणाम की सम्भावना पर विचार करने लगा था। उसने कांचन से यहां तक कह दिया था—"तुम यदि समझती हो कि मैं तुम्हारे साथ अन्याय कर रहा हूं तो मुझे तलाक दे सकती हो।"

कांचन सचमुच अनुभव करती थी कि उसके साथ अन्याय हुआ है। फिर भी तलाक की सम्भावना पर तो उसने विचार नहीं किया था। हां, मन उसका बेहद कड़ुवा हो आया था। उसके चौड़े हड्डी वाले लम्बे-गन्दुमी चेहरे पर इस कड़ुवाहट की छाया और भी लम्बी हो उठी थी। इतनी कि संध्या को लौट कर जब सुनील ने उससे मुसकरा कर बात करने की चेष्टा की तो उसने तनिक भी बढ़ावा नहीं दिया। इसके विपरीत उसकी तलखी और बढ़ गई। सुनील दो दिन बाद काफी दिनों के लिये बाहर जा रहा था। वह नहीं चाहता था कि उसका दिल कड़ुवे धुंए से भरा रहे, इसलिये उसने समझौते का हाथ बढ़ाया, लेकिन कांचन की रुद्रता में रंच मात्र भी कमी नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि जो चर्चा समझौते के लक्ष्य को ले कर चली थी वह शीघ्र ही भयंकर संघर्ष में परिवर्तित हो गई।

कांचन ने कहा, "तुम यह काम क्यों नहीं कर सकते? नहीं, नहीं तुम कर सकते हो।"

सुनील बोला, "तुम कहना चाहती हो कि मैं जानबूझ कर नहीं कर रहा हूं।"

"इसका तो यही मतलब हो सकता है," कांचन ने तलखी से उत्तर दिया।

सुनील अब तिलमिला उठा। उसे यह आशा नहीं थी कि कांचन उस पर सीधा आक्रमण करेगी। उसने द्विगुणित तलखी से कहा, "ठीक है, तो कर लो जो तुम से हो सके।"

कांचन ने उसी स्वर में उत्तर दिया, "कर क्या लूंगी? कर नहीं सकती, तभी तो कहते हो।"

"कर क्यों नहीं सकती?"

"नारी क्या कर सकती है? पुरुष सदा अन्याय करता है। अन्याय का नाम ही पुरुष है।"

इस उत्तर से महान् शैक्सपियर की स्वर्गस्थ आत्मा भी घायल हो उठी होगी। बेचारा सुनील तो मृत्यु-लोक का प्राणी था। उसका अस्तित्व तक कम्पायमान हो उठा। कई क्षण वह सन्नाटे से आक्रान्त, अवाक् बैठा रहा। फिर एक झटके के साथ उठ खड़ा हुआ और उसने चीख कर कहा, "मैं अन्यायी हूं! मैंने अन्याय किया! यह तुम कहती हो? तुम जानती हो यह काम क्यों नहीं हो सकता। उसमें मेरा कोई दखल नहीं है। फिर भी, फिर भी तुम...!"

क्रोध और दुःख के आवेग के मारे आगे उससे बोला नहीं गया। उसके हाथ ऐंठने लगे। यदि यह घटना चालीस वर्ष पूर्व घटी होती, तो वह कांचन को उठा कर छत से नीचे फेंक देता और फिर लात और घूंसों से मार मार कर अधमरी कर देता। पर उन्नीस सौ सत्तावन में यह सम्भव नहीं था। इसलिये उसने उन ऐंठे हुए हाथों से अपने ही सिर को ठोंक लिया। इस अप्रत्याशित व्यवहार को देख कर कांचन एक बार तो तड़पी पर दूसरे ही क्षण सुनील के मन की हिंसा को वह ताड़ गई—आखिर इस आक्रमण का लक्ष्य तो मैं ही हूं। पुरुष इसके अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है?

और वह अपने स्थान से रंच मात्र भी नहीं हिली। सुनील उसी आवेश में उसे सुना सुना कर जो भी जी में आया कहने लगा। कांचन उत्तर देने से नहीं चूकी और हर उत्तर पर सुनील बार बार सिर को ठोंकने लगा। उसने कहा, "राक्षसी! तुम चाहती हो मैं मर जाऊं, तो यही हो। तब तुम प्रसन्न होगी।"

कांचन बोली, "और होती होंगी तो मैं भी होऊंगी। कब तुमने मेरे लिये कुछ किया है जो मैं...?"

सुनील बीच में ही चीख उठा, "हां, हां, तुम्हें तो मेरे मरने से सुख होगा ही। तुम अभी क्यों नहीं चली जातीं? जाओ, अभी जाओ। मैं लिखे देता हूं। सरकार जो खर्च देने को कहेगी दूंगा पर...।"

और उसका गला भर आया। वह कई बार सिर ठोंक चुका था। उससे बेहद पीड़ा हो रही थी। उसने अपनी बड़ी लड़की को पुकार कर एक गिलास पानी मांगा। उसे पी कर वह लेट गया और उसी तीखी वाणी में अदृश्य को सुना-सुना कर बोलता रहा, "स्वार्थी, सब स्वार्थी! सब अपने को देखते हैं। दूसरे को कोई नहीं देखता। कैसे खटता हूं, कैसे विपरीत परिस्थितियों में काम करता हूं! अपना सुख ही सब का लक्ष्य है, केवल अपना सुख।" इत्यादि, इत्यादि।

इस नाटक में बड़ा तीव्र आवेग और आक्रोश था। पर इस बारे में

वे दोनों सजग थे कि उनकी आवाज उनके अतिरिक्त कोई और न सुन सके। इसलिये जब यहाँ यह मरणान्तक-महायुद्ध भीषण रूप धारण कर रहा था, तब सब कहीं यथापूर्व था।

आखिर सुनील जब बोलते-बोलते थक गया तो अपनी शैया पर जा लेटा। उसका बदन बुरी तरह पीड़ित था। कांचन के प्रति उसके मन में एक अद्‌भुत घृणा भरी आ रही थी। यद्यपि शब्द शान्त थे, परन्तु विचारों का तुमुल नाद उसे अब भी झकझोर रहा था। उसने कई क्षण बाद गरदन उठा कर कांचन को देखा—वह बच्चों को ले कर कार्यव्यस्त थी। राक्षसी! नारी क्या नहीं कर सकती? कहां तक नहीं जा सकती? अब मैं इसके साथ कैसे रह सकता हूं? नहीं यह असम्भव है। नितान्त असम्भव है। मैं सिर ठोंकता रहा और यह देखती रही! ...तब...तब क्या तलाक देना होगा? हां, देना होगा। देना होगा, देना होगा।

वह चीख उठता, लेकिन उसी क्षण एक और विचार उसके मस्तिष्क में कौंध गया—तलाक देने के लिये उसे कचहरी जाना होगा और तब वह रहस्य जिसे उसने अब तक अपने तक ही सीमित रखने की प्राणपण से चेष्टा की थी, सब पर प्रकट हो जायगा। कांचन दूसरा विवाह करेगी...मैं भी दूसरा विवाह करूंगा। बच्चे अनाथ हो जायेंगे। मां-बाप के रहते वे अनाथ! नहीं...नहीं नहीं...! उसकी चीख निकलते निकलते रह गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके सिर की पीड़ा बढ़ गई। वह कराहने लगा। वह अपने बच्चों को बहुत प्यार करता था। वह कांचन को भी प्यार करता था ...लेकिन कांचन के मन की दया-माया आज जैसे बिल्कुल सूख गई थी। यह सब कैसे हो गया कैसे...?

उसने अब सोचना छोड़ दिया और केवल कराहने लगा। और वह कराहट प्रति क्षण दुगुने उद्वेग से तीव्र होने लगी। कांचन ने इस कराहट को सुना और दूर से ही एक बार पति की ओर देख भर लिया। कुछ देर पूर्व उसने निश्चय कर लिया था कि उसे जाना ही पड़ा तो वह पति से कुछ भी न लेगी, सन्तान तक पर अधिकार न जताएगी। लेकिन आवेश का प्रण तो बालू की नींव पर खड़ा होता है, इसलिये वह अगले ही क्षण डगमगाने लगी—वह अलग होना चाहते हैं तो हों। लेकिन उन्होंने अपने को पीटा क्यों? क्यों? मुझे त्रास देने के लिये न? शब्द ही मेरे लिये क्या कम थे जो उन्होंने आत्म-पीड़न का मार्ग अपनाया। क्या उनके चोट नहीं लगी होगी? कितना तेज़-तेज़ आघात करते थे और मैं मुंहझौंसी देखती रह जाती थी।....

करुणा के इस आकस्मिक आवेग से उसके मन का कोई कोना भीग

आया और इसी लिये सुनील की प्रति क्षण बढ़ती कराहट उसके लिये असह्य होने लगी। जिसने आघात रोकने की रंच मात्र भी चिन्ता न की, वही उसकी चोट से कसक उठी। उसकी शैया पति के पास ही थी। वह चुपचाप अपने बिछावन पर आ बैठी। कई क्षण पति की छटपटाहट को देखती रही और हर क्षण अपनी दृष्टि में आप अपराधिनी बनती गई। आखिर उसने डरते-डरते अपना दाहिना हाथ पति के माथे पर रखा, और जैसा कि हो सकता था, एक भीषण बड़बड़ाहट के साथ सुनील ने उसे झटक दिया...।

मौन विनती के साथ कांचन ने फिर अपना प्रयत्न दोहराया। उसी दृढ़ता से सुनील ने उसे फिर विफल कर दिया। लेकिन नारी का दर्प चाहे करुणा के रूप में हो, चाहे आक्रोश के, आसानी से हार नहीं मानता। वह अब अपने बिछावन से उठ कर पति की शैया के एक कोने पर आ बैठी। कई क्षण वह बैठी ही रही। उसने पति के विद्रोह और अवरोध पर ध्यान तक नहीं दिया। हर प्रतिघात को उसने चुपचाप सह लिया। चुपचाप उनके माथे को सहलाने लगी...मन ही मन उसने कहा—मार भी डालोगे तो भी हटूंगी नहीं। यह नारी के अधिकार का स्थान है।

इस जोर-आजमाई में सुनील के भीतर जो पुरुष था उसका दर्प-दण्ड न जाने किस आघात से ढीला पड़ने लगा। कई क्षण बाद उसका विरोध क्षीण पड़ते-पड़ते जब बिल्कुल ही मिट गया तो उसे सुख मिला।

तभी उसके दोनो हाथों को पकड़ कर अपने मुख पर लगाते हुए कांचन ने विनती के स्वर में कहा, "अब और कुछ नहीं।"

इस छोटे से वाक्य ने उसे बिल्कुल निरस्त्र कर दिया। उसकी पीड़ा पलक मारने भर के समय में तिरोहित हो गई। उसने मुंह उठा कर ऊपर को देखा—नीर भरे दो नयन उसके ऊपर झुके हुए थे। तब आत्म-विस्मृत हो आनन्द के उद्रेक में उसने अपने नेत्र बन्द कर लिये और कांचन के सिर को हाथों में ले कर छाती में इस तरह दबोच लिया, जिस प्रकार खोये हुए धन को पा कर कृपण दबोचता है।

स्वार्थ और वितृष्णा, तृष्णा और आसक्ति—मायावती माया कितने रूपों में प्रकट होती है! विदा के समय कांचन ने अतीव विनम्र और करुण दृष्टि से पति की ओर देखा और सुनील ने, जैसा कि सदा होता था, उसका हाथ दबा भर दिया। फिर एक झटके के साथ नीचे उतरता चला गया।

इस घटना का यह अन्त कुछ बहुत बुरा नहीं था। लेकिन अपना चाहा हो जाय तो अदृष्ट की सृष्टि न रुक जाय। न जाने किस मुहूर्त्त में सुनील के मन में यह विचार पैदा हुआ कि रात कांचन ने नारीत्व की शक्ति का

प्रयोग कर के उसे बुरी तरह पराजित कर दिया है और जब तक वह उसका प्रतिशोध न ले लेगा उसे चैन न मिलेगा।

इस ग्लानि के परिणामस्वरूप उसके मन में नयी विरक्ति पैदा हुई और उसने पूरी यात्रा में कांचन को एक भी पत्र न लिखा। कांचन तब तक मायके चली गयी थी। कई दिन बाद एक समवयस्का ने पूछ ही तो लिया—"क्यों जी, इस बार तलाक-वलाक होने वाला है क्या ?"

कांचन हठात् कांप उठी—"क्यों ?"

"इतने दिन बीत गये, एक भी पाती नहीं !"

कांचन ने कहा, "व्यस्त होंगे, इसी से...।"

बात काट कर सखी बोल उठी, "व्यस्त होंगे ख़ाक ! पुरुष सब से अधिक व्यस्त नारी को ले कर होता है, इतना भी नही जाना ?"

कांचन ने निरुत्तर हो कर भी उत्तर दिया, "अब वह उमर नहीं रही।"

सखी हंस पड़ी, "पति-पत्नी का नाता उमर की अपेक्षा नहीं करता, पगली, यह भी नहीं सीखा ! या फिर कुछ छिपा रही हो ? सन्देश ले कर जाऊं क्या ? मुझ से बढ़ कर..... ।"

कांचन भी हंस पड़ी; बोली, "तुझे भेजूंगी ? जा, जा, मुंह धो रख। डकैत कहीं की !"

तब तो बात हंसी में खो गई। पर रात के नीरव एकान्त में कांचन अतिशय कातर हो उठी। सब अभिमान छोड़ कर उसने पत्र लिखा—'यह कैसी बात है, जी ? पूरा एक महीना बीत गया कोई प्रेम-पाती नहीं ! कैसे मिजाज हैं हुजूर के ? इतनी दूर रह कर भी मन स्वस्थ नहीं हुआ ? विदा होते समय तो कोई बात नहीं थी, बताइये न ? सुनिये, आपको बताना पड़ेगा। देखिये, अब पहले वाली बात तो रही नहीं कि जैसे भी रहे रह लिये ' इत्यादि इत्यादि।

लेकिन जब इस पत्र का कोई उत्तर नहीं मिला, तब उसने फिर लिखा, 'मैं कुढ़ती रही हूं। रातों नींद नहीं आती। ऐसी भी क्या परेशानी है ? क्या आप मुझे भूल ही गये हैं ? मेरा नाम भी याद नहीं रहा आपको ? मैं बहुत बेचैन हूं। मैं जानती हूं आपके मन में घुटन भरी होगी। आप मुझे बताते क्यों नहीं ? इस सौभाग्य से क्यों वंचित करते हैं ? मैं आपके चरण छूती हूं, मेरे अच्छे प्रियतम ! इस पत्र का उत्तर मुझे परसों ही मिल जाना चाहिए...।'

इस पत्र का भी कोई उत्तर नहीं मिला। कांचन ने तीसरी बार लिखा : 'पत्र की राह देखते-देखते आंखें दुखने लगीं। नींद नहीं आती,

करवटें बदलते–रात बीत जाती हैं। निर्दयी कुछ तो लिखा होता। यहां से सब पहाड़ पर जा रहे हैं। मैं कहे देती हूं, तुम्हारे बिना कहीं न जाऊंगी।'

इस बार पत्थर के देवता ने कांचन को सम्बोधित करके एक पत्र लिखा—'मुझे किसी पर विश्वास नहीं। मैं अकेला हूं, लेकिन भूखा हूं। यही भूख मुझे गिरा रही है। इसलिये तुम्हें दोष न दूंगा। वह सब मेरा है। पर उससे क्या? दोष किसी का हो। हम दोनों में अब निभेगी नहीं। तुमको मुझ पर विश्वास नहीं रहा। तुम्हारे पत्र तो शरीर की भूख का परिणाम हैं।...परन्तु तुम चिन्ता मत करो। जो होगा देखा जायगा। परिस्थितियां समझौता करा ही लेंगी। लेकिन उसमें मन होगा क्या? यह कैसी मजबूरी है! मन न हो फिर भी...!

'लेकिन उस घाव को अब क्यों कुरेदें। उस चैप्टर को बन्द न समझें? तुम्हारे बिना मेरी गति कहाँ? तुम पहाड़ चली जाओ।' इत्यादि इत्यादि।

पत्र पा कर कांचन पुलक-पुलक उठी। सखी ने समाचार पाया तो बताशे माँगने आई। कांचन बोली, "काहे का मुंह मीठा कराऊं? वैराग्य का उपदेश दिया है।"

"हाय दैया! इतना भी नहीं जानती! पुरुष को विरह सताता है तो उसे वैराग्य ही सूझता है।"

"और नारी को।"

"सुधबुध खोना। देख तो, इस उमर में भी रोते रोते आँखें सूज गई हैं!"

व्यंग्य की यह चोट खा कर कांचन और भी तरल हो गई। पंख पाती तो तभी उड़ जाती। लेकिन मन में अब भी कहीं कांटा था। सो पत्र लिखा—

'निर्दयी प्रियतम, पत्र लिखा भी तो वैराग्य का! हाय! न जाने किसने मेरी दुनिया में आग लगाई है। सोचती हूं यह आग बुझेगी भी या नहीं। देखिये, मैं कहीं नहीं जाऊंगी। आप आइये, नहीं तो...।'

उत्तर में ट्रंक-कॉल आया। बातें करते समय दोनों कांप रहे थे। सुनील ने कहा, "मैं अस्वस्थ हूं। आ न सकूंगा। तुम चली जाओ।"

"मैं नहीं जाऊंगी।"

"चली जाओ।"

"ऊंहुंक्।"

"तो...?"

"मैं कुछ नहीं जानती ।"

फिर बच्चे आ गये । बात का रुख बदल गया । कांचन ने तुरन्त पत्र लिखा—

'स्वयं पत्र न लिख सको, तो किसी से लिखवा दो । मुझे बुला लो ।'

सुनील ने उत्तर में लिखा—

'न जाना चाहो तो आ जाओ ।'

सन्ध्या को एक्सप्रेस पत्र लिखा—

'मेरी तबीयत ठीक नहीं । हो सके तो तुम यहीं आ जाओ ।'

रात को तार दिया—

'शीघ्र आओ ।'

कांचन तीसरे दिन आ पहुंची । देखने में पहले से भी सुन्दर लगी । सुनील ने कहा, "रोने से रंग में निखार आ गया है ।"

कांचन के दिल में गुदगुदी-सी हुई बोली, "सब तुम्हारी आँखों का दोष है ।"

आगे की कथा शब्दों के लिए नहीं है, सो इसे यहीं समाप्त कर दिया जाता तो कुछ बुरा नहीं था । लेकिन हुआ यह कि तीसरे दिन न जाने किस बात को ले कर कांचन बोल उठी, "तुम चाहते तो वह काम कर सकते थे ।"

सुनील एकबारगी अग्निपिंड हो उठा । लगभग चीख कर उसने कहा, "तुम्हारे मन की कसक अभी तक मिटी नहीं है ?"

"घाव भरे तो कसक मिटे ।"

सुनील ने इस असह्य आघात की चोट खा कर जो गरदन उठाई तो देखा कांचन मुसकरा रही है । वह बोला, "अपनी कहो न । मरने में कुछ शेष रहा था ? बुला लो, बुला लो.. मेरी जान संकट में डाल दी थी । अब फिर न झगड़ना ।"

"रहने दो । मेरे अधिकार पर आघात न करो । तुम्हारे अन्याय का प्रतिकार किये बिना न रहूंगी । फिर भले ही कुछ भी क्यों न हो ।"

यह कह कर वह शीघ्रता से वहाँ से चली गई ।

सुनील तब स्तब्ध बैठा रहा । न कुछ कह सका न सोच सका ।

●●●

★ वसन्तप्रभा

गंभीर व चिंतनशील महिलाओं में श्रीमती वसंतप्रभा का साहित्यिक व्यक्तित्व अपना एक विशेष स्थान रखता है। आप के साहित्य में प्रायः उस प्रगल्भता के दर्शन होते हैं, जो जीवन के व्यावहारिक दर्शन को उजागर करता है। आप के कथा-साहित्य का प्रत्येक पात्र अपना एक विशेष व्यक्तित्व ले कर कथा-मंच पर उतरता है और अधिकार के साथ कथा के संदर्भ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि आप की कला सुगठित व प्रौढ़ साहित्य का सृजन करती है और जीवन के ऊंचे मापदडों का प्रतिपादन करती है। आप की कथा का साधारण से साधारण पात्र एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक रुझान का प्रतीक होता है।

छत्तीस वर्ष के अनुभवपूर्ण जीवन की स्वामिनी श्रीमती वसंतप्रभा का मानस बड़ी बहन के शांत व प्रगल्भ स्नेह से कूट कूट कर भरा है। आप की सत्तर-पचहत्तर कहानियां प्रकाशित हो चुकी है तथा दो उपन्यास भी सामने आ चुके है। एक उपन्यास 'अधूरी तस्वीर' 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के पृष्ठों में आ चुका है और अब पुस्तकाकार भी छप गया है। आप की लेखनी अब भी निरंतर सजगता के साथ चल रही है।

प्रस्तुत कथा 'बन्द कमरा' नारी जीवन के एक ऐसे पहलू पर प्रकाश डालता है, जो कम से कम इस रूप में समझने के विचार से एकदम अछूता है। यह एक ऐसे पति-पत्नी की कहानी है, जो एक-दूसरे के दोषों की तरफ से प्रकट रूप में मौन रहना ज्यादा पसन्द करते हैं। फलतः लीला में नारी-सुलभ हठ भी है और मौन रह कर स्वयं ही संत्रस्त बने रहने का अभिमान भी है। वह अपने को पीड़ित समझती है, पीड़क को जानती भी है, किंतु शिकायत कर के अपने को नीचे गिराना उसे अभीष्ट नहीं। एक सीधी-सादी व्यावहारिक नारी के रूप में कहानी कहने वाली कुसुम है, जिसके वार्त्तालापों के बिना यह जानना कठिन था कि लीला का व्यक्तित्व सामान्य से कितना हटा हुआ है। प्रारम्भ से ही कहानी एक रहस्यपूर्ण वातावरण ले कर चलती है और चरम-सीमा पर पहुंच कर हमें लीला के पागलपन पर ऐसा पछतावा होता है मानो यह निरन्तर भूल हम स्वयं ही अपने परिवार में करते चले आए हों। यही कहानी-लेखिका की सफलता है और इसी वातावरण को निखारने में उन की कला है। श्रीमती वसंतप्रभा की यह कहानी उनके कथ लकारों में एक चमकता हुआ नग है।

—१४ ई०, वेस्ट निजामुद्दीन, नई दिल्ली।

● बन्द कमरा

लीला को गये छः महीने हो गए हैं। कैसी असम्भव सी बात जान पड़ती है! परन्तु जो सत्य है उसे कल्पना द्वारा झूठ नहीं किया जा सकता। अक्सर मैं अपने को इस सत्य द्वारा संयत करना चाहती हूँ। फिर भी सन्देह मेरा दूर नहीं होता। हर बार ऐसा जान पड़ता है, जैसे किसी ने चुपके से आ कर मेरे दरवाजे पर दस्तक दी हो, और मैं चौंक कर उस दरवाजे को खोलने के लिये उठ बैठती हूं। मगर दरवाजे तक जाते जाते मैं लौट आती हूं। ओह! यह मेरा कैसा भ्रम है? खटका दरवाजे पर नहीं, मेरे भीतर हुआ है। 'लीला यहां नहीं है, वह तो कब की जा चुकी है,' मैं अपने ही से कह उठती हूं।

रोज की भांति मैं आज भी बड़ी देर तक छत पर खड़ी रही और मुंडेर के सहारे झुकी उसी कमरे की ओर देखती रही, जिस में भारी-भरकम ताला पड़ा हुआ था और जिसे पिछले छः महीनों से किसी ने नहीं खोला था।

ताले पर धूल जम आई थी। उस धूल जमने की अनुभूति ने मेरी दृष्टि को उधर से बरबस खींच लिया। कमरे की खिड़की की सींखचों पर कुछ लम्बे–पतले तिनके इकट्ठे हो गए थे। एक चिड़िया बार-बार आती और तिनकों को इधर-उधर कर के उड़ जाती। शायद वह अपना घोंसला बनाना चाहती है, मैंने मन ही मन कहा। लेकिन दूसरे ही क्षण मेरे भीतर एक जिज्ञासा सी उत्पन्न हुई। क्या यह चिड़िया यहां अपना घोंसला स्थायी रूप से बना पायेगी? यह सोचते ही एक धुंधली सी आकृति मेरी आँखों के सामने घूम गई और दो नन्हें बच्चों की खिलखिलाहट ने मुझे चौंका दिया। इधर-उधर देखा, कुछ नहीं—सामने देखा, वहाँ वही ताला दिखाई दिया... और सब शून्य। मेरी आँखों से बरबस आँसू टपक पड़े और मैं धीरे धीरे भारी मन लिये सीढ़ियाँ उतर आई।

लीला से मेरा परिचय उसी दिन हुआ था, जिस दिन मैं इस मकान में आई थी। सुबह के दस बजे होंगे। रसोई का तितरबितर सामान मैं ठिकाने लगा रही थी कि तभी रसोई की खिड़की पर दस्तक हुई। बर्तनों को एक ओर रखने में और हाथ धोने में जो क्षण लगे, उसी बीच तीन बार खिड़की पर जोर से खटका हुआ। गीले हाथ लिये मैं ने जल्दी से

चटखनी खोली, और ज्यों ही उसका पल्ला बाहर को धकेला कि दाहिनी ओर से एक जोर की खिलखिलाहट हुई और उसी समय मैंने सुना :

"क्यों, डरा दिया है न !"

मैं जवाब देती कि तभी मैंने देखा, दो मुसकुराती हुई आंखें मेरे चेहरे पर जमी हैं। ज्यों ही मेरी दृष्टि उसकी दृष्टि से मिली कि उसने अपना दाहिना हाथ बाहर बढ़ाया और मेरे हाथ को पकड़ते हुये बोली:

"खिड़की खुलने की बड़ी देर से इन्तजार कर रही थी। जब नहीं खुली तो इसी तरकीब को अपनाना पड़ा। इस से असुविधा तो नहीं हुई ?"

"जी नहीं," मैंने मुसकराते हुए कहा।

"तो ठीक है, मेरी आशंका दूर हुई।" मेरा हाथ सहलाते हुये वह बोली, "मैं खाना तैयार कर रही हूं। आप लोग यहीं खायेंगे।"

"जी, इसके लिए आप क्यों कष्ट करती हैं। खाने का हमने इन्तजाम कर लिया है।"

"गलत बात है। खाने का इंतजाम कहां हुआ है ? आपके यहां तो चूल्हा भी नहीं जला। हां, हां, मैं जानती हूं सुबह आपके पति महाशय गरम दूध का गिलास लिये आ रहे थे। बेचारे बड़ी मुश्किल से उसे सम्भाले हुये थे। क्यों, ठीक है कि नहीं ?"

कहने को जो मैंने सोचा सब व्यर्थ गया। उसकी बातों में इतना अधिक प्रभाव था कि मुझ से न सच कहा गया और न गलत के लिये सफाई दी गई। हुआ यह कि चुप रह कर उसकी बातों को स्वीकार करना पड़ा।

"अच्छा, तो एक बजे मैं आऊंगी।" उसने कुछ सोचते हुये फिर कहा, "आप को वहाँ ले जाने आऊंगी। मेरे कमरे का दरवाजा आपके दूसरे कमरे में खुलता है। मकान जब तक खाली रहा उसमें ताला लगाये रखा। अब आप आ गई हैं तो खोलना ही पड़ा। सीढ़ियां उतरने और चढ़ने की क्या आवश्यकता है ? दरवाजे की चटखनी खोल दीजिए। और हां, मुझे पुकारने में कहीं आप को असुविधा न हो—मेरा नाम लीला है।"

"ठीक है," मैंने हंसते हुए स्वीकार किया। उसने जिस तेजी से आ कर खिड़की का दरवाजा खटखटाया था, उसी तेजी से एकदम से पीछे हट गई। मुझे उस समय ऐसा अनुभव हुआ जैसे एक सुखद समीर का झोंका आया हो और कुछ संदेशा दे कर एकदम गायब हो गया हो।

लीला से यह मेरी प्रथम भेंट थी।

उस दिन एक अजीब उल्लास मुझे उत्साहित करता रहा।

मकान अच्छा है, पड़ोसिन उससे भी अच्छी है और दिलचस्प है। पड़ोसिन की खिलखिलाहट और उसका मेरे हाथों को सहलाना, मुझ में आत्मीयता की भावना को दृढ़ करता रहा। समय अच्छा कट जायगा ऐसी मेरी धारणा बनती गई।

ठीक एक बजे लीला आई और मुझे अपने घर ले गई। खाना खिलाया, बातें भी हुईं, कुछ अपने विषय में और कुछ इधर-उधर की। उसकी बातों में एक जबरदस्त प्रभाव था। कहने का एक नया ढंग था; ऐसा ढंग जिस से सुननेवाले की रुचि बातों के अतिरिक्त बात करने वाले में बढ़ती जाए और वह बातों में नवीनता की कमी को महसूस करता हुआ भी बात सुनने में रस लेता रहे।

घर आई तो मुझे अनुभव हुआ जैसे लीला से मेरी अभिन्न मित्रता है, जो नई होती हुई भी चिरपरिचित है। लीला के बच्चे भी खूब अच्छे लगे। भोलेपन के साथ साथ उनकी शरारत भी मोह लेने वाली थी, और खूबी यह कि मां की भांति व भी जल्दी से संपर्क में आ जाने वाले थे। मां के कहने के अनुसार मैं उनकी मौसी बन गई थी। इस नये संबन्ध की रूपरेखा ने मुझे उनके अधिक निकट ला दिया।

उसके पश्चात् हम दोनों में रोज मुलाकात होती, दिनचर्या के विषय में वाद-विवाद भी होता, अपनी अच्छी बुरी आदतों के लिये एक-दूसरे को सुझाव भी दिये जाते, और उन्हें प्रयोग में लाने के लिये आलोचनायें भी होतीं। पर मैं उस बीच देखती, मान-अभिमान की झूठी प्रशंसा में लीला के विचार सर्वथा मुझ से विपरीत होते। अपने उदाहरण दे दे कर मैं उसे अपने अनुकूल न कर पाती। यहां तक कि कभी किसी वाद-विवाद में वह मुझ से हार मानना नहीं चाहती थी, चाहे उसका लक्ष्य और उद्देश्य बिल्कुल ही तथ्य से पिछड़ा हुआ ही क्यों न होता।

और यह संघर्ष तभी होता, जब स्त्री-पुरुष की मनःस्थिति के विषय में बातचीत होती। जाने क्यों लीला के भीतर की नारी पुरुष से किसी भी कीमत में हार खाने वाली नहीं थी, लीला का कहना था कि पुरुष के अभिमान को जीत लेने में स्त्री की सफलता है। इस विषय को ले कर उसने अपने बचपन की अनेक घटनायें मुझे सुनाई थीं। और जब उन घटनाओं को सुन कर मैं उसके हठीले पन से परिचित हुई तो एक और आशंका ने मुझे आ घेरा।

मैं अक्सर देखा करती थी कि लीला का पति उसकी इच्छाओं का हमेशा साथ देता आ रहा है। कहीं कोई मनमुटाव वाली बात नहीं हो पाती। उसका शील-स्वभाव और विनिमय देख कर मुझे लगता, जैसे वह

लीला की प्रवृत्ति से खूब परिचित है और उसकी किसी उचित-अनुचित की वह कभी अवहेलना नहीं करता। पर दूसरे ही क्षण मुझे लगता जैसे स्नेह और प्रेम के आवरण के नीचे उसकी विवशता छिपी हुई है, और कभी वह विवशता आवरण फेंक देने की धृष्टता कर बैठी तो? तो लीला... .. .. लीला का क्या होगा? वह सोच, उसका परिणाम मेरी आँखों के सामने घूम जाता और मैं निश्चय करती कि लीला को मुझे समझाना चाहिये।

जब तक आदमी सतर्क नहीं होता तब तक गलत और ठीक बातों की तह तक नही पहुंचता। यही मैं देख रही थी। लीला का पति जैसे कुछ लीला से खिचा खिचा सा रहता है। बात यह नहीं थी कि लीला का वह ख्याल नहीं रखता था। पर यह स्पष्ट था कि उन दोनों के बीच कुछ ऐसा जरूर था, जो समय-असमय अवकाश पा कर लीला की भावनाओं को उत्तेजित कर देता था।

रात के सात बजे थे। लीला का बड़ा लड़का कमल मेरे पास आया और आते ही बोला, "अम्मा रो रही हैं।"

"क्यों?"

"बाबू जी नहीं आये," उसने अधीरता से कहा।

"तो क्या हुआ? अभी कुछ देर तो नहीं हुई," यह कहती हुई मैं उठ खड़ी हुई। लीला कमरे में चारपाई पर लेटी थी। मुंह ढांप रखा था। पूछने पर वह बोली:

"कई दिनों से रोज देर से आते हैं। पूछती हूं तो कह देते हैं काम बहुत है," कहते कहते वह सिसकने लगी।

"पगली कहीं की! आदमी को हजार काम होते हैं। देर-सबेर तो होती ही रही है। घबराने की क्या बात है?"

"नहीं, वह मुझ से खिचे खिचे रहते है। इसी से तो जानबूझ कर देरी से आते हैं।"

लेकिन मुझे लीला की बात पर विश्वास नहीं हुआ। मैं जानती थी सच बात कुछ और है। फिर भी आश्वासन देने के लिये मैंने कहा, "उठो, मुंह हाथ धो लो—बच्चे भी उदास हैं, इन्हें खिला-पिला दो, तब तक वह भी आ जायेंगे।"

लेकिन लीला नहीं उठी। खाना बना पड़ा था। मैंने उसके बच्चों को खिलाया-पिलाया। तब तक साढ़े आठ बज चुके थे और बच्चे अपने अपने बिस्तर में लेट गये थे।

उधर लीला की बैचेनी बढ़ती जा रही थी। वह कभी खिड़की में जा खड़ी होती और कभी चारपाई पर आ कर लेट जाती। मेरी

उपस्थिति भी उसे नागवार लग रही थी। इसी से बोली, "जाओ, तुम आराम करो। मैं अकेली ठीक हूं।" उसके आदेश ने मुझे कचोटा और मैं क्षण भर उसे ताकती रही। फिर अपने कमरे में आ गई। लेकिन नींद मुझे भी नहीं आई।

साढ़े दस बजे होंगे। लीला के दरवाजे पर खटका हुआ। एक बार नहीं अनेक बार। लीला दरवाजा खोलती क्यों नहीं, मैं ने मन ही मन में कहा। क्या वह सो गई? यह देखने को मैं ने अपनी खिड़की में से झांका। लीला के कमरे में रोशनी नहीं थी। मगर यह कैसे हो सकता है? वह सो कैसे गई? अभी तक तो प्रतीक्षा न करती रही है!

जब दरवाजा नहीं खुला, तो मैं ने उठ कर उसके पति के लिये दरवाजा खोला और मेरे कमरे में से गुजर कर वह अपने घर गये। उसी समय मैंने देखा कि लीला अपनी चारपाई पर कम्बल ओढ़े पड़ी थी।

दरवाजा बन्द कर के जब मैं अपने कमरे में आई तो लीला की परिस्थिति और उसकी आदत पर चिढ़ सी होने लगी। लीला सो नहीं रही थी, सोने का बहाना किये थी यह मैं जानती थी।

लीला इस तरह का व्यवहार क्यों करती है? अकसर मैं इस पर सोचा करती। परन्तु एक दिन इसका संकेत मुझे इस तरह से मिला:

शाम का समय था। लीला के पति दफ्तर से आ गए थे कि लीला मेरे पास आई और जल्दी से बोली:

"तैयार हो जाओ। तुम्हें हमारे यहां चाय पीनी है। उनके कुछ मित्र आने वाले हैं।"

"लेकिन मेरा जाना कोई ज़रूरी है?" मैं ने उसके उत्साह को कम करने के विचार से कहा।"

"तुम नहीं आती, तुम्हारी इच्छा। पर तुम आ जाती तो बातचीत करने में मुझे सहारा मिल जाता...।" यह कहते कहते वह चली गई।

उसके बाद मैं कई क्षण सोचती रही। जब मैं उसके यहां पहुंची तो देखा वह रसोई में है और उसके पति के पास एक महिला बैठी है। मैं ने लीला से रसोई का काम स्वयं करने के लिये आग्रह किया और बहुत कहा कि उसे वहीं जा कर बैठना चाहिए। मगर मेरी बात को टाल कर वह कहती, "लो, यह प्लेट वहां जा कर रख आओ। चाय भी लगा दो। तब तक मैं भी आ जाऊंगी।"

चाय हम लोगों ने पीनी शुरू भी कर दी। इस बीच भी मैं देखती रही जैसे लीला हम लोगों के बीच बैठने में आनाकानी कर रही है, और इसी लिये जाने-अनजाने वह वहां से इधर—उधर को उठ जाती। और जब वह

बैठती भी तो उसके व्यवहार व बातचीत में अस्वाभाविकता सी दिखाई देती। यह केवल मैं ही अनुभव नहीं कर रही थी, बल्कि लीला के पति भी अनुभव कर रहे थे। तभी वह लीला के उठ जाने पर कुछ अस्वस्थ से हो उठते थे। उन लोगों के चले जाने पर लीला ने एक लम्बी-गहरी सांस ली, ऐसी सांस, जिसमें भीतर की घुटन को बाहर फैंका जाता है।

मन से लीला कुछ अस्वस्थ सी रहती है यह मैं जानती थी। मगर क्यों? यह पूछने पर भी मुझे मालूम नहीं हुआ। उसका अपने पति के प्रति अगाध प्रेम था यह भी मैं देख चुकी थी। लेकिन फिर भी उन दोनों के मनों में कोई कांटा है यह भी स्पष्ट था।

"लीला, क्या बात है? इस तरह से तुम अपने से भयभीत सी क्यों रहती हो?" मैं ने अत्यन्त आत्मीयता से पूछा। वह कई क्षणों तक मुझे ताकती रही। उसकी दृष्टि में मेरे प्रति विश्वास भर उठा। मेरे कन्धे पर सिर रख कर वह बोली, "क्या बताऊं, कुसुम, मैं अपने आप पर अविश्वास करने लगी हूं। उनका दोष कितना है मैं नहीं जानती, पर मुझे उनके व्यवहार से लगता है जैसे वह मुझ से दूर हुए जा रहे हैं।"

"कारण तुम्हारे सामने नहीं, तो शंका की बात ही क्या है?"

"तुम नहीं जानती। कारण न जानते हुए भी क्या आदमी उसके प्रभाव से बचा नहीं रह सकता है? मैं जानती हूं वह उनके साथ काम करती है। इस से बोलचाल होना भी आवश्यक है, लेकिन..." कहते कहते वह चुप हो गई।

"लेकिन क्या?"

"मालूम नहीं मुझे उस से क्यों डर होने लगा है? कहीं वह मेरे अधिकार को जीत न ले। मैं अक्सर यही सोचती हूं।"

"ऐसा सोचना मूर्खता है, लीला! केवल एक भ्रम के सहारे तुम्हें ऐसा सोचना भी नहीं चाहिये। प्रताप भाई को मैं जानती हूं। उन जैसा सीधा-सादा आदमी ऐसा नहीं कर सकता। बेबात ओर-छोर पकड़ने की चेष्टा तुम्हें नहीं करनी चाहिये।"

लीला मेरी बात को सुन कर उठ खड़ी हुई। बोली, "अच्छा तुम कुछ सोच मत करना। सच में यह मेरी आशंका ही है और मैं इस आशंका को दूर करूंगी।"

लीला ने जो कहा उस से मुझे सान्तवना नहीं मिली। स्वयं को पीछे खींच लेने के आशय से वह मुझे ही आश्वस्त करना चाह रही है, ऐसा मुझे अनुभव हुआ।

इसके बाद उस ने मुझे कुछ नहीं बताया। पर मैं देखती लीला

छिपी-छिपी प्रताप की गतिविधि का निरीक्षण किया करती है, जैसे उसके दफ्तर से लौट आने पर उसके कोट की जेबों की तलाशी लेना, कपड़ों को बार बार सूंघना, उसके लौटने के समय बार बार घड़ी को देखना। दफ्तर जाते समय पूछना। कहीं जाते समय बार-बार अर्थपूर्ण दृष्टि से देखना। जब तक वह आंखों से ओझल न हो जाता तब तक खिड़की में खड़े रहना।

लेकिन इसके अतिरिक्त मुझे एक और नई बात सुनने को मिली: लीला पति को सुबह खिला-पिला कर भेजने की अपेक्षा अब उसके दफ्तर में खाना भेजने लगी थी। खाना ले कर नौकर ही जाता था। जब वह लौटता तो उस से पूछती, "खाना खिला कर क्यों नहीं आये? अकेले थे या कोई और भी? खाना कम हो जाता होगा। अजीब आदमी हैं! जबरदस्ती ही दूसरे को साथ खिलाने लग जाते हैं।" और यह पूछताछ कर लेने के बाद वह नौकर से धीरे से कुछ और भी पूछती, जो मैं सुन ही न सकती थी। फिर भी उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं था। संदेह की ठोकर खाएगी क्या यह?

अन्त में यही हुआ। लीला का पति अक्सर रात पड़े घर लौटता। कभी खाना खा कर आता और कभी खाये बिना ही सो जाता। लीला उसे मनाने की कभी कोशिश भी न करती।

प्रतिकार की भावनाएं उसके भीतर पनपती जा रही थीं, और उन्हें उखाड़ फेंकने का अवसर भी प्रताप उसे नहीं दे रहा था। लीला के भीतर को न समझ वह उसके बाहरी व्यवहार से क्षुब्ध हो उठा था। निरर्थक संदेह उन दोनों को एक-दूसरे से दूर करता जा रहा था यह मैं जानती थी। फिर भी लीला नहीं चाहती थी कि उन दोनों की शंकाएं कोई तीसरा आ कर दूर करे।

आखिर एक दिन वही हुआ जिसकी मुझे आशंका थी। लीला के पति ने अपनी बदली किसी दूसरे शहर में करवा ली। लीला ने उसका विरोध नहीं किया। साथ जाने की इच्छा भी प्रकट नहीं की। लेकिन प्रताप के चले आने के बाद लीला जैसे अपने में नहीं रही। उसका चेहरा मुरझा कर पीला पड़ गया। आंखों की चंचलता उदासी और निराशा में बदल गई। गहरा-गम्भीर स्वर और बात-बेबात में चौंक उठना। सुनी हुई बात को एकाएक भूल जाना। प्रकट था कि आशंका उसे सोखे जा रही थी।

वह मेरे पास बहुत कम बैठती। घण्टों अपने कमरे में लेटी रहती और बुदबुदाती, "वह चले गये। वह शायद नहीं आयेंगे। मैंने उनका क्या बिगाड़ा है?" और जब मैं उससे उसके पास जाने को कहती तो जवाब

देती, "बिन बुलाये कैसे चली जाऊं ? वह अपने को बहुत समझते हैं। एक दिन भी तो नहीं कहा।"

"क्या नहीं कहा ?"

"कुछ भी तो। कुसुम, उनके मन में कोई बात नहीं थी तो इस तरह उन्होंने व्यवहार ही क्यों किया ?"

"इसकी जिम्मेदार तुम हो। तुम चाहती तो उन्हें रोक सकती थी।"

"मैं चाहती ही क्यों ? क्या तुम समझती हो कि उन्हें अपना बनाए रखने के लिये मुझे उनसे निवेदन करना होगा ? बिना मूल के ब्याज नहीं बढ़ता, कुसुम। तुम इतनी भोली नहीं हो, जो यह छोटी सी बात भी न समझ सकी।"

"लेकिन इसके लिये तुम्हें उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिये था। आदमी स्नेह से निकट आता है। धिक्कारने से तो वह दूर ही होता है।"

"वह इसलिये कि स्नेह हमें ही देना है ! उन्हें केवल लेने से काम है ! तुम्हारे सुझाव मेरे किसी काम के नहीं, कुसुम ! व्यर्थ में मगजपच्ची क्यों करती हो ?"

सुन कर मैं चुप हो जाती। जवाब ही क्या देती ? एक दिन उसने मुझ से कहा, "कुसुम, देखो सूरज किस शान से निकल रहा है ?"

"हां," मैंने फूटती किरणों को देखते हुए कहा।

"और तुम जानती हो, इसी शान से वह डूबता भी है।" कहते कहते वह जोर से हंस पड़ी।"

उसकी हंसी से मैं कांप उठी। कहीं इसका दिमाग तो खराब नहीं हो गया ! तभी उसने मेरे हाथ को पकड़ते हुए कहा :

"बहन, तुम कितनी अच्छी हो ! कुछ भी हो, मेरा साथ तो देती हो। तुम भी क्या कहती होगी ! बच्चों की देखरेख अब बहुत-कुछ तुम्हें जो करनी पड़ी है।"

मैंने कहना चाहा, 'कोई बात नहीं।' पर तभी उसके गरम आंसू मेरी हथेली पर आ गिरे।

कुछ दिन यों ही निकल गये। कोई विशेष बात नहीं हुई। एक शाम, जो रोज की अपेक्षा अधिक गहरी और उदास थी, उसका छोटा लड़का कपिल मेरे पास आया और बोला कि मां बुलाती हैं।

मैं जल्दी से लीला के पास पहुंची। वह तकिये के सहारे लेटी हुई थी और जान पड़ता था जैसे उसकी आंखें खूब धुली हुई थीं। मुझे देखते ही वह हंस कर बोली :

"एक खुशखबरी सुनाऊं ?"

"सुनाओ !"

"पहले वादा करो कि किसी दूसरे को बताओगी नहीं ।"

"नहीं बताऊंगी ।"

"मनोरमा की भी बदली हो गई है । उनके दफ्तर का चपरासी कल यहां आया था । कुछ जरूरी कागज यहां रखे थे ।"

"अच्छा !" मैं ने धीरे से कहा ।

"अब तो मुझे जाना ही होगा । अपनी उपेक्षा बहुत करवा चुकी हूं ।"

"मैंने तो पहले ही कहा था । मकान तो उनके पास है ही । लेकिन अकेली जाओगी क्या ?"

"नहीं, वह लेने आयेंगे । चिट्ठी उन्हें लिख दी है ।"

"अच्छी बात है । तब तुम्हें और क्या चाहिये ?" यह कहते कहते मैं ज्यों ही लौटने को हुई कि वह जल्दी से बोली, "अरे, सुनो तो, कपिल और कमल को आज अपने पास सुला लो न ।"

कपिल मेरा हाथ पकड़ते हुये बोला, "मौसी, मैं तुम्हारे पास सोऊंगा । मां तो कहानी नहीं सुनाती ।"

मैं बोली—"कपिल को मैं सुला लूंगी । पर कमल यहीं सोयेगा ।"

"अरे, ले जाओ न इसे भी । फिर कब तुम्हारे पास सोयेंगे ? कल तक तो इनके बाबू जी भी आ जायेंगे लेने को ।"

उसके आदेश और आग्रह को मैं टाल नहीं सकी । बच्चे मेरे साथ खूब हिलमिल गये थे, और उन्हें भी मेरे पास सोने की प्रसन्नता थी । मैं उन दोनों को साथ ले कर अपने कमरे में आ गई ।

दूसरी सुबह, सवेरे ही सवेरे दरवाजा जोर से खटका । जब तक मैं उठूं कि मेरे पति दरवाजा खोलने चले गये । फिर जल्दी से लौट कर उन्हों ने कहा, "नारायण खड़ा है; पूछ रहा है बीबी जी घर पर नहीं हैं क्या ।"

"क्या बीबी जी घर पर नहीं हैं ?"

"नहीं," जवाब नारायण ने दिया ।

सुन कर जैसे मुझे सांप सूंघ गया । बच्चों को रात को मेरे पास भेज देना.........अब मेरी समझ में आ चुका था । मेरी आंखों की सारी रोशनी जैसे किसी ने खींच ली हो । मेरे चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा था ।

"तुम्हें कुछ नही मालूम ?" उन्होंने मेरा कन्धा झिझोड़ते हुए पूछा ।

"नहीं, कुछ भी तो नहीं," मैंने किसी तरह से कहा ।

और तब एक-एक स्थान पर लीला के सम्बन्धी व परिचित सब से पूछ-ताछ की। कुछ पता नहीं लगा।

लीला के कमरे पर ताला लगा था और उसकी चाबी उसकी चौखठ पर पड़ी थी। कहां देखें कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

शाम को उसके पति प्रताप भी वहां आ पहुंचे। उनके चेहरे पर हवाईयां उड़ रही थीं। इन लोगों को चुपचाप खड़े देख कर बोले, "क्यों, लीला नहीं है क्या ?"

"नहीं," मैंने मुंह फेरे फेरे कहा।

"लेकिन आप कैसे आ पहुंचे ?" मेरे पति ने उन से पूछा।

"लीला की चिट्ठी मिली थी।" यह कहते हुए उन्होंने वह चिट्ठी सामने खोल कर रख दी। फिर सिर पर हाथ रखे बोले, "मनोरमा की तो शादी होने वाली है, इसी से वह अपने पिता के पास चली गई थी। उसके घर-वाले तो देहरादून में रहते हैं।"

"तो क्या मनोरमा कानपुर नहीं गई ?"

"नहीं।"

"ओफ् !"

उनके मुंह से एक निःश्वास निकला। वह बोले, "चपरासी ने गलत खबर दी है।"

और उस रात बच्चों के कपड़े-लत्ते संभालते हुए प्रताप बाबू रोये जा रहे थे। कभी वह कपड़ों को बकस में रखते और दूसरे ही क्षण सोये हुए बच्चों को देखते। सारी रात इधर से उधर चक्कर लगाते रहे। उनको दशा उस आदमी की तरह हो रही थी जो अपने हाथ को ढीला छोड़ कर पहले तो पक्षी को उड़ जाने की अनुमति दे देता है, फिर पश्चात्ताप करता है।

सुबह तांगे पर दोनों बच्चे बैठे थे। सामान रखा जा चुका था। मैं चुपचाप उनके जाने को देख रही थी। तागा जब चल पड़ा, तो छोटा बच्चा कपिल बोल उठा, "मौसी, मां जब आये तो उसे हमारे पास भेज देना।"

सुनते ही मेरी रुकी हुई व्यथा उमड़ पड़ी। लीला के पति की अश्रु-पूर्ण आंखें और कमल का मूक प्रश्न रह-रह कर मुझे व्यथित करता रहा।

जब तांगा आंखों से ओझल हो गया तो मैं छत पर जा कर लीला के कमरे की ओर देखने लगी।

और आज...आज भी बड़ी देर तक मैं उस बन्द कमरे की ओर झांकती रही, इस अनुभूति से कि शायद इसे खोलने वाला आ रहा है।

●●●

शिवानी

श्रीमती गौरा पंत शांति-निकेतन में ९-१० वर्ष शिक्षा प्राप्त कर चुकी हैं और बंगला साहित्य का विशेष अध्ययन आप ने किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रोत्साहन ने ही आप को साहित्य-रचना की प्रेरणा दी और 'शिवानी' नाम से आप की अनेक रचनाएं 'धर्मयुग' आदि पत्रों में प्रकाशित हो चुकी हैं, तथा कुछ व्यंग्य नाटिकाएं व कहानियां आकाशवाणी से प्रसारित भी हुई हैं। बचपन गुजरात में बीतने के कारण आप का गुजराती साहित्य का ज्ञान भी अच्छा है। कुछ दिन हुए आप ने एक उपन्यास लिख कर समाप्त किया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

शांति-निकेतन के माध्यम से कलकत्ता विश्व-विद्यालय से शिवानी बहन ने प्रथम श्रेणी में बी० ए० की उपाधि ली। एक सुसंस्कृत विदुषी महिला के रूप में शिवानी अपने जीवन के बत्तीस सार्थक वर्ष पार कर चुकी हैं। आपके पति श्री एस० डी० पंत नैनीताल में सरकारी अफ़सर हैं।

'रोमांस' शीर्षक प्रस्तुत कहानी एक सत्य घटना पर आधारित है, लेकिन अब क्योंकि न वह दरजी रहा, न वह लड़की, इसलिए शिवानी की कला का निखार पा कर यह पाठकों के सामने आ रही है। रोमांस नवयुवकों व नवयुवतियों के मनोविज्ञान का वह स्वर्ग है, जिस में वे बिना पंख के भी उड़ते हैं, चहचहाते हैं और दूरदराज़ परवाज़ करते हैं। इसी रोमांस का संकेत दे कर शिवानी की कहानी यथार्थ के ठोस धरातल पर आगे बढ़ती है। अनेक विरोधाभासों से टकराता हुआ भी रोमांस फलीभूत होता चलता है।

इस शानदार कहानी में शिवानी का कमाल है मुस्लिम वातावरण से पूर्ण परिचित होने में और उस को यथारूप चित्रित कर देने में। कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि यह घटना या वह घटना अस्वाभाविक है अथवा इस का एक भी शब्द व्यर्थ है, या फिर अमुक बात ऐसे नहीं हुई होगी। फिर भी कहानी सहज-स्वाभाविक गति से उठती है, संघर्ष की हल्की हल्की पेंगें लेती हुई तीव्रता की ओर बढ़ती है और संघर्ष का एक कठोर झटका खा कर सही चरम-सीमा पर समाप्त होती है। कहानी का गठन सरल है, किंतु सुसंबद्ध है, और लेखिका की वर्णन-शैली एकदम विषय के अनुकूल है—जो अत्यंत सुन्दर बन पड़ी है।

—*'शिवानी', द्वारा श्री एस० डी० पंत, प्रायोरी लौज, नैनीताल।*

● रोमांस

रहमान भाई फरजाना के आदर्श थे, जिन्हें वह मन-ही-मन पूजती थी। वह उन्हीं के साथ खेली-कूदी और पली थी। रहमान होने को तो उसके चचाजाद भाई थे, पर शकल-सूरत, नाक-नक्श में दोनों जुड़वां भाई-बहन लगते थे। रहमान भाई पढ़ते तो एफ़० ए० में थे, पर फर्राटे से अंग्रेजी बोलते थे और दोनों हाथ बाँध कर साइकिल चला लेते थे। हर सिनेमा के गाने उन्हें याद थे। नाक दबा कर गाने के साथ वह बाजे की नकल भी कर लेते थे। घर में बस फरजाना को ही पता था कि उनकी सिराजुद्दीन की बेटी नजमा से बहुत दोस्ती थी और वह छिप छिप कर उसे पतंग के रंगीन कागजों पर शेर लिख कर भेजा करते थे। पर वह जानती थी कि रहमान भाई की शादी काल्लू बूचड़ की बदसूरत बेटी नौशाबा से तय हो चुकी है और लाख सिर पटकने पर भी वह नजमा को नहीं पा सकते।

एक दिन जब रहमान भाई साहब उदास हो कर कमरे में आये और हाथ की टोपी दूर फेंक, धप से कुरसी पर बैठ गए, तो फरजाना दौड़ कर उनके जूते उतारने लगी। एक गहरी-लंबी सांस खींच कर वह बोले, "फरजाना, मेरा रोमान्स खतम हो गया।"

अपनी बड़ी बड़ी शरबती आंखों की लंबी-रेशमी पलकें उठा कर वह बोली—"क्या खतम हो गया, भाई साहब ?"

अपनी अपढ़, भोली बहन के अंग्रेज़ी ज्ञानाभाव पर एक फीकी, ज़ख्मी हंसी हंस कर वह बोले—"पगली कहीं की! रोमान्स—यानी बहुत कुछ मुहब्बत से मिलता-जुलता, पर बहुत ऊंचा, बहुत खूबसूरत—ओफ्!" कह कर रोमान्स की महत्ता बतलाने को शून्य में फैलाये दोनों हाथ उसने बड़े दुःख से फिर कुरसी पर पटक दिये और बोला—"नजमा की शादी है, बिन्नो...मुन्शी जी के भानजे से—बहेड़ी की चीनी मिल में काम करता है।"

फरजाना की आंखें भर आईं। भाई के ग़म ने उसकी शाम ग़मगीन कर दी। पर अंग्रेजी का वह नया 'रोमान्स' उसे बड़ा मीठा लगा। 'रोमान्स', इस शब्द को वह अकेले कमरे में मन-ही-मन दोहराती गई, जैसे केवड़े में तर मुलायम डबलरोटी का बालाई लगा शाही टुकड़ा हो।

जब उसी चैत में उसका ब्याह हुआ, तो उसे बिन मांगे 'रोमान्स' मिल गया। पहले उसके लिए कई जगह से रिश्ते आये, पर अब्बा ने सब

लौटा दिये। गांव में वह लड़की नहीं देगा। कितने लाड़ और दुलार में वह पली थी! बिना मां की होने पर भी वह हमेशा बनी-संवरी रहती। यह सच था कि वह एक दरजी की बेटी थी। पर करीम ऐसा-वैसा दरजी न था। उसकी दूकान पर चमकते नीले बोर्ड पर अंग्रेजी में लिखा रहता 'करीम ड्रेस मेकर्स'। तरह तरह के लेडीज़ कोट, स्कर्ट और किश्तीनुमा गले के ब्लाउज टंगे रहते। कई छोटे-मोटे दरजी और छोकरे काम करते। कोने में बड़ा सा शीशा लगा रहता और तख्त पर कई अंग्रेजी फ़ैशन की किताबें पड़ी रहतीं। कालिज की लड़कियां सलवार सिलवाने वहीं आतीं। उनका कहना था कि करीम के से खूबसूरत पैंचे और कोई नहीं बना सकता।

फरजाना ने कभी सूती कपड़ा नहीं पहना। कोई भी नया कपड़ा बाजार में दीखता, उसी की कमीज़ फरजाना के लिए सिल जाती। 'ईचकदाना, बीचकदाना', 'सुरैया', 'दिलपसंद', खुदा जाने क्या क्या अजीब नामों के कपड़े होते, पर सब फरजाना पहचान लेती। जब तक 'डीवन' के लट्ठे की सलवार न हो फरजाना को चैन न पड़ता। और फरजाना भी क्या थी, बस चांद का टुकड़ा थी! चमकती बिजली का सा रंग, नीली आंखें, जो सूरज की हर किरन के साथ रंग बदलती थीं और पके पहाड़ी लाल आलूबुखारे से होंठ। उसकी रगों में ईरान का खून था। पड़ोस के मुहल्ले की औरतों से उसने सुना था कि उसकी मां ईरान की थी। एक बार सरोते-कैंची, उस्तरा, मूंगे बेचती मुहल्ले में आई। कैंची खरीदते समय करीम उस पर रीझ गया और जब उसके साथी बिलोची सब चले गये तो वह वहीं रह गई। फरजाना के प्रसव के समय ही वह चल बसी। करीम ने फिर घर नहीं बसाया। लड़की को वह आँखों में रख कर पालने लगा।

कहते हैं कि खुबानी पकने में और लड़की बड़ी होने में देर नहीं लगती। चौदह बरस की फरजाना अपने चौदह सालों को ले कर बहुत छोटी लगती थी। एक बार अलीगढ़ से एक रिश्ता आया। लड़का पढ़ा-लिखा था, जूतों की बहुत बड़ी दूकान थी, अपनी हवेली थी, घर में मां नहीं थी; बाप था, दो भाई और दो बहनें थीं। बड़ा भाई और भावज पाकिस्तान में थे। बहनें पढ़ती थीं। करीम किसी बहाने अलीगढ़ जा कर लड़का देख आया। आलीशान हवेली थी। लड़का क्या था मोम का पुतला था। बोलता तो फूल बिखेरता था। बीस-बाईस साल का गबरू जवान। करीम ने बड़ी धूम-धाम से शादी की। दिल खोल के दिया। कई रेशमी जोड़े दिये। कुन्दन लगे गहने, चांदी के बरतन और चांदी के पायों का पलंग। मुरादाबाद से वह आतिशबाज़ी मंगवाई कि उड़ती तो सांस रोक कर लोग

देखने लगते । कभी आसमान में फट कर शाह और बेगम की तस्वीर बन जाती, कभी रंगीन सितारे बिखर जाते । अनार की रंगीन फुहारें आसमान के तारों को फीका कर देतीं । बारातियों की वह खातिर की कि समधी मियां मारे खुशी के रो पड़े । गले लग कर बोले—"भाईजान, तुमने मुझे जीत लिया । मैं तुम्हारे पैरों की जूती का मैल हूं । यकीन मानो, आज तक मेरी दो बेटियां थीं—आज से तीन हैं ।"

लाल पोत के जोड़े में लिपटी फरजाना ससुराल पहुंची तो हवेली का नामोनिशान भी न था । एक तंग, छोटी सी गली में आ कर तांगा रुक गया । काठ की टेढ़ी-मेढ़ी सीढ़ियों को पार कर वह जिस कमरे में पहुँची उसमें भीगे कुत्ते की सी बदबू आ रही थी । सड़ांध और सीलन से उसका दम घुट गया । कमरे में औरतों की भीड़ थी । हर औरत भीड़ को ठेल कर उसका मुंह देखना चाहती थी । पर मुंह देखने से भी पहले उनकी आंखें गहनों पर गड़ी जा रही थीं । हाथों ही हाथों मे गले की पचलड़ी को तोला जा रहा था । कोई असली सोने की तारीफ कर रही थी, कोई रामपुर के सुनारों की । "अय बीबी, ज़रा अंगूठी पर बना मोर देखो । दिल कर रहा है सुनार के हाथ चूम लूं ।"—"ज़रा जोड़े का पोत देखो । असली बनारसी ज़री है ।" गहनों की चमक-दमक में बहू का मुंह देखने की किसी को सुध न थी ।

आखिर भीड़ कम हुई । कमरे की एक मात्र खिड़की, जो अब तक औरतों से ढकी थी, खुल गई और हवा का ताज़ा झोंका कमरे में आया । बड़ी ननंद ने फरजाना का घूंघट उठा दिया और दोनों हाथों से ताली बजा कर बोली—"देखो, खाला, बिल्कुल नसीम की तरह लगती है, बिल्कुल नसीम ।"

खाला की एक आंख में मोतिया था, दूसरी कानी । "नसीम कौन है री ?" उसने पूछा ।

"ओफ ओह ! नसीम को भी नहीं जानती ! 'पुकार' की ऐक्ट्रेस नसीम नहीं देखी क्या ?" बड़ी ननंद बोली ।

खाला ने अपनी आंखों को कोसा और बोली—"एक तो मुई फूटी है और दूसरी में है बादल । मेरे कहाँ ऐसे भाग कि बहू का मुंह देखूं । खैर, खुदा खुश रक्खे ।"

रात को फरजाना को एक कमरे में धकेल कर ननंदें चली गईं । थक कर फरजाना नींद से ढुलकी जा रही थी । न जाने कब आंखें लग गईं ? कहीं से चमेली के ताजा फूलों की खुशबू पा वह हड़बड़ा कर उठ बैठी । यह तो उसके मायके की खुशबू थी । उसके आंगन में लगी चमेना

ऐसी ही खुशबू से उसका कमरा तर कर देती थी। चौंक कर उठने लगी, तो गोटा किनारी लगा रेशमी दुपट्टा छाती से खिसक कर नीचे गिर पड़ा। उसने देखा हाथ में चमेली का तोड़ा लिये एक खूबसूरत जवान उसके सिरहाने खड़ा है। वह चीखने ही को थी कि समझ कर संभल गई।

अफजल उसे देखता ही रहा। कितनी खूबसूरत, कितनी नाजुक और कितनी कमसिन थी वह! चमेली की भीगी वह रात दोनों की जिंदगी का एक नया मोड़ थी।

अफजल अब दूकान देर में जाता और जल्दी लौटता। अपनी पंद्रह वर्ष की बीबी उसके लिये एक नया खिलौना सी बन गई। नित्य प्रेम के नए नाटक होते, रेशमी रूमाल में गुलाबजल में तर गन्ने की गंडेरियां आतीं। कभी मिट्टी के दोये में बर्फ से ठण्डी कुलफी। बहनों की नजर बचा कर वह दबे पैरों अपने कमरे में छिपा कर रख देता और फरजाना के आने की इन्तजार करता। कभी कभी तो फरजाना के आने में बड़ी देर हो जाती और कुल्फी गल कर निरा दूध रह जाती।

धीरे धीरे खाने की चीजें आनी बन्द हो गईं। अब आने लगा पाउडर, लिपस्टिक और रूज। अफजल अपने हाथों से नई-छबीली दुल्हन का सिंगार करता। फिर एकटक उसे देख कर कहता—"सच कहता हूं, अगर तुम सिनेमा में होती तो तुम्हारे लिए खून हो जाते।"

"छि: छि:! क्या बकते हैं आप भी!" कह कर फरजाना अनाड़ी हाथों से लगा लिपस्टिक व रूज रंजित चांद सा मुखड़ा पति की रोंयेदार छाती में छिपा लेती और उसे लगता कि जिस रोमांस के लिए रहमान भैया सिर पटकते रहे, वह अपने आप उसके हाथों में आ गया है।

अफजल के जाने का समय होता, तो वह कटोरदान में खाना सजा कर रख देती। कभी कबाब-रोटी, कभी कीमा भरे शाही परांठे, कभी अंडे का हलवा। पांच पांच गज के गरारे फर्र—फर्र फहराती दोनों ननदें स्कूल चली जातीं और अफजल अपने बाप के साथ दूकान पर, तो वह बदबूदार अंधेरे कमरे में अकेली रह जाती। पर टिक टिक करती घड़ी उसे दिलासा दे कर मानो गले से लगा लेती। पांच बजते ही तो अफज़ल आ जायगा और उसकी सारी मनहूसियत पंख लगा कर उड़ जायेगी। उसके जी में आता कभी अफजल से पूछे कि हमारी हवेली क्या हुई। शायद पूरी न बनी हो, इसी से इस मकान में रहते हों। पर उसके आते ही वह प्यार और दुलार की दुनिया में डूब जाती। जब उठती तो बदबूदार सीलन भरे कमरे में फिर अपने को अकेला पाती।

रामपुर से अब्बा के कई खत आये थे। क्या ईद पर भी बेटी नहीं

आयेगी ? अफजल ने दिलासा दिया कि वह ले चलेगा, और एक दिन बड़ी खुशी–खुशी फरजाना ने सामान बांधा, ननंदों से गले मिल कर रोई। आंखों से रोती और दिल से हंसती, वह चादर लगे इक्के में अफजल के साथ बैठ कर मायके चली गई। ट्रेन का वह सफर कितना रंगीन था! गाड़ी चलते ही वह बुरका उठा-उठा कर, अफजल से हंस–हंस कर बातें करती। कभी स्टेशन पर बिकते छोले, दही–बड़े खाने को बच्ची सी मचल पड़ती। उसे मायके छोड़ कर जब अफजल चलने लगा, तो वह रो पड़ी। बेटी का सूखा–रुँआ सा मुँह देख कर करीम को बड़ी तसल्ली हुई। चलो, बेटी खुश तो है। नहीं तो क्या मायके में रह कर ससुराल को तरसती ?

बिदा कराने ससुर आये। करीम ने समधी को नया जोड़ा दिया। दामाद को मछली और चमेली की बेल बने मलमल के कुरते सिला दिये। बड़े बड़े मटकों में बूंदी के लड्डू भर कर साथ में रखवाये और जाने लगा तो हाथ बांध कर खड़ा हो गया; बोला—"आप की बहू अब हवेली में रहने की आदी हो गई है। उसे मेरी झोंपड़ी अब क्या अच्छी लगेगी!" ससुर मियां सूखी हंसी हंसे। मन–ही–मन सोचा, बहू समझदार है, बाप से कुछ नहीं कहा होगा। पर कहीं ताना तो नहीं कसा ? पर गौर से देखा, करीम की आंखों में खुशी के आंसू थे। सीधी–सादी आंखों में इस्लाम का ईमान था। समधी मियां मन–ही–मन कट गये। जी में आया सच–सच कह दें कि हवेली का तो बहाना था। मैं आप से झूठ बोला था। पर उस ने अपने को सम्हाल लिया। सोचा, इन्शाअल्ला कभी हवेली खड़ी कर लूंगा, तब अपना दिल खोल कर रख दूंगा।

फरजाना के दिल में ससुराल जाने की गुदगुदी थी। थोड़े से दिनों के बिछोह ने उसे अफजल के और भी नजदीक ला दिया था। मायके में रह कर गालों की जर्दी चली गई थी। चलते वक्त बाप ने नई सलवार और कुरता दिया था और एक बहुत ही खूबसूरत बुर्का—हल्के इलायची रंग का असली टैफेटा। उस में बड़ी मेहनत से उस ने छोटी–छोटी बारीक पलेटें डाल दी थीं। बीच–बीच में साढ़े तीन रुपये गज की फ्रेंच लेस लगी थी। आंखों की जगह पर वह बारीक जाली थी कि पहनने वाली सब देख ले और बाहर वाले को आंखों का सुरमा भी न दीखे। उसे 'शमातुलम्बर' की मस्त खुशबू से तर कर फरजाना ने बक्स की तह में छिपा कर रख दिया, जिस से ननंदें न मांग बैठें। कभी वह अकेले में पीछे से बुर्का पहन कर अफजल की आंखें बंद कर लेगी। वह आंखें खोल कर देखेगा। नये इलायची रंग के बुर्के में कौन खड़ी है!

पर जब वह घर पहुंची तो अफजल नहीं था। जब आया तो बड़ी

देर तक बहनों से कोट-पीस खेलता रहा । फिर आ कर चुपचार लेट गया । फरजाना का दिल धक-धक करने लगा—कहीं नाराज तो नहीं हो गए वह ! बहुत दिन मायके रह आई थी । खैर, वह मना लेगी । घुटने टेक कर वह बैठ गई और बोली—"सिर में दर्द है ? लाईये, दबा दूं ।"

अफजल झल्ला कर बोला—"बत्ती बंद कर दो, मुझे नींद आ रही है ।" फरजाना को लगा कि उस का रोमांस जैसे एक दिन अचानक ही उस की जिंदगी में आ गया था, वैसे ही बिना कुछ कहे हमेशा के लिए उसे छोड़ गया है । वह चुपचाप तकिये में सिर छिपा कर सिसक उठी ।

"खुदा के लिये नींद खराब मत करो," गरज कर अफ़जल बोला ।

सुबह उठ कर वह पहले की तरह कटोरदान में नाश्ता रख गई । फिर पान का बीड़ा लाई । यह सुलह का आखिरी दॉव था । पहले वह खुद अपने हाथों से बीड़ा अफजल के मुंह में कुतरवा देती थी, और बचा टुकड़ा आप खा लेती थी । उसी तरह वह बीड़ा लाई और डरते हाथ में ले कर अफजल की ओर बढ़ी ।

"क्या बदतमीजी हो रही है !" कह कर अफजल बाहर चला गया ।

इस खफगी की क्या वजह हो सकती थी ? सोच सोच कर वह गरीब सूखने लगी । ससुर पाकिस्तान गये थे और ननंदें ननिहाल । अकेली बैठी बैठी वह अपनी बदकिस्मती पर आठ आठ आंसू बहाती ।

अफजल की दूकान से हो कर एक ऐंग्लो-इण्डियन लड़की रोज जाती थी । उसकी टांगें भरी-भरी थीं और वह अजब मस्तानी चाल से सीना निकाल कर चलती थी । कभी-कभी वह दूकान के पास बड़ी देर तक बस की इन्तजार में खड़ी रहती । अफजल बड़े गौर से उसे देखता । उसे अपनी ओर देखते पा कर वह कभी बड़ी अदा से कटे बालों का गुच्छा पीछे फेंकती । कभी स्कर्ट की पेटी कस कर सिगरेटें फूंकने लगती । उस को मोटे-मोटे होठों को फुला फुला कर धुंआ ऊपर की ओर फेंकते देख, अफजल के कलेजे में एक अजब सी गुदगुदी होती । उस की भौंह कटी हुई थीं और पीछे का हिस्सा भारी था । उस की टांगों की गोलाई और चिकनाई में आंखें बरबस फिसल जाती थीं । अपनी भोलीभाली, कमसिन, खूबसूरत और नाजुक बीबी को वह धीरे-धीरे उन्हीं टांगों में भूल चला । एक फरजाना है, वह सोचता, कमर दबाओ तो मुट्ठी में आ जाए, और एक यह है—कैसी खूबसूरत एडी है ! क्या साइज होगा—चार ? काश एक दिन मेरी दूकान में भी आती । काले स्वेड का फ्लैट फुट क्या खूबसूरत लगेगा इन पैरों में !

वह दूकान में एक दिन सैंडिल लेने सचमुच आ ही गई । आई और

फिर आती गई। अफजल उस के बारे में सब जान गया। उस के पैर का साइज चार था और वह टाइपिस्ट थी। अपनी मां के साथ पार्क रोड में रहती थी। अब अफजल बड़ी रात गये लौटता। कभी मिस यंग के साथ वहीं खाना खा लेता।

बेचारी फरजाना आंखों ही आँखों में रात काट लेती। एक दिन उस ने सोचा कि वह अपना खोया रोमांस ढूंढ कर लायेगी। उस की आंखें एक अनोखी सूझ से चमक उठीं। जब अफजल दूकान पर चला जायेगा, तो वह भी थोड़ी देर बाद नया बुर्का ओढ़ कर पहुंच जायेगी। पहुंचने पर कहेगी—"सैंडिल निकालिये।" खरीदने पर जब वह दाम माँगेगा, तो बुर्का उलट देगी। अफजल निहाल हो जायेगा। ऐसा ही मजाक तो पसन्द है उसे। तभी तो बेचारा सूखी जिंदगी से ऊब कर कटा-कटा सा रहने लगा है। वह भी तो कितनी गन्दी बनी रहती है! उस ने अपने हाथ सूंघे। लहसुन-प्याज की अजीब गंध। कपड़ों में कंडे और भीगी लकड़ी की बदबू। बालों में न जाने कब से तेल नहीं पड़ा! न ढंग से कपड़े पहनने को जी करता है, न खाने-पीने को। इधर कई दिन से उसकी तबीयत भी गिरी गिरी रहती है। फूलगोभी को वह हमेशा तरसती थी। अब गोभी का नाम सुन कर ही उबकाई आने लगती। सरसों का तेल जलने लगता, तो वह नाक बन्द कर लेती। फुलके की शकल से घबरा जाती। जी करता कहीं बड़ी-सी रसदार नारंगी मिले, तो चूस ले या नींबू की खट्टी, बर्फ पड़ी शिकंजी। सुबह नहाने लगी, तो उसे लगा जैसे पेट के अन्दर कुछ हिल सा गया। उस ने घबरा कर कपड़े पहने और बिना नहाये ही बाहर आ गई। अफ़ज़ल दाढ़ी बना रहा था। वह बोली—"सुनिये, हाथ लाईये ज़रा।"

"क्यों, क्या है ?" अफजल ने बड़ी बेरुखी से कहा।

"देखिये तो इधर, आप को भी कुछ लगता है ?" कह कर उस ने कमीज उठा कर अपने गोरे मुलायम पेट पर अफजल की हथेली रख दी। पट से फिर कुछ उछला, जैसे पानी में तैरती बत्तख़ फड़फड़ाई हो।

"उंहू्।" लापरवाही से अफजल बोला—"कल तुम्हें अस्पताल ले चलेंगे। वही हुआ जो तुम्हें शक था।"

फरजाना के गाल सुर्ख हो उठे। कुछ ही मिनिटों में उसकी दुनिया की उजड़ी बहार फिर लौट आई। अंधेरा कमरा फिर चमेली की खुशबू से महक उठा और वह अपने आप गुनगुनाने लगी। उस दिन बड़ी तबीयत से मीठा पुलाव बनाया और अफज़ल बिना तारीफ किये ही प्लेट साफ कर गया। पर वह गुनगुनाती रही। एक नन्ही सी जान उसके अन्दर रह-रह कर फड़क रही थी। वह गोल पेंदे की गोटे जड़ी टोपी सियेगी, जो उस ने

नवाब साहब के वलीअहद को सी कर दी थी। पीले रेशम का कुरता बनायेगी और उस पर पांच रुपये तोले का गोटा टांकेगी। अफजल गोदी में ले कर प्यार भरी आंखों से देख कर कहेगा—"बिल्कुल तुम पर गया है!"

उस दिन भी उससे खाया नहीं गया। अचार का बड़ा सा टुकड़ा चाट कर पानी पी लिया। फिर बाल संवारने बैठ गई। चमेली का तेल डाल कर चोटी की। कानों में मछलियां पहनीं। हाथ की चूड़ियां भी बदल दीं। कहीं पहचान न लें। करीम की सिली साढ़े चार गज की चौड़े पैंचों की सलवार पहनी और गुलाबी चिकन का कुरता। उस के कुरते की हर छींट को अफजल पहचानता था। पर गुलाबी चिकन का कुरता बिल्कुल नया था। बुर्का निकाला तो खुशबू कमरे की बदबू से लड़ पड़ी। क्या मदमस्त चीज हैं 'शमातुलम्बर' भी! भला हो उस का—क्या नाम था, हां 'रोमांस'। अब कहां जायगा पठ्ठा! वह बनठन कर खड़ी हुई, तो आइना मुस्करा उठा। उस ने सुरमेदानी उठा कर बड़ी बड़ी आंखों में सुरमे की डोरें डालीं। फिर पड़ौस की मेहरुन के पास गई; बोली—"बहन, थोड़ी देर को अपनी सैंडिल दोगी? मैं ने अपनी न जाने कहां रख दीं। मिल ही नहीं रही हैं।"

मेहरुन बोली—"भई वाह! गजब ढा रही हो! पर मेरे सैंडिल तो बिल्कुल फटीचर हैं। वह तुम्हारे इन कपड़ों पर पैबंद से लगेंगे। कहां जा रही हो आज ज़ालिम बन कर?"

वह शरमा कर बोली—"मेरी खाला आई है। उन्हीं के यहां जा रही हूं मिलने।"

जल्दी जल्दी मांगी सैंडिल पहन, वह घर में ताला मार कर सीढ़ियां उतर गई। एक तांगा किया और बोली "चलो—सदर।" दिल कांप रहा था, पर आंखों में अजब शरारत और चुहल थी। गाल बीर-बहूटी हो रहे थे। लग रहा था अब गिरी अब गिरी। दूकान तो वह पहचानती थी। एक बार जा चुकी थी रोमांस के जमाने में। एक लंबी सांस खींच कर उसने गली पहचान ली। तांगा रुकवा कर उतर गई।

सामने 'हिंद फुट वियर' का बोर्ड लगा था। चादर बिछा कर अफ़ज़ल बैठा था। वही चौड़ा सीना, घुंघराले बाल और हंसमुख जवान। दूकान में भीड़ हमेशा एक सी रहती। कुछ कालिज की लड़कियां ही-ही, ठी-ठी करती चप्पलें ख़रीद रही थीं। एक मोटे बदन की लड़की फ्राक पहने, अफ़ज़ल से सट कर बैठी थी। 'शौक तो देखो मुई का!' फरजाना ने मन में सोचा।

लड़कियां बगल में जूतों का डिब्बा दबा कर चली गईं, तो बड़े अदब

से 'कहिये' कह कर अफ़ज़ल फरजाना के पास स्टूल पर बैठ गया। फरजाना का कलेजा उछल कर मुंह को आ गया, हाथ कांप गये और पेट में फिर फड़फड़ होने लगी। कांपती आवाज को और भी महीन बना कर वह बोली—"मखमली सैंडिल दिखाइये।"

अफ़ज़ल ने कहा—"साइज़ दिखाइये ज़रा।" फिर दोनों हाथों में उसका पैर उठा कर नौकर से बोला, "छोटे साइज की मखमली निकालो—कानपुर नंबर ५ ऐच।" पर पैर छोड़ने को उसका जी नहीं कर रहा था। अभी अभी उसने मिस यंग के भारी से पैर में नई सैंडिल पहनाई थी। वह वहीं पर बैठी नयी सैंडिल हिला हिला कर कुछ पढ़ रही थी। उस भारी पैर के बाद यह हल्का, काग़ज़ी, फूल सा छोटा पैर अफ़ज़ल को बड़ा प्यारा सा लगा, जैसे मुलायम कबूतर थोड़ी देर के लिए हथेली में आ गया हो।

लाल-काले स्लिपरों का ढेर लग गया, पर अफ़ज़ल के पसंद की चीज़ नहीं उतरी। असल में यह देर जानबूझ कर लगा रहा था। इतनी जल्दी वह कबूतर उड जायेगा यह सोच कर उसका दिल डूबने लगा। नौकर को एक-दो भद्दी गालियां दे कर वह उठा और अलमारी से कई जोड़े डिब्बों का कुतुब मीनार सा बना कर ले आया। अफ़ज़ल की फुरती और होशियारी पर फरजाना बुर्के के अन्दर ही अन्दर निछावर हुई जा रही थी। एक डिब्बा भी तो हाथ से नहीं गिरा! आखिर एक लाल मखमली सैंडिल उसे पसन्द आयी। उस पर सुनहरे मोर जड़े थे। इतने ही में मिस यंग ने कहा—"अफ़ज़ल, इधर आओ। जूता तो बब्बन दिखा रहा है।" उसे अफज़ल का इतनी देर तक वहां बैठना अच्छा नहीं लग रहा था। वह एक सस्ता अंग्रेजी उपन्यास पढ़ रही थी, जिसकी नायिका प्रेमी के धोखे से ऊब कर आत्महत्या करने जा रही थी। ऐसा वर्णन पढ़ने में उसे अफजल के पास बैठा रहना बड़ा अच्छा लगता था। इसी से अक्सर वह ऐसे उपन्यास ले कर दूकान में आ जाती थी।

अफज़ल उसके बार बार बुलाने पर जूते छोड़ कर उठ गया। मिस यंग ने उसका हाथ खींच कर उसे अपने पास बैठा लिया। फरजाना के बुर्के की फ्रेंच जाली से दो सुरमे भरी आंखों ने भी यह सब देखा और सिर से ले कर मखमली पैर तक वह कांप उठी। या मेरे परवरदिगार, यह मैं क्या देख रही हूं!

नौकर जूता रखने सीढ़ी पर चढ़ा और अफजल का हाथ पकड़, मिस यंग उपन्यास का एक हिस्सा पढ़ कर सुनाने लगी, तो फरजाना मौका देख कर पीछे की सीढ़ियां उतर गई और भागने लगी। बुर्का ओढ़े भागती औरत, वह भी सदर की सड़क पर! लोग आंखें फाड़ कर देखने लगे। एक-दो

मनचलों ने आवाजें भी कस दी—"वाह, वाह !" फरजाना ने चाल धीमी कर दी। वह बुरी तरह हांफ रही थी। नये सैंडिल में भागना भी मुश्किल था। एक रिक्शा दीखा; बोली, "जल्दी सफदरगंज चलो।"

घर पहुंची, कांपते हाथों से बटुआ खोल कर रिक्शा के पैसे दिये और सीढ़ियां चढ़ने लगी। उसे लग रहा था, जैसे घुटने के नीचे से पैर किसी ने काट दिये हों। आंखों के आगे गुलाबी बादल सा छा गया और सिर फिर चकरा गया। एक उबकाई आई और पेट में ऐसा दर्द उठा, जैसे किसी ने मुक्का लगा दिया हो। पेट दबा कर सीढ़ी पर ही बैठने को थी कि नई सैंडिल सीढ़ी पर फिसल गई और वह धड़ाम से चारों खाने चित नीचे गिरी।

तांगे में लाद कर उसे अस्पताल ले गये, तो डाक्टरनी बहुत बिगड़ी; बोली वह ऐसे बिगड़े केस को नहीं लेगी। जब कोई उम्मीद नहीं रहती, तब मरीज को लाते हैं। पहले किसी देसी दाई को बुलाया होगा। अब पेट में बच्चा मर गया है, यही नहीं, पूरे बदन में जहर फैल जाने से बेचारी लड़की सूज गई है। एक तो बिल्कुल ही बच्ची है, उस पर बेहद 'ऐनीमिक'! नहीं वह भर्ती नहीं होगी।

अफ़जल के आंसू से भीगे जवान चेहरे पर आखिर उसे तरस आ गया। रात भर अफजल आइडोफार्म की बदबू सूंघता अस्पताल के रंग उड़े दरवाजे से सटा खड़ा रहा। सुबह चार बजे मरा बच्चा हुआ—सूखा—जैसे चूहे का हो! डाक्टरनी भारी भारी आंखों से उसे देख कर बोली—"ऐ मिस्टर, कुछ कहना चाहते हो अपनी बीवी से? अभी होश में है, पर बचने की उम्मीद नहीं है। काश दो घन्टे पहले लाते!"

अफजल पागलों की तरह अन्दर घुस गया। वह अस्पताल का लाल कम्बल ओढ़े चुपचाप पड़ी थी। अफजल ने उस की छाती में मुंह छिपा लिया और बोला—"मुझे माफ करो, फरजाना! मुझे देखो, बीबी, मैं हूं अफजल। आंखें खोलो, मैं कैसे जिऊँगा, फरजाना? कुछ तो कह दो। कहो कि मुझे माफ कर दिया। मैं ही तुम्हारा कातिल हूं।"

अपनी भारी-नशीली पलकों को बड़ी मुश्किल से खोल कर वह कुछ बोली—सुनाई नहीं दिया। अफ़ज़ल ने उस के मुँह के पास कान सटा दिये। होंठ फिर बुदबुदाये, "अफजल . रोमांस...रोमांस मिल गया!" और उसकी आंखें खुली ही रह गईं।

अफ़ज़ल की चीख सुन कर डाक्टरनी आई। आंखें देख कर सब समझ गई। एक लम्बी सांस खींच कर उस ने हाथ से पलकें ढक दीं। उन्हीं दबी पलकों में फरजाना को थोड़ी देर के लिए मिला 'रोमांस' हमेशा के लिए सो गया।

●●●

★ महीपसिंह

प्रेमचन्द जी की परम्परा में सामाजिक कहानी को इस पीढ़ी की मांग के अनुरूप आगे ले चलने वालों में भाई महीपसिंह का नाम अगली पंक्ति में आता है। थोड़े ही समय पहले भाई महीपसिंह की रचनाओं पर मेरी नजर गई, और मुझे लगा कि दैनिक जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं में सूक्ष्म तंतु टटोलने वाले और उन्हें यथारूप चित्रित करने की क्षमता रखने वाले स्व० शरत्चन्द्र का भाव-सौष्ठव यदि नई पीढ़ी के किसी कथाकार में आ पाया है, तो वह महीपसिंह हैं। नित्य प्रति हमारे जीवन से टकराने वाले उन चरित्रों का अभ्यन्तर महीपसिंह उधेड़ कर हमारे अवलोकन के लिए रख देते हैं, जो बाहर से जितने भौंडे दिखाई पड़ते हैं, भीतर से उतने ही उज्ज्वल होते हैं।

मात्र २७ वर्ष के भाई महीपसिंह एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं और खालसा कालिज, बम्बई के हिंदी विभाग में हैं। आप की ३०-३५ ऐतिहासिक कहानियां तथा इतनी ही सामाजिक कहानियां प्रकाश में आ चुकी हैं। १५-२० रेखाचित्र भी प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ दिन पहले आप 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' द्वारा आयोजित प्रेमचंद-कहानी-प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं।

प्रस्तुत कथा 'पड़ोसी' बम्बई के संघर्षमय जीवन का एक ऐसा चित्र पेश करती है, जिस में निवास करने वाले मानवों के मन का लोभ मानवता-जनित उदारता तथा पड़ोसी-धर्म जैसे मानवोचित गुणों के साथ यथार्थ संघर्ष करता है। यह आधुनिक कहानी है। यहां कोई नायक या खलनायक नहीं है। किसे आप बुरा कहेंगे—त्रिभुवन को ?—जो इंफ्लुएंजा में बाप की तरह शुश्रूषा करने वाले श्याम बाबू की बेतकल्लुफ़ी से परेशान हो कर उन के ऊपर होने वाले व्यय को कानी आंख से देखता है ? या फिर श्याम बाबू को बुरा बतायेंगे, जो दो आने व तीन आने वाली नारंगियों में घपला कर के एक आने की धूल नारंगी वाले की आंखों में झोंक देते हैं ? - या फिर पड़ोसी-धर्म निभाने वाले उन सज्जन को जो श्याम बाबू की लोभ-वृत्ति की ओर से त्रिभुवन को सचेत करते हैं ?—या फिर त्रिभुवन की पत्नी को, जो जीवन भर श्याम बाबू की सेवा कर के भी अपने को उऋण समझने का साहस नहीं कर पाएगी ?—नहीं, कोई बुरा मालूम नहीं होता। महीपसिंह की लेखनी में ऐसे ही इनसानों का वास है, जो न निरे देवता हैं, न निरे दानव—मात्र इनसान हैं।

हमारी आंखें महीपसिंह की निरंतर चलती हुई लेखनी पर उत्सुकता के साथ टिकी हैं।

—हिंदी विभाग, खालसा कालिज, किंग्स सर्किल, बम्बई १९।

● पड़ोसी

मकान बदलने के पश्चात् त्रिभुवन की सब से पहले भेंट हुई श्याम बाबू से—उस के नये पड़ोसी। मजदूर से उठवा कर जैसे ही उस ने सामान अपने कमरे के आगे रखवाया, वह आ गये; बड़ा उत्साह दिखलाते हुये बोले—

"आप हमारे पड़ोसी हो गये, यह बड़ा अच्छा हुआ। कम से कम एक ऐसा आदमी तो आया जिस से मैं कभी बैठ कर दो बातें तो कर लूँगा। इस सारी 'चाल' में एक भी ऐसा नहीं जिस से बैठ कर दो बातें भी की जा सकें। सब कोल्हू के बैल की तरह अपने काम में लगे रहते हैं। बस सुबह के गये रात होने पर ही घर आते हैं—थके-मांदे—कोई उन से क्या बात करे !"

वह उन की बातें सुनता रहा। समर्थन में सिर हिलाता रहा, आंखों से भाव प्रगट करता रहा और मजदूर से एक-एक कर के सामान कमरे के भीतर रखवाता रहा। वह कुछ क्षण रुक कर फिर बोले—

"आप तो प्रोफेसर हैं न ? मुझ से किसी ने कहा था कि हमारे नये पड़ोसी एक प्रोफेसर हैं। अरे, प्रोफेसरों को काम ही क्या करना पड़ता है ! बस दो लेक्चर दे कर वापस आ गये। आप का समय तो काफी खाली रहता होगा ?"

उन के इस प्रश्न से कुछ घबराहट सी हुई त्रिभुवन को, किन्तु फिर भी उस ने 'जी, हां' कह कर उन की बात का समर्थन कर दिया। मजदूर सामान अन्दर रख चुका था। उस ने पैसे चुकाये और श्याम बाबू बोले—"शाम हो रही है। चाय तो पियेंगे न ?"

वह उस से बड़ी आत्मीयता दिखा रहे थे। एकाएक इस प्रस्ताव से उसे बड़ा संकोच हुआ। बोला, "आप कष्ट न कीजिये। मैं होटल में पी लूँगा।"

वह मुक्त भाव से हंस दिये, बोले—"देखता हूं आप अभी अकेले हैं। होटल का सहारा तो आप लेंगे ही। मैं रोज तो चाय पिलाऊंगा नहीं। यह प्रस्ताव तो खाली आज भर के लिये है।" और वह फिर हँस दिए। उन के थोड़े से टूटे-फूटे, छोटे-बड़े, गन्दे से दांत अपना स्वरूप लिये जैसे सामने आ खड़े हुए।

उस दिन त्रिभुवन ने उन के साथ चाय पी और उन की पत्नी से

मिला। श्याम बाबू की तरह उन्हें भी मिलनसार पाया। उन्हों ने उसके शादी-विवाह के विषय में पूछा और दम्पति ने बड़ा प्रबल आग्रह किया कि वह इस छुट्टी के बाद यहां सपत्नीक वापस आयें। वैसे वह उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं जान सका। घर में उन दो प्राणियों के अतिरिक्त किसी के दर्शन नहीं हुए और न किसी के होने के चिह्न ही दीखे। उसे श्याम बाबू की अवस्था कोई साठ वर्ष के लगभग लगी। बालों में कालापन बस नाम मात्र का रह गया था। अधिकांश दांत अलविदा कह चुके थे। चार-छ: अस्तव्यस्त अवस्था में ऊपर-नीचे दीख रहे थे। वैसे शरीर से वे अपने किसी भी समवयस्क से अधिक चुस्त और फुर्तीले दीखते थे। उन की पत्नी उसे अपेक्षाकृत कम आयु की और सब दृष्टियों से अधिक सचेत दीखीं। अवस्था चालीस के ऊपर तो थी ही। जब उसने उनके कमरे में प्रवेश किया था, वह कोई अच्छी सी साहित्यिक पुस्तक पढ़ रही थीं। स्वास्थ्य और रूप-रंग के सशक्त निशान उन पर शेष थे, जिन्हें देख कर यह अनुमान करना कठिन नहीं था कि वह अपने समय में सुन्दर कही जाने वाली महिलाओं में रही होंगी।

श्याम बाबू ने प्रारम्भ में उस से जो कहा था, उस का उसे अपने नये कमरे में आते ही आभास होने लगा। श्याम बाबू को छोड़ कर उसके सभी पुरुष पड़ोसी या तो उसे प्रात: स्नानादि के समय दिखलायी देते थे, जिस समय उसे भी कालेज जाने की शीघ्रता होती थी, या काफी शाम गए दिखायी देते थे, जब वह उन्हें अपने पत्नी-बच्चों में इस प्रकार व्यस्त देखता था, जैसे वर्षों के बिछुड़े हुए मिले हों। रविवार को अवश्य थोड़ी सी चहल-पहल होती थी। उस दिन प्रात: लोग एक-दूसरे से गप लगाते दिखायी देते थे और शाम को सपरिवार घूमने की योजना लगभग सबके मस्तिष्क में होती थी।

बम्बई में अवकाश के दिन सपरिवार घूमने जाने की प्रथा भारत के अन्य किसी भी नगर से कदाचित् अधिक है। सत्तर-अस्सी रुपये प्रति मास पाने वाले से पांच-छ: सौ का अच्छा-खासा वेतन पाने वालों तक के लोगों की निवास-व्यवस्था लगभग समान है—अर्थात् एक सीलनदार खोली से ले कर एक कमरे के फ्लैट तक। पुरुष सुबह होते ही काम पर निकल जाते हैं, शाम को मुक्ति पाने के पश्चात् बस, ट्राम और लोकल ट्रेनों के लिए लगी लम्बी-लम्बी लाइनों में अपने क्रम की प्रतीक्षा करते हैं और फिर मीलों का चक्कर लगा कर घर पहुंचते हैं। सप्ताह के छ: दिन वे दफ्तर और घर की घुटन में अनुभूतिहीन यन्त्र बन कर काम करते रहते हैं। उनकी पत्नियां वे छ: दिन सातवें दिन की प्रतीक्षा में अपने एकमात्र कमरे में, और वहां से साथ में लगे हुए छज्जे पर प्रति घंटे में दो बार आ कर, ट्रामों, बसों और रेलगाड़ियों की

खटखट सुन कर गुजार देती हैं और सातवें, दिन शाम को सम्पूर्ण परिवार अपनी खोली छोड़ कर इस प्रकार बाहर भाग निकलता है, जैसे पैरोल पर छूटा हुआ कैदी जेलखाने से। बम्बई के विशाल समुद्र-तट, सिनेमा-गृह और जलपान-गृह स्त्री-पुरुषों और बच्चों से खचाखच भर जाते हैं। थक कर, चूर हो कर जब वे अपनी खोली में वापस आते हैं तो दूसरे दिन से प्रारम्भ होने वाले सप्ताह का बुखार उनके मस्तिष्क में धीरे-धीरे भर रहा होता है।

त्रिभुवन अपनी 'चाल' का थोड़ा भिन्न प्राणी है। सुबह आठ-नौ बजे जा कर दोपहर को बारह-एक तक वापस आ जाता है। श्याम बाबू की पत्नी से, जिन्हें उसने चाची जी कहना शुरू कर दिया था, उसे मालूम हुआ कि उसकी इस प्रकार की नौकरी पर उस 'चाल' की महिलाओं को शुरू-शुरू में काफी आश्चर्य हुआ था।

उन दिनों उसे इस पड़ोसी दम्पति का परिचय और सम्पर्क वरदान सा लगा था। बम्बई में जीवन की एक ही कठिनाई थोड़े है। भोर होते ही मिल्क कॉलोनी के दूध के लिए लाइन लगाने से ले कर लोकल ट्रेन का मासिक पास बदलवाने तक के अनेक सिर-दर्द कदम-कदम पर खड़े रहते हैं। और वह ठहरा जनम का आलसी। दूध के लिए इतनी सुबह लाइन कौन लगाए? उसने इस मुसीबत से बचने के लिए दूध वाले भैया को लगा लिया, यह जानते हुए भी कि भैया की दूकान पर दूध-पानी की सर्वप्रसिद्ध मित्रता का पालन बड़े अदर्श ढंग से होता है। एक दिन सुबह ही सुबह श्याम बाबू बोले :

"आप भैया से दूध क्यों मंगाते हैं?"

वह सुबह उठने वाली अपनी दुर्बलता को अपने ही मुंह से स्वीकार नहीं करना चाहता था; बोला, "मेरे पास मिल्क कॉलोनी के दूध का कार्ड जो नहीं है—और वह कैसे बनवाया जाता है यह भी मुझे मालूम नहीं।"

वह थोड़ा नाराज से हो उठे—ऐसी नाराजगी जिस में स्नेह छलकता मालूम पड़ता है और सभी को भली लगती है। बोले—"अजीब हैं आप! भला मुझ से क्यों नहीं कहा?"

उस से एकाएक कुछ उत्तर नहीं बन पड़ा। वह कहते गए, "भैये का दूध पीना न पीना एक बराबर है। आप इतनी मगजमारी करते हैं! सुबह कालेज में पढ़ाते हैं, दिन भर घर में पड़े पढ़ा करते हैं। थोड़ा अच्छा दूध भी पीने को नहीं मिलेगा तो स्वास्थ्य का क्या हाल होगा, सोचिए तो! कल आप का कार्ड बन जायगा।" कह कर वह चल दिये। वह कालेज के लिए तैयार था। बिना कुछ हां-ना कहे अपनी पुस्तकें उठा कर चला आया।

दूसरे दिन सुबह ही उन्होंने कार्ड ला कर उसकी मेज पर रख दिया

और बोले—"लीजिए, आप का कार्ड तैयार है। अब भैया से दूध लेने की आवश्यकता नहीं।" और दूसरे दिन उस के कुछ कहने के पूर्व ही उन्हों ने भैया को आगे से दूध लाने से मना कर दिया। त्रिभुवन ने पूछा—"बाबू जी, सुबह कितने बजे दूध लेने जाना पड़ता है ?"

वह बड़ी लापरवाही से बोले—"यही पांच-साढ़े-पांच बजे।" उस के गले का थूक वहीं सूख गया; सोचने लगा, सुबह पांच-साढ़े-पांच का अर्थ है चार-साढ़े-चार बजें से लाइन लगाऊं। किन्तु इतनी सुबह उठेगा कौन ?

वह रात को निश्चय कर के सोया कि अब सुबह चार बजे उठने की आदत डालूंगा। संसार में निश्चय से बड़े-बड़े पहाड़ काटे जा सकते हैं, तो भला मैं चार बजे उठ क्यो नहीं सकता ? एलार्म घड़ी तो थी नहीं। सोते समय उसे स्मरण हुआ, 'लोग कहते हैं यदि सोते समय मन में दृढ़ता-पूर्वक यह कहा जाय कि मैं अमुक समय अवश्य उठूंगा, तो नींद उसी समय अवश्य खुल जाती है।' वह भी मन-ही-मन कई बार चार बजे उठने का निश्चय कर के सोया। रात्रि में उस की एक बार अचानक नींद खुली, हड़बड़ा कर हाथ की घड़ी में समय देखा। दो बजे थे। दो घन्टे में उठने की बात दोहरा कर वह फिर सो गया। एकाएक फिर नींद खुली। उसने झटपट घड़ी देखी। साढ़े तीन बजे थे। सोचा, अभी तो आधा घन्टा शेष है, एक हल्की नींद और सही। और जो सोया कि बस चिड़ियों की चह-चहाहट ही कानों में पड़ी। आंखें खुलीं तो चारों ओर प्रकाश दिखायी दिया। घड़ी पर दृष्टि गई, देखा साढ़े छः बजने वाले हैं। मन मार कर उठ बैठा। आज भैया भी दूध नहीं लाने वाला था। उस ने सोचा श्याम बाबू को यह पता न लगे। वह उन की दृष्टि बचा कर शीघ्र ही स्नानादि से निवृत्त हुआ और काफी पहले ही कालेज के लिये निकल कर उस ने रास्ते में होटल पर चाय पी ली।

किन्तु उसे दिन भर चिन्ता लगी रही। यह दूध की समस्या कैसे हल होगी ? वह रात्रि में फिर वही सब निश्चय कर के सोया। कई बार नींद खुली और अधसोया सा पड़ा रहा, और जब तीन बजे घड़ी देखी तो उठ बैठा, क्योंकि पिछली रात का अनुभव सामने था। बोतलें ले कर दूध लेने चल दिया। अड्डे पर अभी चिड़िया भी नहीं फटकी थी। वह वहीं एक पत्थर पर बैठ गया और दो घन्टे तक ऊंघता रहा। उस दिन दूध तो मिल गया, किन्तु सारा दिन आँखें नींद से भारी रहीं। दो-एक दिन यह गड़बड़ी चली कि श्याम बाबू जान गये। बड़े स्नेह से बोले—

"आप चिन्ता न कीजिए। मैं तो अपना दूध सुबह लेने जाता ही हूं, आप का भी ले आया करूंगा।"

उस ने थोड़ी ना–नू तो की, फिर मान गया। मानना तो था ही क्यों, कि यह उस के बस का रोग नहीं था।

एक रविवार को उस के एक अन्य पड़ोसी मानिकलाल शाह उस के कमरे में आ बैठे। उस की नमस्ते तो उन से कई दिन पूर्व ही शुरू हो चुकी थी। कुछ देर इधर–उधर की बातें करने के बाद बोले—"यह बुड्ढा आज-कल आप के पास बहुत आता है। हर नये आने वाले से यह प्रारम्भ में ऐसा ही व्यवहार करता है। आप ज़रा होशियार रहिएगा। बड़ा खोटा और लालची आदमी है।"

त्रिभुवन आश्चर्य से उन की ओर देखने लगा। किस के सम्बन्ध में यह सब कुछ कहा गया है यह समझ कर भी वह कुछ न समझने का प्रयत्न कर रहा था। उस ने अनजान सा बनते हुए पूछा—"आप किस के सम्बन्ध में कह रहे हैं?"

"और किस के सम्बन्ध में? यही श्याम बाबू। दो साल से एक बैंक के खजानची पद से गबन के मामले में सस्पेन्ड पड़े हैं। कोर्ट में मुकदमा चल रहा है। उस का फैसला होने में ही नहीं आता। अपनी चालाकी से उस की तिथियां बढ़वाते रहते हैं और इधर बड़े–बड़े अफसरों की चापलूसी कर कोशिश कर रहे हैं कि साफ छूट जायें," मानिकलाल ने कहा।

वह अभी तक श्याम बाबू की जीविकादि के विषय में कुछ नहीं जानता था। यद्यपि उत्सुकता उस के मन में थी, किन्तु संकोचवश उस ने कभी पूछा नहीं था और अन्य किसी से इस सम्बन्ध में बात करने योग्य उस के सम्बंध नहीं बने थे। मानिकलाल की बातों से उसे कुछ ठेस सी लगी। श्याम बाबू की एक अच्छी मूर्त्ति उस के मन और मस्तिष्क में बनी थी। आज उस के द्वारा वह बिगड़ती देख उसे क्षोभ सा हुआ। मानिकलाल ने उसी संदर्भ में बताया कि इन की वर्त्तमान पत्नी दूसरी पत्नी हैं। इस से इन के कोई सन्तान नहीं हैं। पहली पत्नी से एक लड़का है। वह जयपुर में नौकरी करता है और प्रति मास इन की सहायता के लिए कुछ रुपये भेजता है।

मानिकलाल की इस सूचना से भी उस के और श्याम बाबू के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ा। इसी बीच एक दिन उन की पत्नी अपने पिता की बीमारी की खबर सुन अपने मायके चली गई। त्रिभुवन अपनी चाय घर पर ही बनाता था और खाना होटल में। दूसरे दिन श्याम बाबू सुबह उस का दूध दे गये। चाय बनाते समय उसे स्मरण हुआ कि आज उन्हों ने क्या किया होगा? उन की पत्नी तो है नहीं। क्या स्वयं स्टोव जला कर चाय बनाई होगी? सोचता हुआ वह उन के कमरे में चला गया। उस ने देखा,

वह कुछ पाठादि कर रहे हैं। उसे देख कर उन्हों ने पोथी बन्द कर दी। उस ने पूछा—"आज चाय नहीं बनाई क्या ?" वह थोड़ा मुस्करा दिये; बोले, "तुम्हारी चाची तो चली गई और स्वयं स्टोव जला कर चाय बनाने का झंझट मुझ से नहीं होगा। एक ही प्याली तो पीता हूं, होटल पर पी लूंगा।"

उसे उन्हों ने कई बार चाय पिलायी थी। उन के अन्य भी कई ऐहसान थे। उस ने कहा—"खैर देखा जायेगा। आज तो चाय तैयार है। आईये, पी ली जाय।"

उन्हों ने अधिक ना–नू नहीं की। उन दोनों ने खारे बिस्कुट खाये और चाय पी। दूसरे दिन उन्हें न बुलाना त्रिभुवन को अशिष्टता लगी। वह उन्हें बुला लाया। फिर नित्य बुलाने लगा और वह भी नित्य उस के साथ चाय पीते रहे। साथ ही थोड़ा–बहुत तकल्लुफ भी चलता रहा।

दोपहर का खाना वह कालेज के पास ही खा लेता था और रात्रि का अपने निवास–स्थान के पास के एक होटल में। एक दिन शाम को श्याम बाबू उस के कमरे में आये; बोले—

"भोजन कर लिया आप ने ?"

उस ने कहा—"अभी तो नहीं।"

"चलिए, कर आएं।"

"चलिए," कह कर वह तैयार हो गया। खाना तो था ही। वे दोनों होटल में गये और खाना खाया। त्रिभुवन ने भोजन कुछ पहले समाप्त कर दिया था। श्याम बाबू कुछ धीरे–धीरे खा रहे थे। वह उठ कर, मैनेजर के काउन्टर के पास खड़ा हो कर सौंफ खाने लगा और उस से कह दिया कि वह श्याम बाबू के पैसे भी उस के हिसाब में लिख दे। वह खा कर पैसे देने लगे। उस ने कहा—"चिन्ता न कीजिए। मैं ने अपने हिसाब में लिखवा दिये हैं।" उन्हों ने थोड़ा हठ किया, कुछ संकोच प्रगट किया. फिर वे दोनों बाहर आ गये।

उस दिन के बाद वह और श्याम बाबू बहुधा शाम को साथ–साथ भोजन करने लगे और श्याम बाबू का व्यय भी उस के हिसाब में जुड़ता रहा। कुछ दिन इसी प्रकार चलता रहा। त्रिभुवन का व्यय बढ़ता जा रहा था। सुबह की चाय पर अब उसे बिस्कुटों के साथ कुछ और भी रखना पड़ता था। शाम का भोजन भी अच्छा–खासा होता था। लगता था जैसे श्याम बाबू की दृष्टि में यह सब-कुछ बड़ा स्वाभाविक चल रहा है, किन्तु त्रिभुवन की अशान्ति बढ़ती जा रही थी। अब मानिकलाल के कहे शब्द कभी–कभी उस के कानों में प्रतिध्वनित होने लगते—'सावधान रहिएगा—बड़ा लालची

आदमी हैं।' वह मन ही मन कहता—"हां, लालची तो थोड़े अवश्य हैं। इतने दिन हो गए, अपने नाश्ते और भोजन का पूरा भार मुझी पर छोड़ दिया है। आखिर इन्हें भी सोचना चाहिए कि यदि कोई शिष्टाचारवश बुलाए तो उस पर इस प्रकार बोझ न बन जायें।" उस के मन की वितृष्णा कुछ बढ़ती जा रही थी।

दो-एक बार वह श्याम बाबू को टाल कर सीधा भोजन करने पहुंच गया। किन्तु या तो वह वहां उसे भोजन करते मिल गए या भोजन कर के उस के हिसाब में पैसे लिखवा गए थे।

एक दिन वे दोनों होटल से निकले। सामने एक दूकानदार ठेले पर संतरों की दो ढेरियां लगाए खड़ा था। श्याम बाबू बोले—"आइए, संतरा खिलाऊं आप को।" त्रिभुवन ने सोचा—और मुसीबत! इस के पैसे भी मुझे ही देने पड़ेंगे। वे ठेले के पास पहुंच संतरे देखने लगे। एक ढेर में दो आने का एक और दूसरे में तीन आने का एक था। उन्हों ने एक तीन आने वाला उठाया और एक दो आने वाला, और दोनों हाथों से एक दूसरे को इधर-उधर उछालने लगे। दूकानदार अन्य ग्राहकों से उलझा हुआ था। उन्हों ने दोनों संतरे दो आने वाले ढेर में रख दिए, फिर से भाव-ताव किया और फिर दो आने वाले ढेर में रखा हुआ तीन आने वाला संतरा उठा, दो आने दे आगे चल दिए। त्रिभुवन ने उन की इस कला को देखा, किन्तु बोला कुछ नहीं। मन में उन के प्रति वितृष्णा की उड़ती हुई चिनगारी में मानो घी पड़ गया।

उस दिन वह कालेज से लौटा तो उस के पैर बड़े भारी हो रहे थे, सिर दर्द कर रहा था और जुकाम से नाक बन्द थी। शाम को उस ने चाय के साथ एस्पिरीन की गोली ले ली, किन्तु कुछ लाभ न हुआ। रात को वह भोजन करने भी नहीं गया, बस कमरे में पड़ा रहा। कुछ देर में श्याम बाबू आए; बोले—"अरे, आज खाना खाने नहीं गए ?

उसे चादर ओढ़े हुए लेटा देख कर उन्हों ने उस के मस्तक पर हाथ रखा, फिर नब्ज देखी और चिन्तित स्वर में बोले—"अरे, आप को तो हरारत मालूम होती है!"

उस ने कहा—"हां, सुबह कुछ जुकाम सा हो गया था।"

श्याम बाबू ने झट से स्टोव गर्म किया। सुबह का दूध थोड़ा सा रखा हुआ था। उन्हों ने पड़ोस के घर से थोड़ा-सा अदरक और काली मिर्च मंगवायी और उसे डाल कर खूब कड़वी, काढ़े जैसी चाय बनायी। बोले, "यह चाय पी लीजिए। रात भर में तबीयत ठीक हो जायगी।"

उस कड़वी चाय को उसने भी पिया और उन्होंने भी। श्याम बाबू

की यह सहानुभूति पता नहीं क्यों आज त्रिभुवन को बड़ी अच्छी लगी। आज दिन की अस्वस्थता में उसका मन बड़ा उदास सा हो रहा था। रह-रह कर उसे या तो मां की याद आती थी या शान्ति की। सोचता था, कोई अपना यहां होता तो मेरे इतने से जुकाम को सिर पर उठा लेता। मैं बार-बार कहता, 'अरे मुझे कुछ नहीं हुआ है', और वह आंखें तरेर कर कहती—'पागल तो नहीं हुए हो ? देखते नहीं इन्फ्लुएन्जा कितनी जोर से फैल रहा है ? अभी जुकाम की चिन्ता नहीं की तो फिर सप्ताह भर के लिए चारपाई पकड़े बिना नहीं रहा जायगा।' यह सब सोचते-सोचते वह उसी सुखानुभूति में खो सा गया। फिर उसके मन में आता, घर से आठ सौ मील दूर पड़ा हूं। न कोई अपना संगी है न साथी। यदि बीमार पड़ ही जाऊं तो दो घूंट पानी पिलाने वाला भी कोई नहीं मिलेगा। किन्तु श्याम बाबू की सहानुभूति से उसके मन की उदासीनता भी थोड़ी दूर हुई। उसे लगा जसे कष्ट की तपन से बचाने के लिए उसके ऊपर कोई सघन सी छाया है।

सुबह उसे सचमुच ज्वर हो गया—इन्फ्लुएन्जा। शरीर तप रहा था, अंग-अंग में पीड़ा हो रही थी और सिर तो मानो फटा जा रहा हो। श्याम बाबू ने सुबह आ कर देखा तो बड़े चिन्तित से हुए। दूध गर्म कर के उसे थोड़ा सा पिलाया। फिर डाक्टर को बुला लाए। दिखला कर उसके साथ दवाई लेने चले गये। त्रिभुवन को कालेज की चिन्ता हो रही थी। किसी प्रकार वह वहां समाचार पहुंचाना चाहता था। श्याम बाबू डाक्टर के यहां से आए तो उसने इस की चर्चा की। वह झटपट उसका प्रार्थना-पत्र पहुंचाने को तैयार हो गये। उसे बड़ा संकोच हो रहा था, किन्तु करता भी क्या ?

वह छः-सात दिन ज्वर की कठोर यातना सहता रहा, किन्तु श्याम बाबू ने उसे किसी आत्मीय का अभाव नहीं खटकने दिया। जैसे उन दिनों उन्हें कुछ काम ही नहीं था। बस चौबीसों घंटे उसके लिए लगे रहते। डाक्टर को लाते, दवाई लाते, दिन में उसे कई बार पिलाते, दूध का प्रबन्ध करते, शाम को डाक्टर को रिपोर्ट देने जाते। जब कभी उसके सिर की पीड़ा असह्य हो जाती, वह उस पर बाम मलते, उसे दबाते। त्रिभुवन के मन में कई बार आया कि तार दे कर घर से किसी को बुला लूं, किन्तु बार-बार उन्होंने यही कहा—"क्यों घरवालों को परेशान करिएगा ? हल्का सा ज्वर है। दो एक दिन में ठीक हो जायगा।" और वह चुप हो जाता।

ज्वर उतर जाने के पश्चात् उसमें दुर्बलता इतनी आ गई, जैसे वह

वर्षों से बीमार है। डाक्टर ने खिचड़ी खाने के लिए कह दिया था और श्याम बाबू उसे बना-बना कर खिला रहे थे। बारह-तेरह दिन बाद वह कालेज जाने के योग्य हुआ।

अक्टूबर में उसका दशहरा-दीवाली का एक मास का अवकाश हो गया और वह घर चला गया। वहां जब उसने अपनी बीमारी और उसमें श्याम बाबू की सेवा का समाचार लोगों को सुनाया, तो श्याम बाबू का एक अमिट चित्र उनके हृदय पर अंकित हो गया। मां और शान्ति की आंखों में तो आंसू भर आए। उनके हृदय में श्याम बाबू ने अपना स्थान किसी देवदूत से कम नहीं बनाया।

छुट्टी समाप्त कर वह बम्बई वापस आ गया। इस बार शान्ति भी उसके साथ थी। उसने सोचा, अब तक तो श्याम बाबू की पत्नी वापस आ गई होगी। उनसे उसने वादा किया था कि छुट्टी के बाद वह सपत्नीक वापस आएगा। शान्ति को देख कर वह कितनी प्रसन्न होंगी! किन्तु आ कर उसे बड़ा दुःखद समाचार मिला। उनके पिता का स्वर्गवास हो गया था। वह उनकी एक मात्र सन्तान थी। श्याम बाबू ने बताया कि सम्पति आदि के झगड़े के कारण उन्हें अभी कुछ दिन और वहीं रहना पड़ेगा।

शान्ति ने अपनी नयी गृहस्थी में श्याम बाबू का इस प्रकार स्वागत किया, जैसे वह उन्हें वर्षों से जानती हो। उनका प्रातः का नाश्ता त्रिभुवन के साथ ही होता था। वह दोपहर को बहुधा बाहर गये होते थे, किन्तु कालेज से आने पर त्रिभुवन को भोजन कराने के पूर्व शान्ति उन्हें उनके कमरे में अवश्य देख लेती। रात्रि का भोजन तो वह इस परिवार में करते ही थे। कुछ दिन यह सब कुछ ऐसा ही चलता रहा, किन्तु फिर, पता नहीं क्यों, त्रिभुवन को यह कुछ विचित्र सा, कुछ उलझन भरा, कुछ अशान्तिकारक सा लगने लगा। श्याम बाबू उसके लिए तो केवल बाबू ही थे, शान्ति एक पग आगे बढ़ कर उन्हें चाचा जी कहने लगी थी और वह देख रहा था कि उनके सम्बन्ध शान्ति से प्रति दिन बड़े अनौपचारिक होते जा रहे हैं। वह दिन में पच्चीस बार 'शान्ति बिटिया' को पुकारते, हंसते और कभी-कभी दुलराते से आ जाते, और शान्ति दिन में शायद छब्बीस बार उनसे चाय के लिए पूछती, भोजन के लिए पूछती, चाची के सम्बन्ध में पूछती और पता नहीं क्या-क्या पूछती ?

त्रिभुवन अनुभव कर रहा था जैसे इस नये बने परिवार में उसका स्थान गौण सा है। श्याम बाबू की वयोवृद्ध छाया ने जैसे उसके छोटे से परिवार को ढंक लिया है। उसकी घरेलू समस्याओं पर अब उनकी

सम्मतियां ही नहीं होती थी, वरन् आदेश से होते थे। उसे लगने लगा था, जैसे माता-पिता के शासन से निकल कर वह फिर किसी शासन के नीचे आ गया है। कुछ अजीब सी परेशानी रहने लगी।

एक दिन ऐसे ही शान्ति से कहा—"अरे, यह बुड्ढा तो अच्छा हमारे पीछे पड़ा है! अपना सारा डेरा-डंडा हमारे ही घर में डाल दिया है।"

उसे लगा कि उसकी यह बात शान्ति को कुछ अच्छी नहीं लगी। अपनी बड़ी-बड़ी आंखों को, जिन में मानो संसार की सारी मासूमियत आ भरी हो, उस पर गड़ा कर वह निषेध भरे स्वर में बोली—"कैसी बातें करते है आप! चाचा जी के कारण तो हमें परदेश में यह पता भी नही चलता कि हम पर किसी बड़े-बूढ़े की छाया नही है। आप के साथ मुझे अकेले भेजने में माता जी और पिता जी चिन्ता प्रगट कर रहे थे। चाचा जी के कारण तो हमे अनुभव ही नही होता कि हमारे सिर पर कोई बड़ा नहीं है।"

उस की इस बात पर त्रिभुवन को बड़ी झुंझलाहट हुई; बोला—"तो क्या मैं अभी बच्चा ही हूं, जिस के सिर पर एक बड़ा-बूढ़ा न हुआ तो मार्ग से भटक जाऊंगा!"

उस की बात पर वह हंस दी—बड़ी भोली सी हंसी। बोली, "आप को बच्चा कौन कहता है? आप तो पूरे बूढ़े है, तभी तो दूसरे बूढ़े को देख कर जल रहे हैं।" और वह अपने काम मे इस प्रकार लग गई, जैसे त्रिभुवन की बात में कोई गम्भीरता ही न हो।

सब कुछ वैसा ही चलता रहा। श्याम बाबू का झुरियां पड़ा चेहरा और उस में से झांकते हुए टूटे-फूटे दांत उस के मन में कुढ़न सी उत्पन्न कर देते। शान्ति से उनकी उन्मुक्त बातचीत उस में विचित्र सी जलन पैदा कर देती। किन्तु वह क्या करे, उस की समझ में ही नहीं आ रहा था। एक विचित्र सी बेचैनी थी, जिस का कोई हल उसे ढूंढ़े नहीं मिल रहा था।

उस दिन उस के दो तीन मित्र शाम को घर पर आ गए। उस ने शान्ति से उन के लिए चाय बनाने को कह दिया। चाय बनने पर शान्ति ने पूछा—"साथ में क्या खिलाइएगा?"

उस ने कहा—"दो दिन ही तो हुए बिस्कुटों का एक डिब्बा लाया था। समाप्त हो गए क्या?"

वह बोली—"कुछ बचे थे। आज सुबह चाचा जी के कुछ मित्र उन से मिलने आ गए। मै ने उन के लिए चाय बनाई और बचे हुये बिस्कुट साथ में रख दिये।"

शान्ति की इस बात पर त्रिभुवन का मन बस जल कर रह गया। सोचने लगा, मेरा घर न हुआ, मुफ्त भोजन देने वाली धर्मशाला हो गयी।

स्वयं भी खाओ और मित्रों को भी खिलवाओ। और इस शान्ति को क्या कहूं...बस! बड़ी झुंझलाहट हो रही थी उसे। अब भला अपने मित्रों को क्या खिलाऊं? इतने में वह बोली—"आप दो मिनिट रुकिए। मैं गरम-गरम पकौड़ियां उतारे देती हूं।"

उस के मित्र तो चाय पी कर चले गये, किन्तु उस का मन और मस्तिष्क बुरी तरह जलते रहे। रह-रह कर बड़ा क्रोध सा आ रहा था। उस ने पुकारा—"शान्ति!" स्वर में बड़ी कर्कशता उभर पड़ी थी।

वह सहमी सी सामने आ खड़ी हुई। त्रिभुवन का जी चाह रहा था इस पर उबल पड़ूं, कोई तीखा सा व्यंग्य कस दूं, कोई कड़ुवी सी, मन बेध जाने वाली बात कह दूं, और फिर उस ने कह ही दिया—

"आखिर तुम्हें इस बुड्ढे में ऐसी क्या रुचि है, जो इस की इतनी सेवा किया करती हो?'

फिर उसे लगा जैसे बात जरा अधिक तीखी हो गई है। मनुष्य का स्वभाव सांप की ही तरह तो है। अपना विष कम करने के लिए वह दूसरे पर विष उगलता है। शान्ति उस की बात सुन कर एकटक उस की ओर देखती रही। त्रिभुवन ने देखा, धीरे-धीरे उस के होंठ कांपने लगे हैं और आंखें डबडबाती आ रही हैं। अपने को संयत सी करती हुई वह बोली—"मुझे उन में क्या रुचि हो सकती है? कहिये तो कल से उन को अपने घर में आने से ही मना कर दूं। किन्तु मैं यह कैसे भूल सकती हूं कि जब आप यहां अकेले थे, बीमार थे, तो उन्हों ने आप की कितनी सेवा की थी! वह न होते तो आप की क्या दशा होती, यह सोच कर ही मेरा मन कांप जाता है। मैं उन के लिये कुछ भी करूं—चाहे जीवन भर उन की सेवा करती रहूं, किन्तु क्या यह उस सब का बदला चुका सकता है, जो उन्हों ने आप के लिए किया?"

यह कहते-कहते उस के नेत्र इस प्रकार बहने लगे जैसे बहुत देर से घुमड़ते रहे बादल मूसलाधर बरसने लगे हों। पता नहीं वह क्या कहने जा रही थी कि बाहर से आवाज आई—"शान्ती बिटिया!"

और उस ने झटपट आंचल से नेत्र पोंछ कर कहा—"आईये, चाचा जी।"

श्याम बाबू अपनी परिचित हंसी बिखेरते हुए अन्दर आ गये और बड़े उल्लसित स्वर में बोले—"तुम्हारी चाची का पत्र आया है। वह कल शाम को यहां पहुँच रही हैं। अपना बेटा तो वह देख ही चुकी हैं। रानी सी बहू देख कर कितनी खुश होगी—अच्छा, अभी तो चलता हूं।"

कह कर जैसे वह हवा के झोंके की तरह आए थे वैसे ही चले गए।

वे दोनों गुमसुम बैठे रहे। उन के जाने के बाद शान्ति ने त्रिभुवन की ओर देखा।-जैसे उस की आंखें ही बहुत कुछ कहना चाहती हों। फिर आंखें नीची कर के वह धीरे से बस इतना ही बोली—

"मुझे मालूम नहीं था कि आप इस बात का इतना ख्याल करेंगे।"

कह कर वह रसोई में चली गई और त्रिभुवन जैसे अपनी जगह पर गड़ सा गया। उसे लगा, जैसे शान्ति बहुत बड़ी है—इतनी बड़ी कि उस का सिर आकाश को छू रहा है और वह बहुत छोटा है, इतना छोटा कि चींटी की तरह धरती पर रेंग रहा है।

★ विद्यास्वरूप वर्मा

श्री विद्यास्वरूप वर्मा देहरादून के एक कालिज में सह-अध्यापक हैं। सरल व प्रशांत स्वभाव, यथातथ्य वार्तालाप, छल-कपट विहीन मित्रता तथा मृदु भावनाएं ये आप के जीवन के अंग हैं। इतना सुन्दर लिखते हुए भी आप को दंभ छू तक नहीं गया है। जब तक मैंने आपको पढ़ा नहीं था, तब तक समझता रहा था कि न जाने आपका साहित्य कैसा होगा। पढ़ने पर पता चला जैसे शरत् को नवीन रूप में देख रहा हूं। अत्यंत सुन्दर व भावपूर्ण शैली के आप धनी हैं।

अड़तीस वर्ष के श्री विद्यास्वरूप वर्मा की शैली में कारुणिक पुट होते हुए भी जीवन के प्रति प्रबल आस्था है। 'नीलकान्त' नाम से आप का एक कथा-संग्रह प्रकाशित हो चुका है और दो उपन्यासों का शीघ्र ही प्रकाशन होगा।

प्रस्तुत कथा 'वरण' एक विचित्र अवसादमयी कथा है। पत्नी देवी है, तो पति भी देवता से कम नहीं है और कहीं भी ऐसा मालूम नहीं होता कि दुःख की कोई बात है। एक रोगिणी है, एक रोग है, एक पीड़ा है और इन सब के पीछे एक मानसिक परिताप छिपा हुआ है, एक स्वाभाविक मनोव्यथा है, जो एक सुगठित कहानी की तरह अंत में जा कर ही खुल पाती है। सारी कहानी भावनाओं का एक प्रवाहयुक्त जाल है।

मूलतः 'वरण' कहानी एक सामाजिक समस्या को उजागर करती है। किन्तु इस का रूप पारिवारिक है। विवाह-पूर्व रोमांस तथा उस के कटु प्रतिफल को ले कर जो विडंबना समाज में मौजूद है वह सामाजिक इतिहास से सम्बन्ध रखती है। इस को इस रूप में समझ सकते हैं कि कुछ सामाजिक कुरीतियां ऐसी होती हैं, जो समाज के इसी ढांचे में खत्म की जा सकती हैं, भले ही उन का उद्भव समाज के इतिहास से हुआ हो—और इस में हम दहेज की समस्या को भी रख सकते हैं। लेकिन विवाह-पूर्व रोमांस चाहे कवियों व कथाकारों का कितना ही प्रिय विषय क्यों न रहा हो, वर्त्तमान समाज-व्यवस्था बिना अपने ढांचे में आमूल-चूल परिवर्त्तन किए इस को अंगीकार नहीं कर सकती। तब दुर्घटना-स्वरूप कुछ कारुणिक दृश्य कथाकारों व कवियों को मिल जाते हैं—'वरण' उन्हीं में से एक है। इस के पात्र किसी से शिकायत नहीं करते, सामाजिक व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों अंगीकार करते हैं, किंतु फिर भी करुणा और विडंबना का एक ऐसा पुट छोड़ जाते हैं, जो पाठक को सोचने के लिए विवश करता है—यह सोचने के लिए कि ऐसा भी हो सकता है। कहानी का द्वंद्व बहुत मार्मिक बन पड़ा है।

—८६, लक्ष्मण चौक, देहरादून।

● चरण

मैं मृत्यु–शैया पर पड़ी हूं। मेरा प्रायः अन्तिम समय आ गया है। डाक्टर अभी देख कर गये हैं। कह गये हैं जीने की बहुत कम आशा है। पर मैं सोच रही हूं शायद यही सच हो। डाक्टरों की बात झुठाली नहीं जा सकती। जब इतनी विद्या उन्हों ने बहुत कष्ट सह कर हासिल की है, तो जो कुछ वह कहेंगे सच ही कहेगे। अभी पिछले साल मेरी दादी की मृत्यु हुई थी। डाक्टरों ने सात दिन पहले आ कर यह कह दिया था—यह बच नहीं सकती। तब उन की बात गलत नहीं हुई, सच निकली। अब मेरे ही सम्बन्ध में उन की बात क्यों गलत होगी ? इतने दिनों मैं ने अपने जीवन में बहुत पाया है। अब यदि दोनों ही हाथों से वापस दे देने का समय आ पहुंचा हो तो फिर मेरा मन छोटा क्यों हो ?

इस के उपरान्त मृत्यु से भय ? क्या मैं भयभीत हूं ? कहीं भी तो नहीं। सिर्फ़ मन आच्छन्न है। कुछ सोचने की इच्छा नहीं होती, न विगत की और न आगत की। जब से डाक्टर कह गया है अब अन्तिम क्षण आ गये हैं, तब से एक तरह का विस्वाद मुंह में है, हरेक वस्तु से सम्बन्ध टूट रहा है। बहुत सारी वस्तुतें जीवन में नजदीक थीं, अब सभी दूर हट रही है। क्या मैं स्वयं उन को हटा रही हूं ? नहीं, कैसे हटाऊंगी ? जिन को प्राण दे कर प्यार किया है क्या उन को इतनी जल्दी हटा सकती हूं ? यह भी सत्य है कि जो विस्तार जीवन में था वह अब नहीं रहा है। सीमा बंध रही है। उस सीमा में मैं सिर्फ़ अकेली बंधी खड़ी हूं, मानो मैं अपने स्वयं में डूब रही हूं।

कहते हैं यह पापी पार्थिव देह मृत्यु के बाद इसी पार्थिव संसार में मिल जाएगी। पर आज तो यही देह मुझे भार हो रही है। समस्त कष्ट–क्लेश इसी के कारण हैं।

इस के बाद आज मेरी आँखों में आँसू नहीं हैं। मैं आंसू बहाऊं भी क्यों ?

पर एक दिन ऐसा नहीं था। इस घर में आते हुये मेरी आंखों में आंसू कम नहीं थे। इस घर के लिये कितनी ममता थी कैसे बताऊं ? बहुत सारा रूप, धन, विद्या साथ में लायी थी। श्वसुर ने मुझे देख कर कहा, "साक्षात् लक्ष्मी आयी है।" सास मुझे देख कर गले लगाने दौड़ी। पड़ोस की स्त्रियों ने अचानक पीछे से आ कर घूंघट उलट दिया, और मेरे पतिदेव—

उन के लिये कुछ नहीं ही कहूं तभी अच्छा, कहूंगी तो इस जले मुंह से अधिक बात निकल जायेगी ।

पर आज अब इस संसार से विदा हो रही हूं, तब इतना ही मालूम है, वे बातें अब याद नहीं आतीं, वैसा स्वर अब नहीं बज उठता ।

लेकिन डाक्टर कह गया है अभी थोड़ा समय बाकी है, इसलिये जो कुछ याद आ जाता है वही कह देती हूं :

ब्याह के बाद एक वर्ष बीता, दो वर्ष बीते, तीन वर्ष बीते । पतिदेव ने एक दिन कहा, "कुमुद, कल सवेरे जरा डाक्टर के यहां चलना होगा ।"

मैं ने आश्चर्य से पूछा, "क्यों ?"

उन्हों ने कहा, "चलना होगा । कैसे तुम से कहूं ?"

सवेरे उड़ते हुए सास का स्वर कानों में पड़ा, "क्यों बेटा, बहू तैयार हो गई न ?"

"हां, मां ।"

प्रकारान्तर से श्वसुर जी तक भी बात पहुंची होगी । निश्चित है ।

डाक्टर के यहां से लौटते हुये पतिदेव ने कहा, "कुमू, इस दवा को महीने भर तक पियोगी, तो सब ठीक हो जायेगा । घबराने की कोई बात नहीं ।"

मैं ने चिन्तित स्वर में कहा—"तुम ने डाक्टर को सारी बात समझा तो दी थी न ? सच बताओ । कहीं कुछ छिपाया तो नहीं ?"

उन्हों ने कहा—"बताया तो कुछ नहीं, कुमू । उस की आवश्यकता भी नहीं थी । पर मेरा विश्वास है दवा पीने से नुकसान नहीं होगा । तुम चिन्ता मत करो । वह इंगलैंड से बड़ी भारी डिग्री लिये बैठे हैं ।"

मैं ने घर पहुंच कर पति के चरण छू कर कहा—"तुम्हारे मुंह को देखने की अन्तिम अभिलाषा है । मरने से मैं नहीं डरती, पर जिस की जरूरत नहीं है, उसे तुम क्यों कर रहे हो ? क्या जरूरत है ? न हुई मेरे अब संतान तो न हो, मेरी तो कोई इच्छा है नहीं ।" फिर रुक कर बोली—"मुझे बेहद डर है । कहीं क्षय रोग न हो जाये ! मैं सचमुच अब सन्तान नहीं चाहती ।"

देखा पति के मुख पर जाल—सा छा गया । कहीं होंठ का जरा सा अंश सिकुड़ा । मैं ने मन में कहा—'अच्छा, तुम्हारी इच्छा ।'

कई महीने बाद मेरी सास ने मेरे पतिदेव का तिरस्कार कर कठोर स्वर में कहा—"अभागे, घर में बांझ ले आया है । मैं तो पहले ही जानती थी । कालिज में जा कर लड़कियां बांझ हो जाती हैं ।"

श्वसुर ने 'शिव, शिव' कह कर कमरे से बाहर कदम बढ़ाया ।

मेरे पतिदेव ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह मेरे कमरे में आये। उनका मुख उदास था। देखा उनके मन में अन्दर ही अन्दर घोर संघर्ष चल रहा है। पर उन्होंने मुझ से कुछ नहीं कहा। अब कहने को था भी क्या ?

इसके बाद भी कई दिन बीत गये। मेरा स्वास्थ्य दिन प्रति दिन गिरता रहा। मेरे पतिदेव ने एक दिन आ कर कहा, "चलो, कुमू, मैं तुम्हें पहाड़ पर ले चलूं। वहां जा कर तुम अच्छी हो जाओगी।"

मैंने कहा, "सचमुच अच्छी हो जाऊंगी ?"

"हां !"

मैंने कहा, "अच्छा, तो चलो।"

पहाड़ पर ला कर उन्होंने चौबीसों घंटे मुझे अपनी आंख के सामने रखना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी सेवा की कि वर्णन नहीं हो सकती। वह मेरे सिरहाने बैठे रहते, तो लगता प्राण-विसर्जन में भी मुझे वह अब दुःख नहीं है।

जरा सा हिलती-डुलती, कोई कार्य करती, तो वह मुझे सहारा दिये रहते। घंटों बैठ कर विभिन्न पत्रिकाओं से मुझे पढ़ कर कहानी सुनाते। भोजन करने बैठती, तो मुझे जरा सा भी कष्ट न हो, इसलिए वह स्वयं अपने हाथ से खिलाने बैठ जाते।

मन से सोचती, ओ री मुंहजली, तू इतना सौभाग्य ले कर इस संसार में क्यों पैदा हुई ? बता, क्या जरूरत थी ? तभी तो परमात्मा आज दोनों हाथों से तुझ से सब कुछ छीने लिये जा रहे हैं।

कभी एक अश्रु आंखों में दिखायी दे जाता, तो वह स्वयं आगे बढ़ कर मेरे सिर को अपने सीने से लगा कर चुपचाप उसे पोंछ देते। उस स्पर्श में क्या था यह मैं अब कैसे समझाऊं ?

जब जरा कुछ अच्छी हो गयी, तो पतिदेव ने एक दिन आ कर कहा, "चलें, अब घर वापस चलें।"

मैंने कहा, "चलो, तुम्हारे चरणों में रह कर मैं हर स्थान में बहुत प्रसन्न हूं।"

घर पहुंच कर सुना घर में विवाह की तैयारियां हो रही है। शुभ मुहुर्त्त भी छंट गया है। घर में इतना शोर-गुल है, रौनक है कि अन्त नहीं। देख कर मैंने उन से एकान्त में पूछा, "क्यों जी, ननंद जी का सचमुच विवाह तय हो गया है क्या ?"

"कहां ? मुझे तो कुछ नहीं मालूम।"

दिखायी पड़ा उन्होंने मुझे कुछ उत्तर नहीं दिया। वह एक मिनट

खड़े रहे। फिर मुंह फेर कर चले गये। अब मुझे समझना कुछ शेष नहीं रहा। घर की दासी बिन्दु ने आ कर बतलाया : छोटे बाबू का ही दूसरा विवाह हो रहा है, यानी मेरे स्वामी का, जिन्हें मैं अपने प्राणों से भी ज्यादा प्यार करती हूं।

रात को मैंने उनका कोट पकड़ कर प्यार से उन्हें अपनी ओर खींच लिया। वह सकुचाये खड़े रहे। मैंने हंस कर कहा, "छी: ! इतना दु:ख मान रहे हो ?"

वह अब भी चुपचाप खड़े थे। मैंने कहा, "दु:ख मत मानो। तुमने मुझे प्यार किया है यही मेरे लिये बहुत है। आखिर इस बीमार देह को ले कर तुम कितने दिन चल सकोगे बोलो ? मेरे कारण ज़रा भी दुखी मत होओ। मुझे मेरे पीहर पहुंचा दो। मैं वहां खुश रहूंगी।"

वह सुनते ही कमरे से बाहर चले गये। जानती हूं क्यों चले गये—सिर्फ आंसू छिपाने के लिये। मेरे पति जैसा पीठ दिखाने वाला आदमी संसार में कोई दूसरा नहीं है।

अपने घर पहुंच कर मुझे एक नया सुख मिला। इसी घर में तो मैं पैदा हुई हूं और बड़ी हुई हूं। लगा कि कुछ दिनों के लिये सिर्फ़ विदेश, कन्ता के घर चली गयी थी। मां ने मेरी बीमार देह को देख कर रोते हुये मुझे अपनी छाती से लगा लिया। अश्रु-सिंचित स्वर में कष्ट से पुकारा, "बेटी, यह क्या किया !"

उस घर की दासी बिन्दु ने, जो मुझे पहुंचाने आयी थी, अब शेष सारी बात कह दी। सुन कर पिता जी के क्रोध का आरपार न रहा। वह तुरन्त मेरी ससुराल जाने के लिये तैयार हो गये। मैंने रोते हुये मां से कहा, "मां, बाबू जी को वहां जाने से रोको। अब उसकी कोई जरूरत नहीं है। मैं अपनी इच्छा से वहां से आयी हूं। मैं अभागिन हूं। रोको, मां, मत जाने दो।"

दिन बीतते चले गये। उस घर की प्राणवायु बह बह कर यहां आ जाती और वह मुझे जिलाये रखती। सोचती उस घर में अब सभी कुछ बदल गया होगा। अब नयी बहू आ गयी होगी। पता नहीं वह कैसी हो। मेरी तरह सुन्दर हो अथवा न हो। वह मेरे पति के हृदय को खुश कर सकती हो अथवा नहीं। उसे क्या मालूम होगा मेरे पति की क्या जरूरतें है। मसलन, कौन से कोट के साथ वह कौन सी टाई लगाते हैं ? कौन सा जूता वह कब पहनते हैं ? चाय में कितने चम्मच चीनी डालते हैं ? घर से चलते समय किस जगह खड़े हो कर, चुपचाप मुसकरा कर उनको बिदा करना आवश्यक होता है ? अन्त मे रात के समय अपने सीने से

लगा कर कितनी देर उनके सिर को चुपचाप सहला देना जरूरी होता है, जिस से वह सो सकें ?

मैं ये ही बातें सदा सोचती। उस समय उनका मुख सदा आंखों के सामने घूम जाता। उस समय अनायास मेरी आंखों से कितने अश्रु बहते इसका वर्णन नहीं कर सकती।

घर आये छः महीने बीत गये। एक दिन सबेरे नौकर से आश्चर्य से मैंने सुना कि मेरे पतिदेव बाहर बैठे बाबू जी से बातचीत कर रहे हैं। सुन कर मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। पूछा, "कहता क्या है! वह कब आये ?"

उसने उत्तर दिया, "रात को तूफान से।"

हाय री, अभागिन! अब भी तेरा आकर्षण शेष नहीं होता ? मन में कहने लगी अब इस खींचतान की क्या जरूरत है ? क्या जरूरत है ? यह उनको शोभा नहीं देता। वह यहां न आयें तभी अच्छा!

अन्त में मुझ अभागिनी के स्वर्ग, मेरे देवता मेरे कमरे में आये। देखा मुख सूख रहा है, बाल उलझ रहे हैं, कपड़े भी ऊटपटांग पहने हुये हैं। रंग सांवला पड़ गया है। मुखश्री एकदम गायब है। देख कर मुझे चोट पहुंची।

मैं लेटी हुई थी। उनके आने पर मैंने हाथ बढ़ा कर उन्हें अपने पास खींच लिया और उनके हाथ को अपने हाथों में ले कर आंखें मूंद कर पड़ रही। कितनी देर इस तरह पड़ी रही कुछ कहा नहीं जा सकता। इसके बाद आंखें खोल कर मैंने धीरे से आर्द्र कंठ से पूछा, "यह तुमने अपनी क्या हालत बना रखी है ? तुम्हें क्या हुआ है ?" कहते कहते मेरा स्वर भारी हो गया। इसके बाद सहसा हंस कर बोली, "क्या नई बहू ने तुम्हें प्यार नहीं किया ?"

उन्होंने हंस कर उत्तर दिया, "नई बहू और पुरानी बहू में क्या कुछ अन्तर है, कुमू ? दोनों एक ही तो हैं।"

यह वाक्य मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने मन ही मन कष्ट पा कर कहा, "क्या सचमुच कोई अन्तर नहीं है ?"

"नहीं।"

"मैं और वह एक ही हैं ?"

"हां।"

इसके बाद वह हंस पड़े। शायद नेत्रों में अश्रु भर आये। स्नेह-सिंचित स्वर में बोले "मेरे एक ही बहू है, कुमू। जानती हो ?—जिसको मैंने सदा बहुत प्यार किया है, कालेज के दिनों में भी और बाद में भी।

जब तक वह मेरे हृदय में है, तब तक अन्य बहू की क्या मजाल जो घर में घुस सके !"

सुन कर, मैं चौंक कर मानो आसमान से गिर पड़ी। अत्यन्त आश्चर्य से मैं ने पूछा, "क्या तुम ने सचमुच दूसरा विवाह नहीं किया ?"

"नहीं।"

"तब इतने दिनों से तुम ने मुझे पत्र क्यों नहीं लिखा ? मुझे झूठे ही क्यों कष्ट देते रहे ?"

"मां की आज्ञा नहीं थी," कह कर वह गम्भीर हो गये।

मैं ने उलाहना दे कर कहा—"तो अब भी तुम क्यों आए हो ? अब भी वापस चले जाओ न।"

सुन कर वह हंसे। हास्य की विमल, स्निग्ध चांदनी मुख पर खिल आयी; बोले—"रत्ना का ब्याह जो है। तुम्हें लेने आया हूं।"

"किस का ? ननंद जी का ?"

"हां।"

मैं अब भी बीमार थी। बिस्तर से उठ भी नहीं सकती थी। अन्दर ही अन्दर क्षय रोग ने शरीर को नष्ट कर दिया था। कभी अच्छी होऊंगी इस की आशा भी नहीं की थी। मेरे पतिदेव ने कहा, "कुमू, तुम्हें हर सूरत से चलना ही होगा। थोड़ा साहस करो।"

मैं ने मन ही मन कहा, ठीक है। मैं अब कुछ दिनों की मेहमान हूं। अब तुम्हारे ही चरणों में मेरे प्राण निकलें यही अच्छा है। हरि इच्छा ! चलो।"

यहां घर पहुंच कर मालूम हुआ मेरे पतिदेव मेरा मान रखने के लिये ही मुझे जबरदस्ती यहां ले आये हैं। अन्यथा इस घर को अब मेरी जरूरत नहीं है। ब्याह के घर में मैं अशुभ हूं।

सास मेरे कमरे की ड्योढ़ी तक भी नहीं आयी। श्वसुर जी ने एक बार भी आ कर प्यार से नहीं पूछा, 'बहूरानी, कैसी तबियत है ?'

रत्ना, जिस का सात दिन बाद ब्याह है, अवश्य मेरे पास बैठी रहती है। उस का शरीर हल्दी से पीला हो रहा है और माता-पिता के घर को छोड़ने की विपुल वेदना से उस का मुख मुरझाया रहता है।

वह मेरे अश्रु पोंछ कर कभी कह उठती है—"भाभी, यह तुम ने क्या किया ?" मैं उस की ओर देख कर मुसकरा कर उत्तर देती हूं, "ननंद जी, यह पति के चरणों की देन है। जब तक तुम उन के चरणों में नहीं बैठोगी, तब तक इस रहस्य को नहीं समझ सकोगी।"

ब्याह की अनवरत तैयारियां हो रही हैं, और इसी तरह मेरी बीमारी

भी। मेरे पति ने शायद अब मुझे यहां ले आने की गलती महसूस कर ली है। एक ही घर में दो व्यक्तियों की एक साथ बिदा होने की परम प्रतीक्षित बेला अन्त में अचानक आ पहुंची है। शायद इस में जबरदस्त होड़ है।

मेरे पतिदेव का एक पैर मेरे कमरे में रहता है, दूसरा बाहर। मैं मन ही मन कह उठती हूं, 'ओ अभागिन, मरने के लिए भी तुझे क्या यही शुभ बेला मिली थी?'

ननंद जी के मुख को देख कर मेरा मस्तक शरम से झुक जाता है।

विवाह का दिन आ पहुंचा है। आज सवेरे ही डाक्टर ने आ कर कहा है—"अब कुछ ही घड़ियां शेष हैं। जो कुछ दान-पुन्य करवाना हो, करवा लो।" उधर दरवाजे पर ब्राह्मण बैठे हुए हैं। बारात की अगवानी का प्रबन्ध हो रहा है। शहनाई और बाजे बज रहे हैं। विपुल संगीत का नाद है।

यदि यमराज से मृत्यु से पहले भेंट हो सकती, तो मैं उन से बार बार प्रार्थना करती कि मुझे सिर्फ चौबीस घंटों की मोहलत दो। प्रभु, यहा मेरी अन्तिम प्रार्थना है। मेरे जीवन के खाते में एक दिन छल से बढ़ा दो।

पर इस तरह की प्रार्थना आत्म-प्रवंचना है। जो ललाट पर लिखा है वह तो होगा ही।

ननंद जी को सजाया जा रहा है। मैं ने बिन्दु से कहा, "दादी, ननंद जी को मेरे कमरे में ला कर ही सजाओ। मैं बतला सकूंगी कहां कितना शरीर ढंकना आवश्यक है। रात भर फेरों के समय बैठे हुये बहू की बुरी हालत हो जाती है। वह हिलडुल भी तो नहीं सकती।"

सुन कर बिन्दु रोते हुये बोली—"तुम यह सब करोगी, बहू!"

मैं ने कहा, "हां, बहन, मैं ही करूंगी। नहीं तो मेरे अलावा इस को अब कौन करेगा?"

उसी समय मुझे आज से पांच वर्ष पूर्व की अपनी बात स्मरण हो आई। ठीक ऐसा ही दिन था। कितना रंग! कितना सोना! कितनी सुगन्ध शरीर पर थी! उस दिन मुझे क्या मालूम था कि यह बहार किसी दिन रंग लायेगी।

रत्ना आ कर खड़ी हो गई। सब तरह का कष्ट सह कर, खड़े हो कर मैं ने उसे सजाया। जब सजा चुकी, तब उसे खींच कर अपनी छाती से लगा लिया। मेरी आंखों से अश्रु बहने लगे। रोते हुये मैं ने उसे बार बार गले से लगा कर कहा, "तुम अखंड सौभाग्यवती होओ, बहन। ईश्वर करे पति के चरणों में तुम्हारा अमर प्रेम रहे।"

अगले दिन बाहर शोर-गुल का अन्त नहीं था। डोली उठाने वाले

कहारों का स्वर सुनायी पड़ रहा था। इस में मेरे प्राण भी अटके हुये थे। मैं ने उसी समय बिन्दु को बुला कर कहा, "जा, बहन, दौड़ती हुई जा। देख वह कहां हैं। कहना एक मिनिट की भी देरी न करें। तुरन्त आयें। शायद मेरे जाने का भी समय आ पहुंचा है। हे राम !"

बिन्दु ने रोते हुये तुरन्त उत्तर दिया—"वह तो, दीदी, घर में नहीं हैं। बारात की बिदा का इन्तजाम करने के लिये दुपहर से ही स्टेशन गये हुये हैं।"

"स्टेशन गए हुए हैं !"

"हां।"

"हाय री, अभागित ! अन्त समय में भी उन के दर्शन नहीं हो सकेंगे क्या !"

रात के समय मैं ने अत्यन्त कष्ट से मुंह उठा कर पूछा, "वह आ गये क्या, बिन्दु।"

"नहीं, दीदी।"

मैं ने अधीर हो कर पूछा, "वह कहां गये हैं ? कब आयेंगे ? बताती क्यों नहीं ? बारात तो शायद शाम को ही विदा हो गई थी न ?"

उस ने कहा—"मालूम नहीं, दीदी। वेणी यह कह रहा था कि बारात के बिदा होते ही वह अपने किसी दोस्त के साथ मोटर में बैठ कर कहीं चले गये हैं।"

"चले गए !"

मैं मन में कहने लगी, हे मेरे देवता, तुम सचमुच क्या इतने कठोर हो ? तुम मेरे अन्तिम क्षणों में भी मेरे निकट नहीं रहे ! बोलो, मैं ने तुम्हारा क्या अपराध किया है ? जवाब दो। आंखों से अश्रु बहने लगे।

तीन दिन बीत गये। आंखें उन के पथ के ऊपर हर मिनिट बिछी रहतीं। प्राण निकलते हुये भी नहीं निकल रहे थे। लगातार मूर्च्छा आ जाती और फिर मैं चौंक कर, उठ कर पूछ बैठती, "क्या वह आये?" पर कोई उत्तर नहीं मिलता।

ऐसा कौन सा क्षीण आशा का तन्तु शेष था, जो मुझे अब भी इस संसार से नहीं जाने दे रहा था ?

इन पांच वर्षों में लगातार ही तो मैं ने किसी का वियोग सहा है। एक बार भी मैं ने उफ़् नहीं की। अब इस से अधिक एक मनुष्य क्या सह सकता है ? क्या तुम इतना भी नहीं समझते ?

अन्त में तीन दिन बाद चौथा दिन आया। ब्राह्म-मुहूर्त्त का समय था। एक लम्बी मूर्च्छा के बाद तुरन्त ही जागी थी। देखा कमरे में लोगों

की भीड़ की कमी नहीं है। काफी शोर-गुल है। घर के सभी लोग मौजूद हैं। मां खड़ी हैं और आठ आठ आंसू बहा रही हैं। मैं ने तो अपनी याद में सास जी को इतना रोते हुये कभी नहीं देखा। सहसा मैं ने सोचा न जाने क्या बात है? उन को कहीं कुछ हो तो नहीं गया, जो मां भी रो रही है! श्वसुर जी कुरसी पर बैठे हुए थे और उन का मुख स्नेह से ओतप्रोत हो रहा था। मालूम होता था वह अब मुझ से उतनी घृणा नहीं करते। शायद अपनी भूल समझ कर अन्त में मुझे आशीर्वाद दे देना चाहते हैं।

इस के बाद मुंह फेरते ही उन को देखा। सब के बीच में खड़े हैं। मेरे वह प्राणनाथ! धूल से भरे हुये और थके हुए। सिर नीचा है और शरम से मुंह उठा नहीं सकते। पर वह अकेले नहीं हैं। उन की गोद में कोई है!

यह कौन है? इस समय तो मुझे स्पष्ट दिखाई भी नहीं दे रहा है। आंखों की ज्योति भी गायब हो रही है। हे भगवान! कुछ देर और ठहरो। मेरी आंखों की ज्योति मुझ से मत छीनो। मैं चिल्ला कर बोली, "ए जी, तुम पास क्यों नहीं आते? आगे बढ़ आओ, जिस से मैं देख सकूं। सचमुच... तुम्हारी गोद में यह कौन है? क्या यह मेरा ही...? आगे बढ़ो न।"

उन्हों ने रोते हुए कहा—"कुमू, हां यह तुम्हारा चरण ही है। लो, मैं तुम्हारे चरण को वापस ले आया हूं। पांच वर्ष पहले कालिज के दिनों में अपनी एक भूल के कारण मैं तुम्हारे सामने अति लज्जित था और उस दिन मैं ने तुम से यह वादा किया था कि जिस दिन रत्ना का ब्याह कर चुकूंगा, उस दिन तुम्हारे प्राणप्रिय पुत्र को तुम्हें वापस लौटा दूंगा।" कहते-कहते उन का गला भर आया। रुक कर बोले, "पर उस दिन मुझे मालूम नहीं था कि मेरा वह प्रण तुम्हारे प्राणों पर आ बनेगा। पर मैं तुम्हारा बहुत आभारी हूं। लो, अब साहस करो, और मां और बाबू जी को प्रणाम करो। अब मैं तुम्हें इस संसार से जल्दी ही विदा नहीं होने दूंगा।"

● ● ●

★ श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण हंसमुख कलाकार हैं। छोटी ही आयु में पारिवारिक उत्तरदायित्वों को अपना कर उनके प्रति सजग रहता हुआ भी यह कलाकार बहुत जल्दी आगे बढ़ गया है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी भाई श्रीकृष्ण मूलतः व्यंग्य-नाटककार हैं। उच्च-कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में आपके नाटकों ने प्रमुख स्थान पाया है। शिल्प-विधान पर आपका पर्याप्त अधिकार है, और यही कारण है कि आपके अनेक रंगमंचीय नाटक रेडियो-नाटकों के रूप में परिवर्तित हो कर रेडियो पर आ चुके हैं। अनेक बार आपने एक ही प्लाट को नाटक व कहानी दोनों रूपों में लिखा है। अपनी इस प्रतिभा के बल पर आप दिल्ली की एक प्रमुख व्यावसायिक प्रकाशन-संस्था में पांडुलिपि-संपादक के रूप में काम कर रहे हैं और अपना काम कुशलता के साथ निभा रहे हैं।

चौबीस वर्ष के भाई श्रीकृष्ण के लगभग सौ नाटक व कहानियां प्रकाशित हो चुके हैं। तीन बालकथा-संग्रह, एक लघु पारिवारिक नाटक तथा एक व्यंग्य-नाटक-संग्रह 'तरकश के तीर' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। अनेक रेडियो-प्रहसन प्रसारित हो चुके हैं।

प्रस्तुत कहानी 'मुसकान' एक पारिवारिक कहानी है, जिसका दृष्टिकोण एकदम आधुनिक है। विषय इसका भी विवाह-पूर्व रोमांस से सम्बन्ध रखता है, किन्तु वह कहानी की पृष्ठभूमि मात्र है। विवाह-पूर्व रोमांस प्रायः मधुरता के साथ प्रतिफलित नहीं होता। आगे के जीवन में वह कौमार्य-काल की एक भूल-मात्र मान ली जाती है। यह कहानी इन दोनों ही स्थितियों की बीच की एक चीज ले कर चलती है। विवाह से पहले जिस से प्रेम किया था उस से विवाह न होने पर भी क्या उससे कोई रिश्ता नहीं रह जाता? कहानी की रीता उसका भेजा हुआ एक छोटा सा उपहार कैसे अस्वीकार कर दे? न करे, तो कौमार्य-काल की उस भूल के इस प्रकट चिह्न को कहां छिपा कर रखे और कौन सा गुप्त स्थान ऐसा है, जहां उसके पति की पहुंच न हो? चीज भी तो वह ऐसी है कि 'टिक टिक' करती है!

श्रीकृष्ण जी इस से सहमत नहीं कि उपहार देना-लेना नहीं चाहिए। न वह इस से सहमत हैं कि पत्नी को बेवफ़ा समझ कर सारा खेल ही बिगाड़ दिया जाए। वह जिस से सहमत हैं वही कहानी में देखने योग्य है। श्रीकृष्ण जी की यह कहानी एक सफल रचना है।

—४१३, पन्नावाली गली, फ़र्श बाज़ार, शाहदरा-दिल्ली।

● मुसकान

रीता ने पार्सल खोल कर देखा तो प्रसन्नता की रेखा मुख पर कौंध गई। एक नन्हीं सी लेडी-रिस्टवाच थी। साथ में परचा था, जिस पर लिखा था :

'रीता को सप्रेम'—

'दिनेश।'

रीता सोचने लगी शाम को जब 'वह' आयेंगे तब उन्हें दिखाएगी। लेकिन नहीं, उसके मन में तर्क-वितर्क उठने लगे।

वह निश्चय न कर पाई—इस घड़ी को पति को दिखाए या न दिखाए ? देख कर वह क्या सोचेंगे ? न जाने कभी कुछ और ही समझ बैठें। फिर इस घड़ी को अपने पास रखने से लाभ क्या ? लेकिन क्या आज ही ? निश्चय न कर पाने के कारण वह कमरे में इधर-उधर चक्कर काटने लगी।

अन्त में रीता ने उस घड़ी को गरम कपड़ों के बक्स में दबा दिया।

गर्मियों के बाद बरसात आई। सुबह से ही आकाश में काले बादल वर्षा के आगमन की सूचना दे रहे थे। दीवार-घड़ी ने टनटन करके दस बजा दिए। राजीव दफ्तर चलने लगा तो पत्नी से बोला :

"लाओ, जरा बक्स की चाबी तो दो।"

"क्या करोगे ?" रीता ने पूछा।

"बरसाती निकालूंगा।"

"लाओ, मैं निकाल दूं," रीता उठने लगी।

"नहीं, तुम बैठी रहो, मैं निकाल लूंगा।"

"मैं घिस तो नहीं जाऊंगी," रीता बोली।

बरसाती ले कर पति जब घर से बाहर निकल गया, तो धीरे-धीरे रीता के हृदय की धड़कन धीमी हुई। उसने फिर बक्स खोल कर घड़ी निकाल ली। बहुत देर तक उसे हाथ में लिए सोचती रही कि वह न ही आती तो अच्छा होता। आ गई है तो चोरी रखनी पड़ती है। दिनेश को वापस कर दे, तो वह उसे कितनी ओछी समझेगा ! छोटी बहन का विवाह हो रहा है, क्यों न उसकी शादी में उसे वह घड़ी भेंट कर दी जाए ? राजीव को क्या पता चलेगा ?

लेकिन जब तक विवाह का शुभ मुहूर्त्त आए, तब तक उसे कहीं न

कहीं रखना ही है। इधर-उधर दृष्टि डाली। अलमारी के ऊपर फूलदान ? अपना जेवरोंवाला डिब्बा ? और ऐसी कौन सी चीज हो सकती है, जिसका सम्बन्ध केवल उसी तक सीमित हो ? घूम-फिर कर उसने घड़ी अपने जेवरोंवाले डिब्बे में रख दी।

एक दिन राजीव को खाते-खाते ध्यान आया रीता की उंगली खाली है। "अंगूठी क्या हुई ?" राजीव ने पूछा।

रीता ने उंगली पर ध्यान दिया, तो सन्न रह गई। वह घबरा कर इधर-उधर देखने लगी। "निकल गई मालूम होती है।"

राजीव को यह नुकसान अखरा; वह बोला: "हूं, निकल गई ! कितनी बार कहा कि अंगूठी ढीली है, अभी उठा कर रख दो। पर सुनता कौन है ? अब दुबारा तो बन ली, बस।"

रीता चुप रही। राजीव बिना और खाना खाए उठ गया। नुकसान से लज्जित रीता चुपचाप रसोईघर में खाना बनाती रही।

थोड़ी देर में राजीव की कर्कश आवाज सुनाई पड़ी: "जरा सुनना तो !"

"आई," कह कर रीता ने तवे से परांठा उतारा और कमरे की तरफ दौड़ी। कमरे में घुसते ही ठिठक गई। उसके बदन में काटो तो लहू नहीं। राजीव हाथ में वही घड़ी और उसके साथ का कागज लिए बैठा था। कमरे का सारा सामान तितर-बितर हो रहा था। शायद राजीव ने अंगूठी ढूंढने के लिए कमरे की हरेक चीज को झाड़ा था। और हाय री कम्बख्ती ! आज ही उसे चाबी का गुच्छा भी कमरे में भूलना था। वह आंखें फाड़ कर राजीव के हाथ में थमी घड़ी को देखती रही।

राजीव ने आवश्यकता से अधिक शांत स्वर में पूछा, "कौन है यह दिनेश ?" रीता चुप, क्या उत्तर दे ?

सहसा ही राजीव की विचित्र शांति बिखर गई। वह चिल्ला कर तीव्र स्वर में बोला:

"बताओ, कौन है यह दिनेश ?"

रीता का बुरा हाल था। भीतर का सांस भीतर और बाहर का बाहर। वह कांप गई। उसने भरे हुए स्वर में कहा:

"जब मैं कालिज में पढ़ती थी तो मेरे साथ पढ़ता था। घर भी आया-जाया करता था। वैसे मेरी शादी में मौजूद था।"

"हूं," राजीव ने संदिग्ध दृष्टि से रीता के मुख की ओर देखा, "तुम ने उसे कभी घड़ी के लिए कहा था ?"

"नहीं," रीता ने शांत किन्तु भयभीत स्वर में उत्तर दिया।

"तो फिर उसने घड़ी क्यों भेजी ?"

'मुझे क्या मालूम ?" रीता ने कहा।

'तुम्हें नहीं मालूम ?" अविश्वास के स्वर में राजीव ने व्यग्य से कहा, "और तुम्हें क्या-क्या नहीं मालूम ?"

रीता समझी नहीं। वह अचकचा कर राजीव की ओर देखने लगी।

"तुम्हारा हाथ इसमें कहां तक था ? पत्र लिखा था उसे ?" राजीव ने पूछा।

"देखिए...." रीता ने सफाई देनी चाही।

पर राजीव ने उसे बीच में ही टोक दिया : "तो आपस में प्रेम था तुम दोनों का, था न ?"

रीता कुछ बोली नहीं। खिड़की के बाहर घनी छाया में ढके उपवन की ओर स्थिर दृष्टि से देखती हुई वह अपने दुर्भाग्य पर कराह उठी।

लेकिन एक बार राजीव ने जिस धागे को पकड़ लिया था उसे लपेटता ही चला गया। उसने पूछा :

"अब भी करती हो ?"

रीता उसी प्रकार चुप रही। इस निर्लज्ज प्रश्न का क्या उत्तर दे वह ?

तड़प कर राजीव ने पूछा, "तो उस से तुम्हारी शादी क्यों नहीं हुई ?"

इस प्रश्न से रीता चिढ़ गई। कुढ़ कर बोली : "शादी करना मेरे बस में नहीं था। जहां मां-बाप ने कर दी वहीं चली आई।"

"तो अब कर लो।" राजीव चमक कर उठ खड़ा हुआ। घड़ी वहीं छोड़ कर वह बाहर निकलता हुआ बोला : "कोई अरमान न रह जाए !"

अपना मुख दोनों हाथों से छिपा कर रीता सुबकती हुई बिस्तर पर गिर पड़ी। उसके नेत्रों का जल तकिए को भिगोने लगा।

घर से निकल कर राजीव बाजार की ओर मुड़ चला। और कहां जाए ? संसार में और उसका है कौन ? एक पत्नी पर ही विश्वास करता था, सो आज वह भी बह गया। सहसा वह चौंक उठा। किसी ने पुकारा था। वह इधर-उधर देखने लगा।

"हल्लो, राजीव बाबू," किसी मधुर कंठ की स्वर-लहरी सुनाई दी।

राजीव ने विस्मय से मुड़ कर देखा। एक युवती थी। सुन्दर, सलोनी, काले, रेशमी, घुंघराले बालोंवाली, हाथी-दांत सी श्वेत। राजीव ने उसे पहचाना नहीं। वह मूर्त्ति की भांति खड़ा रह गया। एक बार सरसरी निगाह से युवती की ओर घूर कर उसे ऊपर से नीचे तक नापा। फिर सहमी-सी आवाज में उसने कहा :

"माफ़ कीजिए, मैंने आपको पहचाना नहीं।"

सुन कर वह युवती हो–हो करके खिलखिला कर हंस पड़ी; बोली :

"वाह, राजीव बाबू, वाह! आपने तो कमाल कर दिया। अरे, मैं हूं गीता। आपके साथ पढ़ती थी न कालिज में ? भूल गए वे दिन ?"

"ओह!" राजीव ने मुख पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा, "आप तो जैसे बिल्कुल ही बदल गईं! पहचान में ही नही आतीं।"

उसे सब कुछ याद आ गया। गीता, कालिज की गीता, कालिज की शोभा, कालिज की कोकिला। गीता, वह लचलची बेंत, जो जिस पर बरस पड़ती थी उसका तो बस रेस्टीकेशन ही होता नजर आता था। और रेस्टीकेशन के उम्मीदवारों में वह स्वयं भी तो एक था। कितनी मुश्किलों से उससे सम्बन्ध बढ़ाया था। फिर तो वह उसके घर भी पढ़ने–पढ़ाने आने लगी थी। अरे, पढ़ना–पढ़ाना क्या था गप्पें लड़ती थीं—आज उसे सब कुछ याद आ गया।

और एक दिन एक खब्बीस से महाशय आए थे और गीता को कार में बैठा कर शान के साथ ले कर चलते बने थे। उसे उस दिन मालूम हुआ कि माली तो एक ही होता है और सब तो भौंरे होते हैं।

यह चुप्पी न जाने कितनी देर चलती कि गीता ने उसका हाथ पकड़ लिया : "चलिए, आज इस तरह खड़े-खड़े छुट्टी नहीं मिलेगी। आज तो घर चलना पड़ेगा।"

राजीव ने कहा : "नहीं, गीता, वहां तुम्हारे पति होंगे। पता नहीं, वह मेरा आना पसंद करें या नहीं।"

"आप इसकी कुछ चिंता न करें। वह तो आप से मिल कर खुश होंगे। मैंने उनको आपके विषय में सब कुछ कह दिया है।"

"सच ?" राजीव को आश्चर्य हुआ।

"हां," गीता ने विश्वास दिलाया।

"और उन्होंने कुछ भी नहीं कहा ?" राजीव की उत्सुकता बढ़ी।

"नहीं," गीता स्पष्ट स्वर में बोली, "मैं ने उनसे कुछ भी नहीं छिपाया। यहां तक कह दिया कि तुम मुझसे प्रेम करते थे और मैं भी तुम्हें चाहती थी। हम रात-दिन विवाह के मधुर स्वप्न देखा करते थे। लेकिन हमारे स्वप्न पूरे नहीं हुए...इस पर वह मुस्कराने लगे। 'तो उनको भी वर्षगांठ के दिन निमंत्रण-पत्र भेजो।' मैंने तुम्हें निमंत्रण-पत्र भेजा तो था। मुझे पूरी उम्मीद थी कि तुम आओगे। लेकिन नहीं आए। यदि आ जाते तो . ।"

गीता का मकान आ जाने के कारण वाक्य अधूरा ही रह गया।

राजीव ने एक नजर गीता की कोठी पर डाली। कितनी सुन्दर थी ! कितनी अच्छी ! वैभव की झिलमिलाती आकर्षक तसवीर।

गीता राजीव को ले कर अन्दर चली गई। बहुत ही सुन्दर कोठी थी। कीमती और खूबसूरत फरनीचर तथा दीवार पर लगे हुए कलात्मक चित्र उसके सौन्दर्य को और भी बढ़ा रहे थे। कमरे के बीच में एक खूबसूरत मेज थी। उसकी चारों ओर कुरसियां सजी हुई थीं। वे लोग वहां पर जम गए।

तभी टेलीफोन की घंटी बजी। गीता ने रिसीवर उठा कर कानों से लगा लिया :

"हैलो...हैलो।"

"हैलो, गीता, आज मैं तीन-चार घंटे की देरी से आ रहा हूं। इसलिए सिनेमा जाने का प्रोग्राम नहीं बन सकेगा," दूसरी ओर से गीता का पति कह रहा था, "तुम किसी तरह की फिक्र न करना। और देखो, मेरी प्रतीक्षा में भूखी न बैठी रहना। खाना खा लेना।"

"लेकिन यहां राजीव बाबू आपकी इन्तजार में बैठे हैं।"

"राजीव ?"

"हां, वही मेरे सहपाठी, जिनके बारे में मैंने आपसे एक बार जिक्र किया था। आज अचानक ही इनसे भेंट हो गई। आपसे परिचय कराने के लिए घर खींच लाई। क्या आप कुछ जल्दी नहीं आ सकते ?"

"जहां तक हो सकेगा जल्दी ही आने की कोशिश करूंगा। तब भी तीन साढ़े तीन घंटे तो लग ही जाएंगे। दफ्तर की एक फाइल गुम हो गई है। उसी के सिलसिले में अभी बड़े साहब से मिलने उनके घर जाना होगा। तुम मेहमान की अच्छी खातिरदारी करना। और हां, सुनो, जब तक मैं आऊं राजीव बाबू को सिनेमा दिखा लाओ।"

"अच्छी बात है," कह कर गीता ने रिसीवर रख दिया।

"क्या कह रहे थे ?"

"कह रहे थे कि वे तीन-चार घंटे की देरी से आएंगे और मैं तुम्हें ले जा कर सिनेमा दिखा लाऊं, मेहमान हो न !" गीता ने हंस कर कहा।

"सिनेमा !" राजीव चौंका, "क्या उनके बिना ही ?"

"क्यों, क्या हुआ ?"

"मैं सचमुच समझ नहीं पा रहा हूं, गीता, कि सब-कुछ जान-बूझ कर भी कैसे उन्होंने मुझे इतना आदर दिया और तुम्हें मेरे साथ जाने की अनुमति दे दी !"

"तो इससे क्या होता है ? हम दोनों एक दूसरे पर विश्वास करते

हैं। पति-पत्नी के आपसी सम्बन्ध को आप जितना कच्चा समझते हैं वास्तव में वह उतना कच्चा नहीं होता। वह इतनी सरलता से कभी नहीं टूट सकता," गीता ने गर्व से कहा।

"लेकिन यह विश्वास कभी अविश्वास में बदल जाए तो...?"

"तो क्या हुआ ? यह सुखमय गृहस्थी खाक में मिल जाएगी। लेकिन ऐसा कभी नहीं हो सकता। विश्वास पर तो दुनिया चलती है।"

राजीव की आंखें जैसे लज्जा से झुक गईं। उसे कुछ भूली-बिसरी हुई-सी बात याद आई और वह उठ खड़ा हुआ।

"कहां चल दिये अब ?" सहसा गीता का कोमल स्वर कानों में पड़ा।

"कहीं नहीं, बस अभी आया।"

"सिनेमा नहीं चलिएगा ?"

"जरूर चलूंगा। इतने तुम तैयार हो जाओ, मैं अभी आया।" और राजीव झपट कर चला गया।

घड़ी ने टन से साढ़े पांच बजा दिए। गीता ने खिड़की से बाहर झांक कर देखा, राजीव एक युवती के साथ-साथ मुसकराता हुआ इधर ही बढ़ा चला आ रहा था। युवती भी बीच-बीच में मुसकरा पड़ती थी।

कुछ देर बाद गीता पूछ रही थी : "आप का परिचय ?"

"आप मेरी पत्नी—रीता, और आप से मिलिये, आप मेरी पूर्व सहपाठिनी गीता। हा, हा, हा, कैसा संयोग है !" राजीव ठठा कर हंस पड़ा।

● ● ●

★ मंगल सक्सेना

बीकानेर की बालू-रेत में भाई मंगल का जन्म व पालन-पोषण हुआ और तेईस वर्षों से आप इसी रेत में घरौंदे बनाते चले आ रहे हैं। गत अठारह वर्षों से स्कूल-कालिजों की बालू भी आप ने छानी। पहले विज्ञान में बेचलर की उपाधि लेनी चाही और रपट जाने पर कला के माध्यम से साफ निकल गए। अब राजकीय विद्यालय, अजमेर में अध्ययन कर रहे हैं। पत्र-मित्रता व टिकट-संग्रह के उपयोगी व्यसनों से ले कर राजनीतिक मंच, क्रिकेट व छात्र-आंदोलनों की अगुआई तक के व्यसन आप को लग चुके हैं—और अब नए व्यसन लगे हैं कार्टून बनाने का और दिल खोल कर हंसने का। यों भाई मंगल का जीवन संस्कृति, खेल-कूद, राजनीति और कला के क्षेत्रों के बीच खानाबदोश का जीवन रहा है। मालूम होता है कुछ शायरी से भी दिलचस्पी रही है।

प्रारम्भ में कालिज के नाट्य-मन्त्री रहे, अभिनेता रहे, नेता रहे और पुरस्कृत भी हुए। पत्रकार का धन्धा भी अपनाया और नई सांस्कृतिक संस्थाओं का संगठन भी किया। मित्र सदा असाहित्यिक रहे और उन में प्रिय भी रहे, अप्रिय भी। मुंहफट होने के कारण पर्याप्त हानि उठाई, इस लिए अब झूठ बोलने की आदत सीख रहे हैं!

कुछ कहानियां और कविताएँ लिखी हैं, जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं और होती रहती हैं। इटालियन लेखक ग्रेजिया-द-बेदा के नोबुल-पुरस्कार प्राप्त नाटक 'मां' का अनुवाद भी आप ने किया है।

फूलों की निरंतर चाह रखने वाले भाई मंगल सक्सेना की प्रस्तुत कहानी 'प्यासी बेल—हँसती कलियां' हमारे इस पूंजी-युग के वातावरण की सजीव प्रतिच्छवि है। आर्थिक शोषण के इस भयङ्कर युग में परमाणु-बम की मार से विकलांग नर-नारियों से भी अधिक अपङ्ग व त्रस्त ऐसा जन-मानस पलता है, जो भीतर से प्यासा होते हुए भी बाहर से दूसरों की प्यास मिटाने का उपक्रम करता है, और इस रूप में जब उस जनमानस की नारी अपनी छोटी बहनों को ऊँचा उठाने के लिए स्वयं झुकती ही चली जाती है, तो एक ऐसा चित्र उभरता है, जैसा 'प्यासी बेल—हंसती कलियां' में। भाई मंगल सक्सेना की यह कहानी सिद्ध करती है कि भले ही आज का नव-कथाकार बिखरा हुआ, असंगठित व निहित स्वार्थों के कुचक्र के कारण उपेक्षित हो, किंतु उस का अन्तर कला के माध्यम से नए रूप, नए प्रतिमान प्रस्तुत कर रहा है।

—शिमला भवन, बड़े डाकखाने के पीछे, अजमेर (राजस्थान)।

● प्यासी बेल : हंसती कलियां

गुलाबी सरदी पड़ने लगी थी।

स्नेहलता बाहर हल्की-हल्की धूप में, मोढ़े पर बैठी, विचारों में डूबी सामने ताक रही थी। उस के हाथ अनवरत स्वेटर बुनते जा रहे थे।

सामने की दीवार की जड़ में से कोई बीज फूट कर बेल के रूप में बाहर निकल आया था। वह बेल अब काफी फैल गई थी। आसपास कोई सहारा, वृक्ष या बांस नहीं था। स्नेह ने कई बार सोचा कि वह एक बांस गाड़ कर इस बेल को सहारा दे दे। मगर कभी इतनी फुरसत ही नहीं मिली। मन कभी इतना निश्चिन्त हुआ ही नहीं कि बेल के लिये भी कुछ किया जाता। पर, जैसे जीवन की उद्दाम लालसा इस बेल को ही मिली थी। धरती पर फैली-पसरी जा रही थी। इधर-उधर बिखरे कंकरों-पत्थरों और लोहे के जंग लगे गटरों पर चढ़ती-उतरती, मस्ती से नई-नई कोंपलें और नये-नये किसलय निकाले जा रही थी। हरे-हरे पत्ते और उन के बीच से निकलती तन्तुओं की सर्पाकार रेशमी डोरियां, जो अपनी मजबूती में रस्सों को भी मात किये दे रही थी। स्नेह ने देखा अब बेल में तीन-चार कलियां भी निकल आई थीं, दो-चार दिन में ही फूल भी निकल आयेंगे।

दीवार पर काई जम गई थी, और ऊपर वालों के मकान की नाली से बह कर आता पानी बेल पर भी जब-तब बिखरता रहा था। जड़ नहीं, देह सींची जा रही थी। यह देह-सिंचन कहीं बेल को गला न दे!...

स्नेह को झुंझलाहट हुई। जब भी वह यहाँ बैठती है उसे रह-रह कर मुई इस बेल का ही ध्यान क्यों आता है?

आज छुट्टी का दिन है उस के लिये। आज वह दूकान पर नहीं जायेगी। कमल कालिज गई है। उस की बायलॉजी प्रेक्टीकल की एक्स्ट्रा-क्लास है। सुबह जल्दी उठ कर स्नेह ने नाश्ता तैयार किया। विमल भी सुबह-सुबह बाहर निकल गई है। वह अपनी सहेली के यहां गई है। कहती थी रानी के जीजा जी आये हैं। वह कंचन के शहर में रहते हैं, और कंचन के पति के साथ ही दफ्तर में काम करते हैं। कंचन स्नेह की छोटी बहन है।

कंचन का कुछ दिनों पहले ही खत आया था। सब अच्छी तरह हैं। स्नेह की उंगलियां कुछ क्षणों को रुकीं। उस के होंठों से एक सर्द आह नि[illegible] अभी तो दो बहनों की शादी और करनी है। कंचन की तो

जैसे–तैसे उस ने अपनी कमाई की जमा–पूँजी और मां के बचे हुए गहनों से कर दी थी, मगर कमल और विमल की ?

उस के कोई भाई नहीं है। पर नहीं है तो नहीं है। अब क्या किया जाय ? क्या भाई बिना जीवन नहीं चलता ? अपनी छोटी बहनों के लिए तो वह भाई ही है, वृद्धा मां के लिए तो वह लड़का ही है। अपने मालिक के शब्दों में तो वह 'माई सेल्सबॉय' ही है।

गुलाबी सर्दी में हल्की–हल्की धूप कितनी अच्छी लगती है ! उस के शरीर में फुरहरी उठी और उस ने एक अंगड़ाई भरी। अब नहीं बुना जाता। वह उठ कर अन्दर कमरे में आ गई। मोढ़ा बाहर ही पड़ा रहा। अब तक तो कमल को लौट आना चाहिए था...और विमल को भी। खाना आज मां ही बना रही थी।

यूँ खाना मां ही बनाया करती है, मगर छुट्टी के दिन वह स्वयं ही जबरदस्ती बनाती है। सब को—दोनों बहनों को और माँ को सामने बैठा कर प्रेम से खिलाती है। खिलाते वक्त वह न जाने कितनी और कैसी-कैसी बातें कर जाती है—दूकान की, सेठ की, नौकरों और ग्राहकों की—लेकिन उस की बातें इतनी फैली हुई, खुली हुई होती हैं कि उन में कभी कोई व्यक्ति या वस्तु नहीं उभरती। कभी कोई सपना या कामना का फूल अपनी सुगन्ध नहीं बिखेरता। मां देखती रह जाती है अपनी इस सब से बड़ी बेटी को। मां सोचती है, बेटी यह है, मां मैं हूं...मगर यह कितनी गम्भीर और...और बुजुर्ग हो गई है। मां के दिल की जबान पर 'बूढ़ी' शब्द आ कर अटक जाता है ! स्नेह भरी जवानी में बूढ़ी–सी बातें, बूढ़ों की–सी जिम्मेवारी सम्भाले हुए है !

कमरे में खड़ी स्नेह ने सोचा—कमरा सुबह–सुबह साफ किया था; फिर भी साफ लग क्यों नहीं रहा है ? सब ओर निगाहें दौड़ाईं। कहीं कोई अव्यवस्था नहीं, कहीं कोई तिनका नहीं। एकाएक उस की नजरें मेज के पाये के पास, पीछे की ओर पड़े, गुड़ी–मुड़ी हुये एक कागज पर पड़ीं।

स्नेह ने उसे उठा लिया। कागज का यह टुकड़ा शायद वह फेंकना भूल गई थी। नजरों से चूक गया होगा।...अचानक कागज पर सामने ही लिखे शब्दों से उस की उत्सुकता उसे खोलने की हुई। वहां लिखा था... 'मेरी जान की कसम'. आधा खोल कर वह रुक गई। सोचा वह यों ही मसोस कर फेंक दे उसे। होगा कोई कागज। मगर यह यहां कैसे ? इस में क्या लिखा है ? उत्सुकता दबाई न जा सकी। उस ने खोला, एक फटा हुआ टुकड़ा था वह ! लगता था जैसे किसी पत्र का फाड़ा हो, मसोसा हो

और सब टुकड़े फेंक दिये हों—एक वही रह गया हो भूल से।

उस ने पढ़ा। लिखा था : 'मैं जी न पाऊंगा, अगर तुम न मिलोगी मुझे। मेरे जीवन की अभिलाषा—आकांक्षा—महत्वाकांक्षा सब कुछ तुम हो—तुम! तुम्हारे बाद और कुछ है – विश्व है, सुख है, समृद्धि है—सब कुछ है। तुम यह न कहो कि तुम गरीब हो। तुम्हारी बहन तुम्हारी परवरिश करती है। मैं, मेरी जान की कसम, उस देवी से, तुम्हारी उस देवी बहन से तुम्हें माँग लूंगा। मुझे विश्वास है कि वह इनकार न करेंगी। उन का हृदय अवश्य दया का, स्नेह का सागर होगा। मेरे हृदय की धड़कन, देवी मुझे अवश्य वरदान देगी।'

जैसे-जैसे वह पढ़ती गई स्नेह के शरीर में फुरहरी सी, लहरें-सी उठीं और हृदय में जा कर विलीन हो गईं। हृदय में, कहीं किसी कोने में शून्य-सा फैल गया। फिर वहाँ एक बुलबुला उठा; एक टीस उठी, जो व्यापक हो कर उस की रग-रग को खींच गई। पीड़ा से उस की पलकें झप गईं। देवी! —उस ने फिर पढ़ा—देवी! उस ने फिर सोचा. देवी! उस ने महसूस किया—बस! वह देवी है—उस की टीस उस के तन के कण-कण से फूट पड़ने को हुई। मगर फिर वह एक मुसकान के रूप में अंकुरित हुई। इसी तरह उस की पीड़ा अकुरित होती है, फलती है, फूलती है। वह मुसकाती है, हंसती है और फिर अनवरत कार्य में लग जाती है। उसे क्या हो गया है? क्या वह मशीन हो गई है? नहीं! उस ने स्वयं को उत्तर दिया। नहीं, उस की संवेदनायें मर नहीं गईं। नहीं, वह भी मानवी है। मगर... देवी!...देवी!

लेकिन यह पत्र किस का है? और किस को है? क्या उस की बहनें अपने जीवन के उद्देश्यों को भूल कर प्रेम के पचड़ों में पड़ रही हैं? किन्तु किसी ने भी आज तक उसे कुछ नहीं कहा? ये तो दोनों ही उस से बहुत स्नेह करती हैं। रात को सोने से पहले, खाते वक्त, काढ़ने-बुनने के वक्त अपने कालिज की बातें करती हैं, अपने सहपाठियों की, अपने प्रोफेसरों की बातें करती हैं। लेकिन अपने प्यार की बातें तो उन्हों ने कभी नहीं की... क्यों? क्या यह कागज गलत जगह उड़ कर आ गया? उस की बहनें उस से कुछ छिपा भी सकती हैं, उसे विश्वास नहीं हुआ...और फिर, यह पत्र किस बहन के पास आया है? इस में तो नाम नहीं। पूरा पत्र भी यह नहीं। उस की कौन सी बहन बहक गई है यह वह कैसे जाने?

एक भय की भावना-सी एकाएक उस के शरीर में व्याप गई। कहीं कोई बहन भटक गई, कुछ कर बैठी तो (यह असहाय,) अकेली, कैसे दुनिया का सामना करेगी? आज कम से कम कोई उस की-और, उस की बहनों

की ओर उंगली तो नहीं उठा सकता । क्या हुआ यदि वह कमाती है, पुरुषों में जाती है, पुरुषों से बोलती है ? वक्त के खूनी नाखूनों से जूझना उस को पड़ता है । वह बहादुरी से लड़ती है, ताकि उस की प्यारी बहनों को खरोंच न लग जाय । वह सब–कुछ सहन कर सकती है, हर तरह संघर्ष कर सकती है । मगर बदनामी !

सामने से चार लड़कियां चली आ रही थीं । उन में दो उस की बहनें थीं, दो उन की सहेलियां । वे आपस में कुछ बहस कर रही थीं, ऐसा प्रतीत हुआ । बीच–बीच में वे जोर से हंस पड़ती थीं ।

वह कुर्सी पर बैठी थी । अब इस कमरे से दूसरे कमरे में आई, नहा कर पहनने के कपड़े और तौलिया लिया । तब वह स्वयं को बेफिक्र–सा दिखलाती हुई गुसलखाने में चली गई ।

जब वह नहा कर निकली तो उस ने देखा उस की बहनें अपनी सहेलियों के साथ हंसी–मजाक करने में मग्न हैं । मां रसोई में ही है । शायद खाना अभी पूरा बना नहीं है ।

आज उसे पहली बार इच्छा हुई कि वह इन लड़कियों की बातें सुने— वे बातें जो ये आपस में करती हैं । अवश्य वे बातें ऐसी होती होंगी, जो उस ने कभी नहीं सुनी, जो उसे कभी नहीं सुनाई गई । कमरे के अन्दर वाले द्वार के पास ही खड़ी हो कर वह अपने बालों को कपड़े से पोंछने लगी ।

कमल की एक नटखट सहेली मजे से कह रही थी :

"काला भोंदू–सा, कद्दू-फद्दू–सा बैठ गया मेरे पास की कुरसी पर ! अपने सामने की प्लेट मेरी ओर खिसका कर कहने लगा : 'जी, यह आप ही ई ई खा आ आ लीजियेगा । इस में लाल मिर्च हैं !' मैं ने कहा—'क्यों ? आप का मुंह जल जाता है ?' बोला—'नहीं जी, मैं काली मिर्च खाता हूं । डाक्टर ने कहा है यही खाओ !' मैं ने कहा—'तभी तो !' बोला, 'क्या ?' मैं ने भी भी कह ही दिया, 'तभी काली मिर्च आप की रग-रग में फैल गई है ।' बेचारा बुरी तरह झेंप गया । मैं तो फौरन उठ कर 'सर्व' करने वालों में हो गई ।"

औप कमल की यह सहेली ठठा कर हंसी ।

स्नेह ने जरा झुक कर कमरे में देखा । उस के गालों पर अधिक लाली छा गई थी । हंसने के कारण उस की आंखें मिच–मिच जाती थीं और वक्ष उभर–उभर जाते थे और सामने की कुर्सी पर बैठी कमल इतने प्यार से उसे देख रही थी मानो . . .मानो. . .।

स्नेह के सिर में एक धक्का–सा लगा ! रक्त की गर्मी महसूस हुई । तभी उसे सुनाई पड़ा, कमल की दूसरी सहेली कह रही थी : "चुप भी कर,

निगोड़ी ! नेही दीदी पास के ही कमरे में हैं । रोज़ी, तू बहुत शैतानियां करने लगी है ! अब तेरी शिकायत करनी पड़ेगी दीदी से ।"

रोज़ी की हंसी तो रुकी । मगर वह फुसफुसा कर जो बोली, स्नेह को वह भी सुनाई दिया : "अरी कमबख्त !

"न गुल खिले, न उन से मिले, न मय पी है,
"अजीब रंग में अब के बहार गुज़री है ।

"क्या शिकायत करेगी तू ? कहेगी कि रोज़ी के लिए ?"

"अच्छा, अच्छा, चुप भी कर । दीदी क्या सोचेंगी—ये लड़कियां पढ़ने-लिखने जाती हैं या शेरो-शायरी सीखने !"

"यह ले, हम चुप हो गये । तू नहीं चाहती तो नहीं बोलेंगे । पर मेरे गले की कसम, एक शेर, बस एक शेर और कहने दे ।"

और बिना अनुमति पाये ही रोजी फिर कलाकारों की तरह हाव-भाव दिखा कर शेर कहने लगी :

"लड़कपन जिद में रोता था, जवानी दिल को रोती है,
"न जब आराम था साकी, न अब आराम है साकी ?"

शेर सुनाते-सुनाते रोजी ने शायद कमल के चिकोटी काट ली । कमल चीख पड़ी और एक धप लगाई रोजी की पीठ पर । इतने में स्नेह भी स्वयं-चालित, निष्प्रयोजन कमरे में आ गई । धप के जोर से या स्नेह को देख कर रोजी मेज पर से कूदी । "ओह, दीदी ! देखो, दीदी, कमल मारती है । दीदी, मेरी पीठ में इतने जोर का घूंसा मारा है कि देखो मैं 'हंच-बैक' हो गई हूं ।"

रोजी एक कुबड़े की तरह खड़ी हो गई । उस की पीठ धनुषाकार हो गई ।

कमल अपनी बांह सहला रही थी ।

स्नेह ने अपनी दृष्टि रोजी की ओर से हटा ली । वह कमल की ओर भी नहीं देख सकी । उस ने आभा से कहा :

"आभा, यह रोजी क्या कालिज में भी इसी तरह शैतानियां करती है? पकड़ा देना इसे इस बार किसी सिपाही को ।" और स्नेह हठात् चुप हो गई । आज तक उस ने अपनी छोटी बहनों या उस की सहेलियों में ऐसे खुल कर बात नहीं की थी ।

पर वहां उपस्थित लड़कियां उस का चौंकना भांप न सकीं । रोजी के पिता पुलिस अफसर थे । आभा बोली—"दीदी, इस के तो अब जल्दी ही हथकड़ियें पहनाने को कल ही चाचा जी से कहना है मुझे जा कर ।"

विमल अब तक चुप थी । इस बार वह बोली—गम्भीर वाणी में,

"हथकड़ियें पहनते ही उम्र भर की कैद हो जायेगी, रोजी !सोच ले।"

परन्तु रोजी रोजी ही थी। अदा से झुक कर बोली, "दीदी, 'एक्सक्यूज़ मी, प्लीज़'। यह तो मैं कालिज के ड्रामे में आभा का पार्ट अदा कर रही थी।"

'बेशरम! ठहर तू!" आभा बनावटी क्रोध से उठी।

रोजी भाग कर स्नेह से लिपट गई।

स्नेह के सिर में फिर धक्का लगा। फिर उस के शरीर में रक्त का वेग बढ़ गया। उसे रोजी के हृदय की धड़कनें महसूस हुईं। उसे लगा जैसे रोजी का शरीर अंगारों का फूल है, जो कोमल भी है, लेकिन दहकता हुआ भी। लेकिन उस ने रोजी को हटाया नहीं; अपने शरीर से सटा रहने दिया।

आभा खड़ी रह गई। उस का घूंसा उठा रह गया—मां द्वार पर खड़ी थी।

"लड़कियों, तुम्हें भूख नहीं लगी? आज खाने की भी छुट्टी है? चलो, मैं खाना लाती हूं, खाओ सब जने!"

मां आंचल से पसीना पोंछती जाने लगी। रोजी स्नेह को छोड़ कर मां के पीछे-पीछे लपकी। "मम्मी जी, मम्मी जी, हम आप का हाथ बंटायेंगी।"

खाना खा चुकने के बाद और सब लड़कियां तो फिर बाहर के कमरे में आ गईं, किन्तु स्नेह रह गई।

उस ने सामने की आलमारी में से बुना जाने वाला स्वेटर उठा लिया और उंगलियां और सलाइयां चलाने लगी। बैठने की इच्छा न हुई; खड़ी रही, और बुनती रही।

बैठक में से उस की बहनों और उन की सहेलियों की बातें उसे सुनाई पड़ रही थीं।

उस की बहन कमल कह रही थी, "मैं तो डाक्टर बनूंगी। मेरे जीवन का पहला उद्देश्य यही है। फिर सोचूंगी और कुछ।"

रोजी कह रही थी, "तू मरीजों के दिल की धड़कनें अपने 'स्टेथेस्कोप' से सुनना।"

"फालतू बातें हैं।" कमल का स्वर गम्भीर था।

आभा का स्वर फैला, "एक बात है, कमल। यह तो लगता है कि राकेश सच्चे दिल से तुझे चाहता है। एक तू है कि कभी नजर भी नहीं उठाती। आखिर क्या बुरा है? तू डाक्टर बनेगी, वह कवि है, दोनों दो धारायें ले कर उतर पड़ना संसार में। दोनों नाम करोगे। सब देखते रह

जायेंगे ।"

कुछ पलों के लिए चुप्पी छाई रही । बात बहुत गम्भीर हो चली थी, कमल का स्वर उभरा । वह भर्राया हुआ था । "आभा बहन ! जिन्हें आकाश में सितारों की तरह चमकने वाला भाग्य नहीं मिलता, उन्हें धरती पर अंगारों की तरह जलना पड़ता है और अन्तर ही क्या है दोनों मे ? जलते तो दोनों ही हैं । हां, एक टूट कर बादलों में रंगीनी बिखेरता कहीं खो जाता है और दूसरा जब अपनी सामर्थ्य गंवा देता है तो राख हो जाता है । एक को प्रकाश मिला है, एक को केवल जलन ! हमारी दीदी हमारे लिये कितना दुःख उठाती हैं ? क्या मैं भावुकता में खो कर अपनी दीदी को अकेली छोड़ जाऊं ? नहीं, यह मुझ से नहीं होगा । मैं तो अपनी पूज्य दीदी के साथ ही सदा रहूंगी ।"

"कमल !" स्नेह बुदबुदायी, उस के हाथ रुक गये । पूज्य दीदी ! पीड़ा फूट आई । पूज्य दीदी ! तू सदा अकेली रहेगी ! तभी तो, तभी तो कमल को तेरे साथ रहने की आवश्यकता अनुभव हुई । फिर टीस, पीड़ा कचोटने लगी उसके हृदय को । लम्बी सांस खींच कर उस ने फिर स्वयं को संयत किया ।

बैठक में गम्भीर बातों का बोझ शायद इतना बढ़ गया था कि कोई भी अब बोलने का साहस नहीं कर पा रही थी ।

स्नेह के मन के एक रूप ने प्रश्न किया—'तेरे रहते तेरी छोटी बहनें यों दुखी हों ! इन के जीवन में यह गम्भीरता क्यों ? इन के तो हंसने, खेलने, खाने के दिन हैं ।'

स्नेह के सारे तन में एक हिलोर-सी उठी—वह घर के और किसी व्यक्ति पर संघर्ष की डरावनी छाया नहीं पड़ने देगी ।

वह कमरे में घुस आई, सब लड़कियां अपने-अपने विचारों में खोई हुई थीं ।

"क्यों, कोई शोक-सभा हो रही है क्या ? क्या हो गया, री रोजी, तुझे ? कहां गया तेरा चहकना-फुदकना ?"

"अरे दीदी ! क्या बताऊं ? मुझे तो ऐसा लग रहा था जैसे किसी नौजवान से फेरे डलवा कर किसी बुड्ढे के साथ भेज दिया हो । मैं तो बुढ़िया हो गई थी बुढ़िया," और रोजी उठ कर बुढ़िया की तरह चलने लगी ।

फिर तो वह ठहाका लगा कि सब कुछ बह गया । वह विषाद, वह उदासी, जीवन-संघर्ष की घुटनशील छाया—सब बह गए ।

स्नेह ही फिर बोली । उसे यह भी तो पता लगाना था कि वह खत उस की किस बहन का है । उसे अब लग रहा था कि कमल का होगा । पर

फिर भी उस ने चतुराई से जानना चाहा ।

बोली—"हम ने, भई, कमल के लिये एक लड़का देखा है । अब हम जल्दी ही कमल की भी शादी कर देंगे ।"

"मैं तो डाक्टर बनूंगी । मैं नहीं करूंगी शादी-वादी," कमल ने उसी गम्भीरता से कहा ।

"नहीं कैसे करेगी ? हम जबरदस्ती कर देंगे," रोजी ने कहा ।

"नहीं करेंगे । बस हम ने कह दिया," कमल बोली ।

"अच्छा, क्या तू दीदी का कहना भी टाल देगी ?" आभा ने सहसा ही प्रश्न किया ।

कमल इतना ही बोली, "दीदी की बात और है । मगर मैं पहले डॉक्टर बनूंगी ।"

स्नेह समझ गई । बात फिर बोझिल हो गई है । उस ने उसी पुलकते स्वर में कहा, "अच्छा, तो हम उस लड़के से विमल की शादी कर देंगे ।"

"मैं...मेरी ?" विमल चौंक पड़ी ।

वह अपने बारे में अचानक हुए इस निर्णय से विस्मित भी थी और स्नेह को लगा विमल घबराई सी भी है ।

"क्यों ? क्या तुम अपनी दीदी की जिम्मेदारियों को कम नहीं होने दोगी ?" स्नेह ने पूछा ।

"नहीं, यह बात नहीं, दीदी । पर मेरी शादी अभी, दीदी...पढ़ तो लें । कोई शादी से ही जिम्मेदारी कम होती है ?"

"क्यों नहीं ? आखिर एक दिन तो तुम्हें शादी करनी ही है ।"

कहने को तो स्नेह कह गई । पर उसे लगा बात हल्की-फुल्की नहीं है; हास्योत्तेजक भी नहीं है । तभी विमल के मुंह से निकल पड़ा, "दीदी, फिर तुम ने क्यों नहीं की अभी तक शादी ?"

"विमल !" स्नेह इस प्रकार के प्रश्न के लिये तैयार नहीं थी । यह अप्रत्याशित ही था । उस का स्वर अनायास ही कठोर हो गया ।

विमल ने अपनी जबान काट ली । कमल उसे क्रोध से देखने लगी । उस की इच्छा हुई विमल को उस के दुस्साहस पर डांटे । इतनी स्नेह-सलिला बहन और उस से सवाल-जवाब !

विमल मन ही मन संकुचित हो गई । बात संभालने के लिए बोली, "मेरा मतलब था, दीदी । मैं तो शादी नहीं करूंगी । पढ़ूंगी, फिर कमाऊंगी और तुम्हें कुछ काम न करने दूंगी ।"

"तू नासमझ लड़की है," स्नेह ने इतना ही कहा । वह वापस लौट आई । न जाने क्यों उस की आंखों में पानी आ गया था । वह अपनी भीगी

आंखें उन लड़कियों को नहीं दिखाना चाहती थी । वह कमरे की चौखट के सहारे चुपचाप खड़ी, अपनी मां को बरतन मलते देखती रही । दो आंसू बह कर कपोलों पर आ गये थे । हृदय में उठी टीस तन-मन में व्याप्त होती जा रही थी । सम्पूर्ण देह में फैलते ही सब कुछ ठीक हो जायेगा, सब कुछ । एक बांह को उस ने इस तरह सिर पर घेर लिया कि आंखों को जब चाहे फुर्ती से पोंछ ले । कोई देख न ले उस की कमजोरी !

सूर्य उस के मकान के पीछे चला गया था । वह सुबह की ही तरह मोढ़ा डाले बैठी बुन रही थी । दिन की धूप से बेल की पत्तियां कुछ कुम्हलाई लग रही थीं, और कलियां ? 'हाय ! एक कली कहां गई ?' स्नेह धक् से रह गई ।

एक कली मय कुछ पत्तियों के किसी जानवर ने चर ली थी । स्नेह को बड़ा क्रोध आया । सोचा वह यहां बाढ़ लगा दे । फिर ख्याल आया— यह उस की जमीन तो है नहीं । वह क्यों बाढ़ लगायें ? और उस ने बांस ही कौन सा गाड़ दिया ?

लेकिन उस को विश्वास था कि वह बेल लाख अड़चनों में भी फूलेगी–फलेगी अवश्य । कल ये दो कलियां तो फूल बनेंगी ही ! और कल कोई फूल टूट गया तो, एक जो बचेगा, वह तो फल बनेगा ही, और फल भी कोई चर गया ?—उंहू ! वह फिर झुंझलाई, वह ऐसी बातें सोचती ही क्यों है ? क्यों वह इस बेल का विचार करती है ? वह मोढ़ा फेर कर बैठ गई । बुनती रही, बिना कुछ सोचे । शून्य-सा उस के दिमाग में व्याप्त था और वह थी कि बस बुनने से मतलब—बिना सोचे, बिना रुके ।

धुंधलका हो गया था । स्नेह मोढ़ा उठा कर कमरे में आ गई । घर की बत्तियां जल गई थीं । कमरे में बिजली की रोशनी थी, और कमल अब भी पढ़ रही थी । स्नेह ने कमल के चेहरे को गौर से देखा । आज वह प्रयत्न कर के भी नहीं जान पाई कि वह खत किस का है । हां, अब भी उसे कमल पर शक था । मगर कमल के मुख की मसीहों की-सी शान्ति उसे यह मानने नहीं देती थी ।

रात का खाना खाने और सोने तक कोई भी खास घटना नहीं हुई । हां, आज उस की दोनों ही बहनों पर मौन की छाप लगी थी । विमल कुछ उदास थी । शायद दुःख मना रही होगी कि उस ने गलती से बड़ी बहन को क्या कह दिया । स्नेह को उस पर दया आई । उस के हृदय का प्यार उमड़ पड़ने को हुआ । पर उस ने अपने पर काबू किया ।

खाना खा कर भी कमल पढ़ने लगी । लेकिन विमल आज नहीं पढ़ी । वह जा कर लेट गई अपनी खाट पर । मां कुछ देर बैठी रही कमरे

में। पर उसे कमरे का वातावरण कुछ बोझिल-सा लगा। बोली, "बेटी, मैं ज़रा मन्दिर तक हो आती हूं।"

"मां, साढ़े नौ हुए हैं! अब मन्दिर ?" स्नेह ने कहा।

"अच्छा तो ले, नहीं जाती। कमरे में उमस है। मैं बाहर सो लूं ?"

"मां, ठण्ड है, बाहर तुझे ठण्ड लग जायेगी।"

हल्की सरदी तन-मन को अच्छी लग रही थी। मां ने कहा, "नहीं री! मैं सोऊंगी थोड़े ही। यूं ही बाहर लेट रहूंगी। कुछ अधिक ठण्ड हुई तो अन्दर आ जाऊंगी।"

"चल, मां, मैं भी तेरे हां पास बैठती हूं। तेरे हाथ-पांव ही दबा दूंगी। आज तो तू थक गई होगी," स्नेह ने कहा।

"लो, और सुनो इस लड़की की बातें! मैं थक गई होऊंगी ? तू तो जैसे लोहे की बनी है। थकती ही नहीं। क्यों न ?"

मगर स्नेह नहीं मानी। वह बाहर मां के खटोले पर ही आ बैठी। मां ने हाथ-पांव नहीं दाबने दिये, तो वह धीरे-धीरे मां का सिर ही सहलाती रही। सिर में मां के अक्सर दर्द हो जाता है। मानसिक कमजोरी है। बुढ़ापा है।

मां को अच्छा लगा। वह चुप रही। स्नेह सहलाती रही और देखती रही सामने की दीवार पर जहां चांदनी छिटक आई थी।

कुछ चित्र उभरे: कमल दुल्हन है और कोई युवक दूल्हा। कमल का मुंह सफेद था। वह जैसे जबरदस्ती शादी कर रही थी। और तब स्नेह को दिखाई दिया; कमल और वह युवक कलह कर रहे हैं। वह युवक कमल पर हाथ उठाता है। नहीं! नहीं! ऐसा नहीं होगा। ऐसा नहीं हो सकता।

स्नेह के अन्तर्मन ने कहा—तू क्या अपनी बहनों के बेमेल विवाह करेगी ? क्या उनके स्वप्नों के दूल्हों से न कर किसी के भी साथ गाय-भैंस की तरह बांध देगी ? नहीं-नहीं!! हर्गिज नहीं...।

दूसरा चित्र स्पष्ट हुआ। स्नेह ने देखा, कमल और विमल अपनी पसन्द के लड़कों के गलों में मालायें डाल रही हैं। शहनाईयां बज रही हैं। रोजी चुहल कर रही है। कमल-विमल आ कर लाज से उसके सीने में मुंह छिपा लेती हैं। वह दोनों को प्यार से सहलाती है। फिर दोनों के वर जोड़ों सहित उसके पांव छूते हैं। वह मना करना चाहती है। कुछ कह नहीं पाती। वह भी बड़ी-बूढ़ी है घर की। वह क्यों नहीं छुआयेगी पांव ? और वह आशीष देती है।

"मेरी बच्चियों, मेरे जन्म-जन्मान्तरों में जो खुशियां मेरे हिस्से में हों, वे सब तुम्हें मिलें। तुम पर न्योछावर हो जायें मेरी कल्पना के सुख। मेरा आह्लाद और आनंद तुम्हारी सुहाग भरी मांगों और भरी पूरी गोदियों में ही फले-फूले।"

एकाएक उसका ध्यान टूट गया। कमरे से कुछ स्वर तेज हो आये थे। वह उठी, कमरे के पास आई।

कमल कह रही थी, "यों क्यों घुलती है, विमली? ऐसी भावुकता में कुछ नहीं रखा।"

सिसकियों में विमल का टूटता स्वर सुनाई पड़ा, "तो मैं क्या करूं? दीदी की तकलीफों को क्या और बढ़ा दूं? फिर वह न जाने क्या सोचें?"

कमल ने उसी दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "हमारा कर्त्तव्य है हम दीदी की आज्ञा का पालन करें। तुझे उस लड़के से शादी के लिए तैयार हो जाना चाहिए, जिसके लिए आज दीदी कह रही थी।"

"पर, छोटी दीदी, मैं रोहित को धोखा नहीं दे सकती। तू जानती है वह ! ओह! मैं क्या करूं?' फिर सिसकियां उमड़ पड़ीं।

तो क्या विमल का पत्र था वह? 'स्नेह री! ले देख, यह तेरी बहन अन्दर ही अन्दर घुल रही है, तड़प रही है। इसी बूते पर सुख देने चली है? इसी बूते पर बाप और भाई का बोझ अकेले उठाने का दम भरती है?' उस का मन ही उसे धिक्कारने लगा।

स्नेह भयभीत-सी कमरे में आई। दोनों बहनें चुप हो गईं। कमल फिर पुस्तक में नजर गड़ाने लगी। विमल ने चादर मुंह पर डाल ली।

स्नेह को धक्का लगा। 'ये छिपाती क्यों है मुझ से? क्या मैं इनके दर्द को समझ नहीं सकती? या मैं...या मैं इतनी बड़ी हो गई हूं कि ऐसी बात नहीं सुन सकती?"

सांस भर कर वह विमल के सिरहाने जा पहुंची। चादर हटा दी। विमल, विस्मय से, आंसू भरी आंखों से देखने लगी। स्नेह बैठ गई। उसकी भी भरी आंखें चू पड़ीं।

"दीदी!" विमल उठ कर बैठ गई। "दीदी!"

"विमली!...वह खत तेरे ही पास आया था न?"

"दीदी...खत!"

"विमली, मत छिपा, मेरी बहन, मत छिपा मुझ से। मुझे पीड़ा होती है।"

"दीदी!..." अब विमल सुबक पड़ी। वह दीदी की छाती से लग गई, उसके गले में बांह डाल दी।

"दीदी, तुम दुःख न करो।" कमल उठ आई किताब छोड़ कर। वह स्नेह के पास, खाट से नीचे, घुटनों के बल बैठ गई। "दीदी! मैंने विमल को समझा दिया है। अब उससे ऐसा अपराध नहीं होगा। उसे माफ़ कर दो, दीदी!"

"कमली! यहीं तो तू भूल रही है, बहन! तुम दोनों मुझे गलत क्यों समझ रही हो? विमली! तू मुझे उस लड़के से मिलाना। मैं देखूंगी, परखूंगी, उसके मां-बाप से मिलूंगी। तेरी इच्छा के विरुद्ध तो मैं तुझे कहीं भी नहीं भेजूंगी, पागल! और सुबह वाली बात तो मैंने मन से ही कही थी।"

"पर, दीदी री!" विमली ज़ोर से रो पड़ी, "वह घर से चले गए..."

"कौन?"—स्नेह चौंक पड़ी, फिर वह समझी। "अच्छा, वह! क्यों?"

"उनके पिता दहेज देने वाले घर में शादी करने वाले थे। उन्होंने मना किया। मगर पिता नहीं माने। ..वह घर से निकल गये।"

"ओह! कहां गया?"

"न जाने कहां!"

"तुझे बिना बताये ही?"

"हां!"

स्नेह सुन्न हो गई। अब वह क्या करे? वह रोती विमल को थामे रही अपनी बाहों में। कमल की आंखें भी बरस रही थीं।

स्नेह के हृदय में उठी गहरी पीड़ा, जो सागर की तरंगों की तरह उसके सारे तन में रम गई और जब वह सारे शरीर में रम गई तो फिर स्नेह सहज हो गई, स्वाभाविक हो गई, संभल गई।

"रो नहीं, मेरी बच्ची! रो नहीं....हम उसका पता लगायेंगी। जब वह तुझ से मिलने आयेगा, या तुझे कोई खबर देगा तो मैं उसे लिवा लाऊंगी। सेठ जी से कह कर उसे कहीं नौकरी दिला दूंगी। या वह पढ़ना चाहेगा तो मैं उसे भी पढ़ाऊंगी, और उसके ही हाथों में तुझे सौंपूंगी।"

"दीदी!" विमल का स्नेहसिक्त, कृतज्ञता से बोझिल और भक्तिभाव से भरा स्वर निकला, "दीदी!"

स्नेह ने अपने आंचल से उसका मुंह पोंछा, जो आंसुओं से भीग गया था।

● ● ●
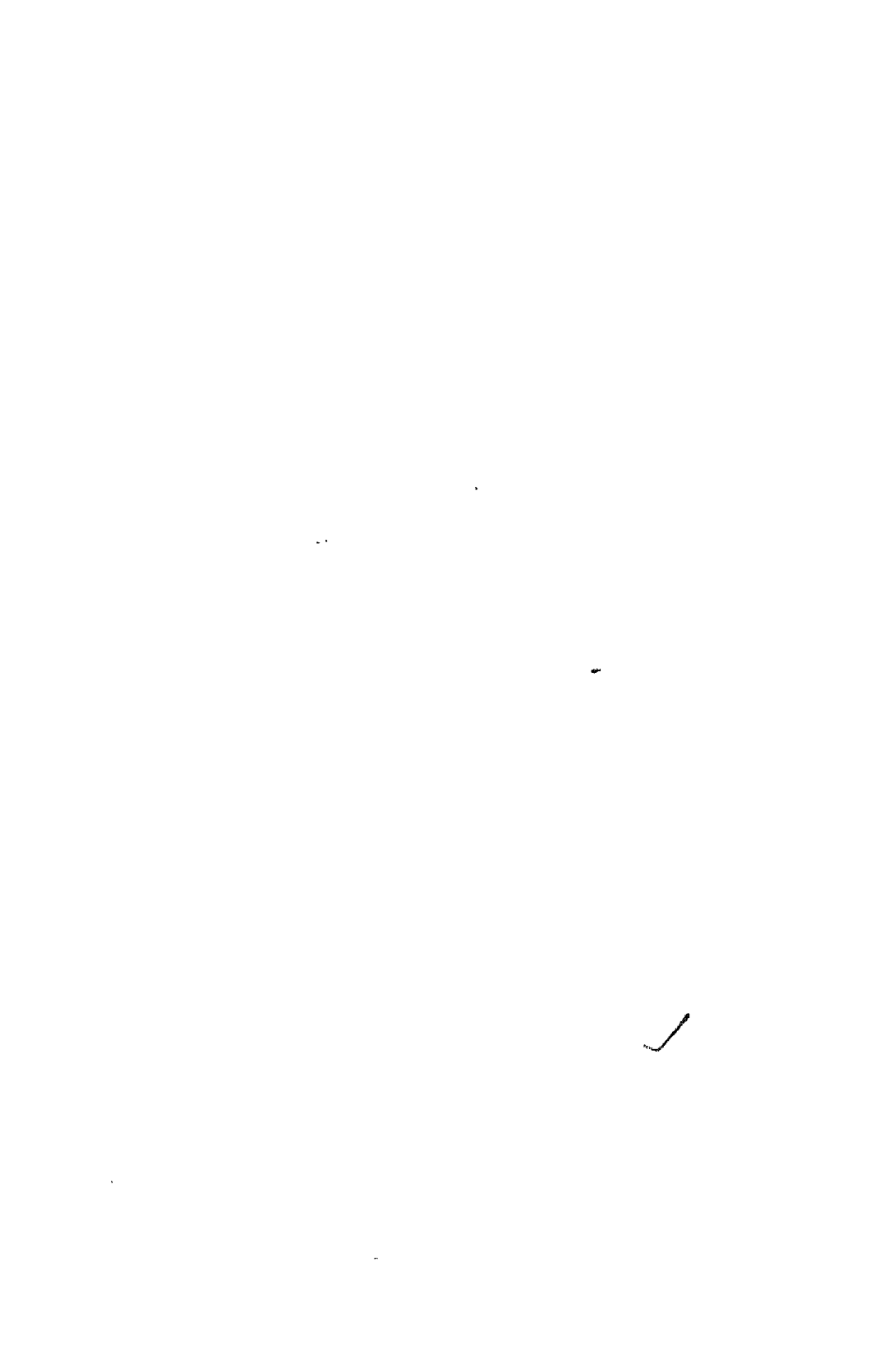
खंड दो
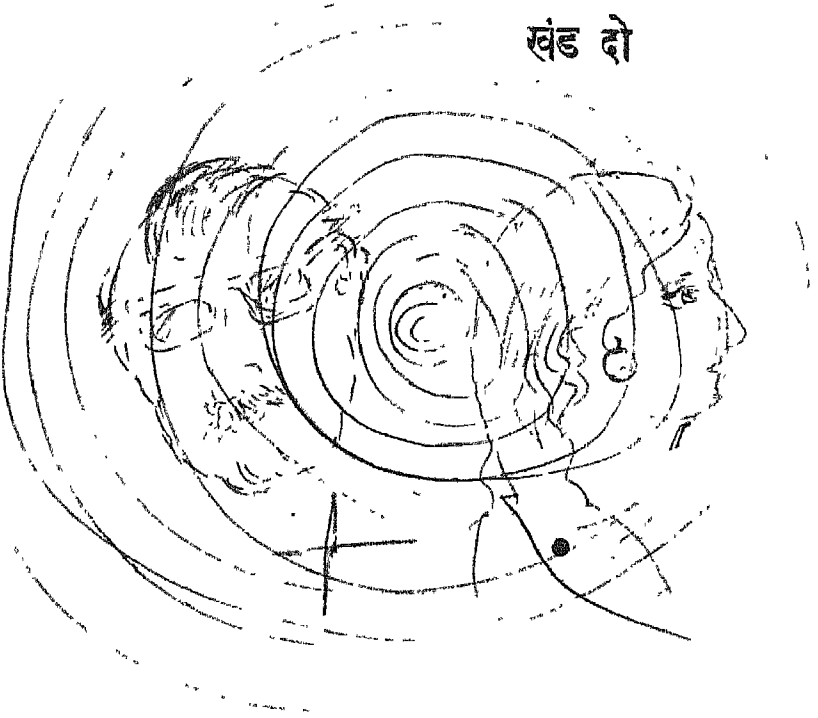
सामाजिक कथाएं

★ परदेशी

रत्नाकर की अंकशायिनी, निपट स्वदेशी गांधी–टोपीधारियों की कामायनी और व्यापारियों की विधायिनी बंबई में एक परदेशी भी रहता है। हृदय कवि का है, मेधा राजनीतिज्ञ की और निरीक्षण कथाकार का—छरहरे बदन का यह तापसी धर्म से मसिधर्मा और कर्म से मजदूर है। देह में मुझ से चार वर्ष बड़ा है, तो नेह में चालीस। हिन्दी, अंगरेजी, गुजराती, मराठी, उर्दू और बंगला इसे रवां हैं, तो इन बोलियों के बोलने वाले लोग इस से अपनी मनोव्यथा कैसे छिपायें! बंबई जैसी 'संकुचित' भूमि में रहने वाला, अपने काम से काम रखने वाला हर आदमी इस की निगाहों तले आ कर एक चरित्र न बन जाए, तो आश्चर्य ही होगा।

प्रेस और प्रकाशन का यह पंडित है और संपादन में साधक। काव्य में 'चित्तौड़' तथा 'परदेशी के गीत' जैसी कृतियां हैं, तो कथा–कहानी में कहीं 'चम्पा के फूल' बिखरे हैं, कहीं 'तृषा और तृप्ति'। उपन्यासों में धर्मयुग में धारावाही रूप से प्रकाशित 'चट्टानें' अब पुस्तकाकार आ गया है और तथागत के अंतर में पैठ कर 'भगवान बुद्ध की आत्मकथा' लिख लाए हैं। साथ ही इस युग की तीन सब से बड़ी समस्याओं पर जिस उपन्यास में यह मर्म लेखनी नृत्य कर उठी है वह है 'औरत, रात और रोटी'। राजनीतिक लेखाजोखा 'एशिया की राजनीति' व 'योरप की राजनीति' में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है। और यों पुस्तकों की एक लम्बी सूची है। इस पर भी यह सरीहन स्वदेशी कलाकार परदेशी है!

प्रस्तुत कथा 'प्यास' परदेशी की निपट निजी शैली की एक अनूठी कलाकृति है। यह वातावरण–प्रधान कहानी है...हॉल में घुप अंधेरा होने पर जैसे बाहरी दुनिया से दर्शक अपना संबन्ध विच्छेद कर लेता है और रजतपट ही उस का संसार हो जाता है, ऐसा ही संसार इस कहानी का है। जहां जो कहना होता है परदेशी उन्मुक्त भाव से कहता है। कलम में हिचकिचाहट नहीं—क्यों कि इस कलम को छूने से अश्लीलता का लोहा भी सोना बन जाता है...और तब कहना पड़ता है कि वास्तव में श्लीलता या अश्लीलता साहित्य में नहीं होती, साहित्यकार में होती है, या होती है पाठक के हृदय में। परदेशी की कहानी की नारी यदि एकदम अनावृत्त भी हो जाए तो पाठक का हृदय कहेगा: 'मां!' यह है काव्य का जादू। और इस कहानी के अन्तिम अंश कथा-रूप काव्य के बेजोड़ नग हैं—परदेशी के मीनाई हाथों से जड़े गए हैं। मनकों के इस बादशाह को सलाम!

—ओरलेम, मलाड, बम्बई

● प्यास

ऑफिस के पुरुष कर्मचारी लंच के लिए बाहर जा चुके थे। नव-नियुक्ता दो-तीन लड़कियां भी अपने साथियों के साथ चली गई थीं। लेकिन तीन-चार महिलायें अब भी अपनी फाइलों में सिर गड़ाए, अपने अफसरों के प्रश्नों के उत्तर खोज रही थीं। तभी किसी ने कहा—"जीजी, जानती हो कालिन्दी कुलकर्णी को—साल भर पहले ही जिस ने बिदा ली थी? कान में बड़े-बड़े मोती पहनने वाली, वही?"

प्रश्नवती के स्वर का राग और भाव ऐसा आभास देता था मानो उस के प्रश्नमूल में कोई गहरा रहस्य निहित है। इसलिए ज्यों ही यह स्वर दूसरे कानों में गया, चेहरे उठे और नजरें प्रश्नवती महिला को देखने लगीं। सुबह साढ़े नौ से दोपहर के इस डेढ़ बजे तक कागजों, फाइलों, तबादलों, इस्तीफों और छुट्टी की अर्जियों की चर्चा करते-करते और सुनते-सुनते वे थक गई थीं। उन के सुनहरे लटकन, इयरिंग, लौंग और टॉप्स वाले कान अघा गये थे। और अब वे किसी रेशमी अफवाह या चलते चुटकुले से जी बहलाना चाहते थे। महिलाएं कथा की नायिका पर अपनी राय पेश करना चाहती थीं। और नायिका यदि 'पतिता' हुई तो फिर क्या चाहिए? उन्हें 'छि:-छि:' कहने, पहला पत्थर फेंकने और एक मात्र स्वयं गंगा की गोद में जन्म लेने के गौरव पर फूल कर घनीभूत होने का अवसर मिल जाता!

"कौन, कालिन्दी देसाई, जिस ने उस कुलकर्णी से ब्याह किया था?" मिस लम्बे लटकन ने पूछा। यह डायरेक्टर ऑफ इन्फॉरमेशन की चहेती थीं, अतः प्रश्न करने और जानकारी जाहिर करने का अधिकार अपना मानती थीं।

"हां, वही," प्रश्नवती महिला ने मिस लम्बे लटकन की लज्जा से शरमाई अपनी सादगी की ओर नजरें झुका कर कहा।

"क्यों, क्या भाग गई?" कनकमोहिनी बोलीं। दरअसल उन के दिमाग में ऐसी ही कोई उलझन थी। सारी नजरें फिर से प्रश्नवती जी की ओर जम कर, घूर कर देखने लगीं, और सांसें इस कदर प्रतीक्षित बन गई मानो सृष्टि और प्रलय के बीच की झीनी दीवार गिरने ही वाली है!

"भाग कर नहीं गई। पेस्तनजी अस्पताल के मैटरनिटी वार्ड में है।"

"बस!"

"छि:!"

"नॉनसेन्स !"

"अरे, इस में कौन सी नई बात है ?"

इस प्रकार प्रश्नवती का उत्तर सुन कर संगिनी महिलायें मुंह बिचका कर बोलीं—"रोज एक लाख बच्चे पैदा होते हैं इस दुनिया में।"

"चलो, कोटा पूरा हुआ। आज का लाखवां बच्चा हमारी कालिन्दी ने दिया। उठो, चाय पियें। थ्री चीयर्स फॉर मैडम कालिन्दी..."

"कुलकर्णी...," कामिनी ने वाक्य पूरा किया।

सहेलियां सभी बाहर चली गईं। कामिनी वहीं बैठी रही, अपने सपनों में, और प्रश्नवती नहीं गई, अपनी निराशा में। यों भी वह कहीं बाहर नहीं जाती। अपनी सादगी और सादगी से अधिक भयानक गरीबी के कारण ! उस के पास अच्छी साड़ियां नहीं, अच्छे ब्लाउज़ नहीं और कुछ भी अच्छा नहीं। और-तो-और, अच्छी बातें भी नहीं, बातें जो आज की फैशनेबिल लड़कियों और महिलाओं को पसंद आती हैं। राजकपूर और शैलेन्द्र की बातें, मुश्ताक अहमद और टॉम कूपर की बातें, इवान्स फ्रेजर के स्टोर्स और मैट्रो के सिनेमाघर की बातें, रेसकोर्स और डान्स-रूम की बातें ! बेचारी प्रश्नवती ! वह तो गांधी जी की बकरी की तरह सीधी और सादी है; उपवास करती है और चरखा चलाती है—जीवन और जगत् में सर्वत्र आउटमोडेड्, आउट-ऑफ-डेट्। कामिनी उठ कर उस की ओर आई। उस के हाथ में अब भी एक पते और दस हस्ताक्षर वाला सरकारी लिफाफा था—"मैं जानती हूं कालिन्दी को। वह तो मेरी अच्छी सहेली रही है। जब से मकान बदल कर वे लोग मुलुन्द चले गये, मिलना नहीं हुआ। आप का जी कैसा है ?"

"अच्छी हूं, बहन। कालिन्दी सचमुच बड़ी समझदार लड़की है। दफ्तर छोड़ कर गृहस्थी बसा ली। आज तो एक बेटे की मां भी बन गई।"

"आप को कैसे पता चला ?" कामिनी ने पूछा।

"कल दफ्तर से लौटते, उस के पतिदेव मिल गये—मिस्टर कुलकर्णी—उस का खाना ले कर जा रहे थे। यहीं पेस्तनजी अस्पताल में तो उस की डिलीवरी हुई है।"

"ज़रा कुछ जल्दी हुई। अभी कालिन्दी की उम्र ही क्या है—यही अठारह-उन्नीस। अभी तो बालिका लगती है वह।"

"बालिका ! मैं तब पन्दरह की थी कि मेरा रामू आया।"

"आप !" कामिनी ने साश्चर्य पूछा।

"हां, हां, और परिणीता का धर्म क्या है ? मैं आप से ही पूछती हूं।"

"परिणीता का धर्म वार्षिक-प्रसूति तो नहीं।"

"यह तो मैं ने भी नहीं कहा।"

"कोरी परिवार-सेवा, समाज-सेवा ?"

प्रश्नवती जी कामिनी का व्यंग्य पहचान गईं। उसे झेल कर बोलीं—"यह भी मैं स्वीकार न करूंगी।"

"फिर ?" कामिनी हार गई। बड़े बोझ को जैसे उतार देना चाहती हो, यों उस ने पूछा—"फिर ?"

कहने लगीं—"भारतीय नारी गृहस्थी की शोभा है। मैं नहीं कहती कि वह बाहर न रहे, पर भीतर से परे न हो जाए यह भी उसे ध्यान में रखना है। शेष अपने जी से पूछिए, आप भी तो परिणीता है ?"

"मैं. . .मैं ? हाँ जी, मैं भी परिणीता हूं—" कामिनी ने अपने पर ही एक नजर डालते हुए जवाब दिया।

"परन्तु ऐसा लगता नहीं।"

कामिनी सोचती रही—'सचमुच ?' सचमुच वह परिणीता है, उसे तो आज ही इस का भान हुआ, कि वह 'परिणीता' है ! और परिणीता का अपना धर्म और आदर्श हैं। धर्म और परिणीता, भीतर और बाहर !

प्रश्नवती कब चली गई, कामिनी को इस की सुध न रही।

वह परिणीता है, पर परिणीता जैसी क्यों नहीं लगती ? प्रश्नवती यह क्या कहती है ! और उस दिन पड़ोसिन कह रही थी—"कम्मो, तुम गांव की गोरी होती तो अब तक तुम्हारे छः बच्चे हो गये होते. . .!" 'छः'! उस ने मन ही मन दुहराया और तनिक पुलक और सहज शंका व भय से उस का अंतर भर गया। उस ने अपने आप को गौर से देखा—पहले कनखियों से देखा, फिर इधर-उधर दृष्टि डाल कर कि कोई देख तो नहीं रहा है। फिर आइने में देखा : परिपूर्ण शरीर, जैसा कि एक अभिजात मराठी लड़की का होना चाहिये। विपुल वक्ष, पृथुल नितम्ब, यह नाक और ये आंखें, और यह चिबुक, ये होंठ लाल-लाल, उजले-उजले और यह मुसकान ! वह मुसकरा दी। उस छवि से एक छाया-सी उभरी, जिस ने छवि को ढंक लिया। यह छाया उस के पति की थी—प्रोफेसर विशाल वागले की, जिस से कामिनी की 'लव-मैरिज' हुई है। इस छाया और उस छवि का जोड़ा। इस जोड़े का, इस मैरिज का तात्पर्य ? प्रसूति ? नहीं, नहीं। कालिन्दी की गोद भरी है, और मेरी गोद ? . . .कामिनी की मुसकान फैल गई। पर तभी किसी ने टॉयलेट रूम में प्रवेश किया। वह संभल कर खड़ी हो गई और गला साफ करने का बहाना बना बाहर आ गई।

लंच का समय भी चूक गया था। कामिनी अपनी मेज पर आ बैठी और प्रश्नवती की मेज पर दृष्टि जाते ही उस ने स्वयं से पूछा—"तो क्या

सचमुच तुम परिणीता हो ?"

"हां, हूं तो सही।"

हां, हां, यह सच है। पर वास्तव में, उसे इस बारे में कभी चैन से सोचने का अवसर ही नहीं मिला। काम...और दिन भर काम! सुबह छः बजे उठना; अपना और पतिदेव का भोजन बनाना; और जब तक चूल्हे पर कूकर अपना काम करे, नहाना और ऑफिस की तैयारी करना, और अपने छोटे-से डिब्बे में जब तक वह अपना खाना रख कर रूमाल में बांधती हैं, तब तक तो साढ़े आठ बज जाते हैं और उसे आधा मील चल कर, आठ-पैंतीस की लोकल गाड़ी दादर स्टेशन पर पकड़नी पड़ती है, और अकसर यह गाड़ी समय पर आ जाती है। पेस्तनजी अस्पताल की मोटी नर्स की तरह कामिनी लेट हो जाती है। और किसी दिन गाड़ी मे गड़बड़ हुई तो बस के क्यू में, चार मील लम्बे क्यू में खड़े रहना पड़ता है, जहां पंजाबी लड़के पीछे से सीटी बजाते हैं और सिंधी लड़के क्षमा मांगते हुये पूछते हैं—"यह लॉरी कहाँ जायेगी ?" और यदि वह बस के क्यू तक अकेली जा रही है, तो मनचले रईसज़ादे अपनी कार पास में ला कर खड़ी कर देते हैं और बड़े गांधीवादी स्वर में 'लिफ्ट' देने की उदारता दिखाते हैं। और लड़कियां जब इन की भलमनसाहत पर भरोसा कर लेती हैं, तो क्रिश्चियन बस्तियों की अनजान सूनी सड़कों पर इन की कार बेकार हो जाती है। उस दिन बेचारी कुंदा नादकरनी ऐसे ही फंस गई थी। कितना शोर हुआ और अखबार में नाम छप गया और नौकरी भी चली गई। सरकारी नौकरी कोई मजाक है! काम वक्त पर, मगर तनख्वा दो महीने बाद! और इसी तरह शाम का कार्यक्रम अपने को दुहराता है। थकीहारी कामिनी को भोजन बनाना पड़ता है, और वागले जी के रात के ट्यूशनों से लौटने से पहले ही उसे मॉडर्न रेडियो कम्पनी में दो घंटे पार्ट-टाइम टाइप करने जाना पड़ता है। वहां भी छुटकारा कहां! चाहे कामिनी में कितना ही संयम हो, पिता के दिये संस्कार अच्छे हों और मां खानदानी मराठिन रही हो, फिर भी कामिनी ने नौकरी की है तो, इच्छा न रहते हुये भी, उसे बिना दांतवाले गुजराती एकाउन्टेन्ट के सामने इस तरह मुसकराना ही पड़ता है कि उस का शील भी न छूटे और एकाउन्टेन्ट का दिल भी न टूटे!

फिर भी कामिनी महसूस करती है कि यह मुसकराना अच्छा नहीं है, क्यों कि उस के गले में 'मंगलसूत्र' है और भाल पर सुहाग की बेंदी है और यह इस बात का सबूत और सिगनल है कि कामिनी पराई है, पराई 'जायदाद' है। और यह बेंदी—यह तो ज़िंदगी के वाक्य का पहला फुलस्टॉप है...जैसे व्यस्त जीवन में उसे आज याद आया कि वह भी कालिन्दी की तरह परिणीता है और प्रोफेसर विशाल वागले से शास्त्रीय-विधि से उस का

विवाह हुआ है। कालिन्दी का भी विवाह हुआ है और वह भी किसी की अर्द्धांगिनी है; मगर उस में और कामिनी में भेद है। यह ऑफिस में सिर नमाए काम करती है। कालिन्दी घर में बैठी छोटे-छोटे मोज़े, बनियान और स्वेटर बुनती है और घंटों रसोईघर में बैठी बड़े जतन और नेह से पकवान बनाती है। ठीक हमारी 'आई' की तरह। अब तो उस का शरीर भी पकी लीची-सा गदरा गया है और आंखों में असीम तृप्तियों का नशा नया यौवन बन गया है। इस पर भी इस बार जब वह, यानी वह जो कालिन्दी कुलकर्णी कही जाती है, घर आएगी, और घर लौटने पर जब-तब अपने द्वार पर खड़ी, बाएँ हाथ में शिशु को कन्धे पर लिए लोरी गाएगी और कुलकर्णी जी की राह देखती खड़ी रह जाएगी और पड़ोसिन कहेगी—'क्यों खड़ी हो, बहन ?' तो कालिन्दी लजा कर कहेगी—'यह सोता ही नहीं ! कब से रो रहा है और आज उन्हें भी दफ्तर से आते देर हो गई है।' और उस समय कामिनी होगी कि हाथ में चमड़े का बेग लिये बस पकड़ने के लिये स्टॉप की ओर दौड़ेगी, जिस तरह शाम को गाय अपने बछड़े के लिये दौड़ती है। और मुए स्टाप पर भी चैन कहां ! वहां रास्ते के आवारा लड़के उसे छेड़ते रहेंगे और पूछेंगे—"क्यों डियर, 'नन्हा-मुन्ना' देखोगी ?"

"फाइल ए बी सी चार सौ चालीस आप के पास है ?"—चपरासी उस से पूछ रहा था।

"नहीं...हां, हां, है।" उस ने फाइल निकाल कर चपरासी के हाथ में दे दी। चपरासी कुछ सोचता-सा चला गया। कामिनी फिर से विचारों में खो गई—और कालिन्दी कुलकर्णी का मुन्ना किलकारियां भरने लगा। बच्चे के होंठ दूध से भीगे थे और उस की बड़री अंखियों में फैला-फैला काजल अंजा था। उस की कलाई पर काला डोरा बंधा था और कपोल पर डिठौना लगा था...।

"कितना प्यारा शिशु है !" कामिनी ने कहा और चुमकार कर बच्चे को झुलाने लगी। धीरे-धीरे उस के पतले होंठ मुसकराए और लोरी के बोल बाहर आए—'झूलो, नंदलाल, झुलावे तुमरी मैया।' दूसरी बार फिर से उस ने यही कड़ी दुहराई और उस के मिठास को खुद भी महसूस किया और स्वर उस के कानों तक आए। तभी अपने आस-पास कई सांसों की गरमाहट का बोध हुआ और पलने की रेशमी डोर उस के हाथ से छूट गई। सिर उठाया—कनकमोहिनी, कुंदा नादकरनी, माया मांजरेकर, मिस लम्बे लटकन, प्रश्नवती, नीता दीपंकर, और दीपाली दांडेकर उसे घेर कर खड़ी थीं और जब उस ने सिर ऊंचा किया तो खिलखिला कर वे हंसने लगीं और कुंदा ने दौड़ कर दरवाजा बन्द कर दिया। दीपाली, जिसे अपने कण्ठ और कंठहार

का गर्व था और जो कभी-कभी रातों में स्टूडियो में रह जाती थी, मटक–मटक कर गाने लगी : "झूलो नंदलाल..."

"झुलावे तुमरी मैया..." शेष सहेलियों ने सम्मिलित सुर में गाया और वे तो सब की सब ताल दे दे कर गाने–नाचने लगीं !

किन्तु कामिनी वागले ने जब इस समारोह में कोई भाग न लिया और अपनी मेज़ पर सिर झुकाए, आंखें बंद किए बैठी रही, तो कनक ने उसका पेट सहला कर पूछा—"कम्मो, देखूं तेरा नंदलाल कितना बड़ा हो गया है !" इस पर तो वह जोर का कहकहा लगा कि पड़ोस के केबिन से बूढ़े नसरवान जी रद्दीवाला ने दीवार पर ठक्–ठक् किया। परन्तु ज्यों ही डायरेक्टर की चहेती मिस लम्बे लटकन ने कामिनी की नब्ज़ देखी, चौंक कर बोली—"अरे, इसे तो ताप चढ़ आया है !"

ऐसे समय स्वयंसेविका प्रश्नवती पीछे न रह सकी और उसने कामिनी का सिर छू कर कहा—"सचमुच ! तुम घर लौट जाओ, बहन। तुम्हारा काम मैं देख लूंगी।" दूसरी लड़कियों ने दफ्तर के कागज समेटने में मदद दी और एक उसे लिफ्ट तक पहुंचा आई।

कैसे और कब कामिनी मैरीन लाइन्स स्टेशन तक आ गई यह उसे स्मरण न रहा। सदा के अभ्यस्त पैर उसे लोकल गाड़ी तक ले गए। और वह महिलाओं के डिब्बे में एक ओर बैठ गई। पास में एक सीमन्तनी कुलवधू घूंघट काढ़े बैठी थी और सामने एक मोटी–सी औरत तीन वर्ष की अधनंगी बच्ची को खुले स्तनों से, निरीह भाव से दूध पिला रही थी। कामिनी टकटकी लगा कर उसे देखने लगी। हृदय से उमड़ कर कंठ और सुरमई लोचनों तक मातृत्व छलक आया और वह आंसू पोंछने के लिए अपने बेग में रूमाल ढूंढने लगी। उसे कालिज के वे दिन याद आए, जब वह विशाल वागले से मिली थी, और दोनों समय चुरा कर, दूर कहीं एकान्त में निकल जाते थे, और मलाबार हिल्स के नितान्त कोने में, झुरमुटों के बीच बैठ कर बातें किया करते थे। बातें वे, जो कभी खत्म नहीं होती थीं। और जिन में से हरेक के पीछे एक ख्याल और एक सपना रहा है !

फिर शादी हुई और बातों की सरसता और सपनों की रंगीनी बढ़ गई। गाड़ी को हल्का-सा धक्का लगा और वह रुक गई। कामिनी ने देखा ग्रान्ट रोड स्टेशन का यार्ड है, जहां की तंग जगह में बरसात के दिनों में बहुत-सा पानी जमा हो जाता है और अक्सर गाड़ियां रुक जाती हैं। उसने सोचा, तंग जगह में कोई चीज बढ़ न पाए यही अच्छा है। यह गाड़ी जिस प्रकार रुकी, उसी प्रकार ब्याह के बाद विशाल से उसकी बातें भी अचानक रुक गईं। बातें क्या रुकीं, दोनों को ही अवकाश नहीं मिल पाता था।

सुबह वह भोजन बनाती और विशाल ट्यूशन पर चला जाता। शाम को वह मॉडर्न रेडियो कम्पनी में टाइप करने जाती और रात को दस बजे, जब विशाल बागले तीन ट्यूशन निबटा कर आते, तो थक कर इस क़दर बिखर जाते कि दो चुल्लू पानी से उंगलियां धो कर खाने बैठ जाते और ऐसे बड़े-बड़े निवाले लेते कि कामिनी को शरम आने लगती और दया भी !

गाड़ी स्टार्ट हो कर बड़ी तेज़ी से चलने लगी। उसे पिछला खोया वक्त कवर करना था—जिस तरह दस महीने मौज मारने पर विद्यार्थी परीक्षा-काल में सरपट पन्ने उलटता जाता है। उसी तरह विशाल और कामिनी के पांच वर्ष चले गए और मां ने उसे बुलाया और पिता का पत्र आया और बहनों के खत आए। पर जाने क्या बात थी, जाने कोई जादू था कि जाने कोई बन्धन था कि वह विशाल से दूर होना नहीं चाहती थी। इन पांच सालों में दोनों ने मिल कर पन्द्रह हज़ार रुपया जमा किया। 'पन्द्रह हजार !' कामिनी ने धीमे से दुहराया। और रुपए की राशि, शक्ति और तृप्ति का अनुमान पा कर उसका मन खिल उठा। जरूर अब वह अपने नन्दू के लिए रेशमी डोर वाला पलना ले सकेगी, सुनहरी जंजीर बनवा सकेगी और जब वह बड़ा हो जाएगा तो उसके लिए तेज पोलिश-स्कूटर खरीदेगी। उसे स्कूटर पर बैठना अच्छा लगता है। उस पर सवार हो कर, मानो तेजी से उड़ कर, अब वह किसी स्वप्न-लोक की ओर जा रही है।

मुटल्ली औरत की मुन्नी रोने लगी और कामिनी घबरा गई। अरे, तू कैसी कामिनी है ! शिशु को यों रुला रही है ! अभी विशाल देख लेगा, तो नाराज होगा—"हमारे बेटे को क्यों रुलाती हो ?"

मैंने कब रुलाया ? यही बड़ा नटखट है। तुम्हारा बेटा है तो साथ ले जाया करो इसे।" वह मुसकराई और बच्चे को सुलाने के लिए उसने लोरी गुनगुनाई—"झूलो नन्दलाल !" और उसने लाउडस्पीकर को विनती करते सुना—"बांदरा गाड़ी...खाली कीजिए। यह गाड़ी आगे नहीं जाएगी। गाड़ी खाली कीजिए। प्लेटफार्म नम्बर चार की गाड़ी यार्ड में वापस जा रही है। खाली कीजिए....," तो हड़बड़ा कर वह उठी और प्लेटफार्म पर आई। अरे, वह कितनी दूर निकल आई ! अब लौट कर दादर जाना होगा !

उसने बांदरा से दादर का टिकट लिया, तो टिकट-मास्टर उसकी ओर देख कर ऐसे मुसकराया जैसे न मुसकराया हो। कामिनी ने उसे घूंसा दिखाया और आगे चल पड़ी। फिर पीछे मुड़ी—किसी ने देखा तो नहीं ? विशाल सुन ले, तो उसे घर से ही निकाल दे और एकाध हाथ-पैर भी तोड़ दे। कालिज के दिनों में वह उसके लिए कितने लड़कों से नहीं लड़ा !

चलो, गनीमत है किसी ने नहीं देखा। कुन्दा नादकरनी बेचारी अखबारों में बदनाम हो गयी थी, जबकि दो गुण्डा लड़कों ने उसे छेड़ा था और जब तक कुन्दा ने दस कदम पर खड़े पुलिसमैन से शिकायत की, तब तक तो भीड़ जमा हो गयी। पुलिसमैन ने दोनों लड़कों को बुलाया, तो वे अकड़ कर आगे आये, मानो धन्नासेठ हैं, और घर में चार-चार बीबियां हैं। पुलिसमैन के डांटने पर उन में से एक बढ़ कर बोला—'जमादार जी, तुम्हीं फैसला करो। यह छोकरी बीस मांगती थी और हमने दस को कहा तो गाली देने लगी।'

कुन्दा को काटो तो खून नहीं। भीड़ 'धन्धे वाली बाई' कह कह कर हंसने लगी और कुन्दा का रोम-रोम सांय सांय जलने लगा।

दादर के गेट पर एक आदमी उसके कन्धे पर जोर का धक्का दे कर विलीन हो गया। कामिनी बिसूरती रह गयी। सचमुच क्या लड़कियों को पुरुषों की भीड़ में जाना चाहिये? घर से निकलना चाहिये? दफ्तर में काम करना चाहिये? बांदरा में टिकट खरीदना चाहिये? और पुलिसमेन से शिकायत करनी चाहिये?

फ्लेट उसका, उसका और वागले का, शिवाजी पार्क में था। गोखले रोड पर, मंथर गति से चलती हुई वह धीरे-धीरे अन्तिम ईरानी रेस्तरां तक आयी। उसे याद आया कि सिर चकरा रहा है, क्यों न सारिडोन ले लूं चाय के साथ। रेस्तरां सामने था। सड़क क्रॉस कर वह आयी और एक गोल कुरसी खींच कर उस पर बैठ गयी।

उसने बैरे को चाय और सारिडोन लाने को कहा। उसके जाने पर वह पानी के गिलास में अपनी परछाईं देखने लगी। सिर झुकाया तो उछल कर मंगलसूत्र झूलने लगा और पानी में उसकी परछाईं भी सावनिया झूले की तरह हिलने लगी। और जब परछाईं का हिलना बन्द हुआ, उसमें से एक नई परछाईं उभर आयी, जिसकी आकृति उससे मिलती जुलती थी, पर नाक विशाल वागले जैसी थी। उसने उस आकृति को नाम दिया: 'आभा'। और एक नन्हीं बेबी किलकारी मार कर हाथ-पैर नचाने लगी। उसने कामिनी का मंगलसूत्र पकड़ लिया। बड़ी नटखट है कि छोड़ती नहीं। कामिनी ने बहुत कोशिश की, उसे समझाया, पर वह न मानी और वागले कह रहे थे: 'यह अकेली है, इसका भाई आ जायगा, तो यह तुमसे झगड़ना छोड़ देगी।' सुन कर कामिनी मुसकराई—'अभी पांच महीने और हैं—' और वह लजा गयी।

टी-सैट की खटखट से उसका ध्यान भंग हुआ। गरम चाय, गरम चीजों से उसे परहेज करना चाहिये इन दिनों। गर्भवती को इन से हानि

पहुंचती है, लेकिन सोचा कि बैरे को कैसे अपनी बात वह कहे—'अच्छा, देखो, यह सब न चाहिये। ग्लुको-कोला ले आओ,' बैरा सिर झुका कर चला गया। मगर गर्भवती वह कहां! अरे, वह पागल हो गयी है। उसे क्या हो गया है!...

काउंटर पर बैठा मोटा ईरानी एक हाथ से बिस्कुट अपने मुंह में रखता जाता था और दूसरे हाथ से रेडियो का स्विच इधर-उधर घुमा रहा था। कामिनी के कान में आवाज़ आई—"अभी आप सुधा जोशी से 'सो जा, राजा बेटा!' लोरी सुन रहे थे। हर बुधवार और सोमवार के दिन तीन-पांच-पांच और दो दशमलव चार मीटर पर भारतीय भाषाओं में लोरियां सुनाई जाती हैं। लोरियां सुनने वाले बच्चे, लोरियां सुनाने वाली मांए यह ध्यान रखती है कि उनके बच्चों का डोंगरे का बालामृत सभी दवा-फ़रोशों के यहां मिलता...।"

सुन कर कामिनी का जी धड़कने लगा। बालामृत की शीशी पर मुन्ने का यह कैसा अच्छा चित्र है!

उसने फिर घंटी बजाई और फिर से बैरा हाज़िर हुआ। वह बोली—"बालामृत की एक शीशी।"

बैरे को अपने कानों पर विश्वास न हुआ। उसने फिर पूछा और वही मांग सुन कर चला गया और शीशी ले कर लौट आया।

कामिनी ने कोला की चुस्कियां लीं और फिर सामने आईने में अपना मुरझाया मुख निरखती रही। फिर बालामृत की शीशी को अपने बेग में उसने सहेज कर रख दिया और बिल चुका कर बाहर आयी।

अपने अहाते तक जब पहुंची, उसका मन शांत हो चुका था। बालामृत की शीशी खरीदने पर उसे काफी आश्चर्य था और अपने आप पर चिढ़ भी थी। कहीं विशाल देख लेगा तो क्या कहेगा?

धीरे से उस ने ताले में चाबी घुमायी और हौले से कमरे में प्रवेश किया, जैसे शोरगुल से उसकी मुन्नी, उसकी 'आभा' जाग जायेगी।

लेकिन कमरा उसे सूना-सूना, एकदम सूना लग रहा था। उसने सब से पहले बालामृत की वह शीशी निकाली और उसे आलमारी में, किताबों के पीछे छिपा कर रख दिया। अब तक उसका अंग-अंग थक चुका था। मन में भार था। वह कपड़े भी न बदल सकी और ज्यों-की-त्यों पलंग पर लेट गयी। उसके अंग-अंग में जितनी थकन थी, उतनी ही एक पुकार थी उसके रोम-रोम में एक नन्हें शिशु की!

सामने, दीवार पर, उसका और विशाल का चित्र टंगा था। कामिनी ने सोचा यह चित्र अधूरा है। इसमें कोई कमी है। उस कमी

को उसे पूरा करना चाहिये। विशाल और वह मिल कर उस कमी को पूर्ण कर सकते हैं। और उसकी कल्पना में उन दोनों के बीच, एक बालक की धुंधली छवि झलक आयी। कामिनी का मन गद्‌गद् हो गया। सारे शरीर में एक सिहरन दौड़ गयी। उसने अपने रतनारे लोचन बन्द कर लिये।

फिर, एक लम्बी सांस उसके सीने में घहरायी और धीमे-धीमे बाहर आयी। करवट बदल कर उसने बुदबुदाया: 'झूलो नन्दलाल,'...और दाहिने हाथ से बायीं ओर की छाती को दबाये लेट रही। उसे लगा कि इस छोटी-सी छाती में एक ज्वार उठ रहा है, उस ज्वार में वह बह जायेगी। यह धड़कता हुआ दिल कोई पिंड है, उसका अपना अंश, उसके सपनों का स्वरूप और सहारा।

दरवाज़े की खटखट से उसका ध्यान भंग हुआ। उसने वैसे ही लेटे-लेटे कहा—"खुला है।" किवाड़ खोल कर पड़ोसिन आयी।

"कम्मो, मुझे बाजार जाना है। नीरा को ज़रा संभालना, मैं अभी आयी।"

कामिनी ने प्रसन्न हो कर नीरा को अपने हाथों में झेल लिया और उसकी आंखों से आंखें मिलते ही उसका चेहरा खिल उठा। उसकी ओर देखती पड़ोसिन वहां से चली गयी।

कामिनी नीरा को निरखती रही—नन्हें-नन्हें हाथ-पैर, छोटा-सा मुखड़ा, सुन्दर काली आंखें, कैसी मीठी नींद में सोयी है! चेहरे पर कैसी अनन्त शांति और भोलापन—जैसे प्रार्थनामय नेत्रों वाले भगवान् बुद्ध का वदनारविंद है! संसार के हरएक महापुरुष को बच्चों से बहुत प्यार रहा है। अरे, स्वर्ग के फूल हैं ये, धरती के तो सर्वस्व हैं!

और उस दिन जब यही बात उसने ऑफिस में कही थी, तब लड़कियां हंसने लगी थीं और मजाक उड़ाने लगी थीं। सिर्फ एक कालिन्दी कुलकर्णी उसकी ओर थी। संतति-नियमन की बात चली, तो कहने लगी देश के बच्चों को अगर आप काम नहीं दे सकते तो यह न कहो कि परिवार में कम बच्चे होने चाहियें। बच्चे के पीछे खर्च होता है, तो हरेक बच्चा दो हाथ ले कर आता है। बड़ा होने पर आप उसे काम दीजिये"। उस समय दीपाली दांडेकर ने उसका विरोध किया था और उस विरोध का कालिन्दी ने जो उत्तर दिया तो हंस कर वह चुप रह गयी थी "दीपा, संतति-नियमन के तुम्हारे पिता भी समर्थक होते, तो तुम न होती यहां। अपनी सभी बहनों में तुम्हीं सब से सुन्दर हो और इस सारे ऑफिस में तुम्हीं खूबसूरत भी, चतुर और बुद्धिमान् भी। यदि तुम्हारा जन्म न होता, तो दांडेकर-परिवार और यह दफ्तर इतनी सुन्दर लड़की से वंचित रह जाता। इसी प्रकार मेरे

माता-पिता भी नियमन का मजहब स्वीकार कर लेते, तो कुलकर्णी साहब इस परी से वंचित रह जाते ।' और इस के बाद कालिन्दी–सी भरी-भरी कालिंदी खिलखिला कर हँसने लगी थी । अवश्य उस समय वह सीमन्तिनी रही होगी । कितनी सलोनी और सुहावनी लगती थी !

पास लेटी नीरा बेबी ने अँगड़ाई ली । कामिनी अपनी गोरी–पतली उँगलियों से उस के घुंघराले सुगन्धित केशो को सहलाने लगी और उसे थप-थपाने लगी । बच्ची की कटि पर हल्की-सुनहरी जंजीर बंधी थी और उस के लाल-सफेद बदन पर वह खूब खिल रही थी ।

खिलते हुए गुलाब की पंखुड़ियो की तरह नीरा ने अपनी पलकें खोलीं । कामिनी उस का गोल मुखड़ा निहारती रह गई । सांस रोके वह उसे देख रही थी । नज़रें मिलते ही बेबी मुसकरायी और उस के दो नये दूधिया दांत चमके । कामिनी ने उसे छाती से चिपटा कर दो–तीन बार चूम लिया । और उस समय जो ज्वार उस की छाती में बायीं ओर उठा था, जैसे एकाएक शांत हो गया ।

लेकिन नीराजी के जी में जाने क्या आई कि हाथ फैला कर और पैर फेंक कर रोने लगी । उस की श्यामला आंखों से बड़ी–बड़ी बूँदें बह कर कपोलों पर गिरने लगीं । कामिनी ने झट से अपना चमकीला पैन उस के हाथ में दे दिया । फिर भी, वह रोती रही । तो इस बार कामिनी ने प्रोफेसर विशाल की एक बड़ी–सी पुस्तक उठा कर बेबी के हवाले कर दी । विशाल को इस पुस्तक से बड़ा मोह था और वह इसे अपने घनिष्टतम मित्रों को भी छूने न देता था । किन्तु बेबी को रिझाना आसान न था । उस ने अपना स्वर मध्यम से तीव्र की ओर चढ़ाया, और कामिनी के रहे–सहे प्राण भी संकट में पड़ गए । फिर उस ने उसे गोद में उठा कर दर्पण दिखलाया । दर्पण में तरह-तरह के चेहरे बनाये, लेकिन नीरा को एक भी चेहरा पसन्द न आया । आखिर, यह ऐसे–वैसे टेस्ट की लड़की नहीं है—कामिनी ने सोचा । उसे खुशी भी हुई और दुःख भी हुआ । दर्पण से हटी कि बेबी दुगुने जोर से रोने लगी । कामिनी ने कमरे में इधर–उधर नजर डाली और आलमारी पर रखी अलार्म नीरा के कानों तक ले गई । उस की धीमी टिक्-टिक् उसे सुनाई, घंटी टुनटुनाई, परंतु नीरा ने चुप न रहने की शपथ ली थी ।

बेचैन कामिनी परेशान थी कि नीरा के सुख के लिए क्या न कर दे ! अचानक उसे ख्याल आया कि यह भूखी है । लेकिन कामिनी उसे खिलाये क्या ? उस ने रसोई घर में जा कर देखा, शाम की चाय के लिये दूध रखा था । कामिनी ने उस में बहुत सी चीनी घोल कर प्याला बेबी के मुख से लगा दिया, लेकिन वह न पी सकी । बोतल से पीती है ।...

और अब तक नीरा इतनी रो चुकी थी और कामिनी इतनी घबरा गई थी कि वह रुआंसी हो गई और तभी उसे यह ख्याल आया, ख्याल तो क्या आया, स्वाभाविक रूप में उस ने खिड़की का पर्दा गिरा दिया, अपने ब्लाउज़ के बटन खोल दिये, और अपना स्तन नीरा के मुंह से छुआ दिया। ललक कर, दोनों हाथों से उस अमृतकुम्भ को थाम कर, बच्ची ने अपने होंठ चिपटा दिए, लेकिन आधे मिनट के बाद ही हटा लिये और जैसे एक कोरी, प्रश्नमयी, शून्य नजर से कामिनी की ओर देखा।

कामिनी का चेहरा उतर गया। बच्ची को थपथपाती हुई वह बैठक में आई और फिर से पलंग पर लेट गयी। यद्यपि वह उसे सुख देने में असमर्थ रही, पर अपने बन्द कलशों पर बेबी के होंठ छुआ देने से जो तृप्ति और आनन्द उसे मिले थे, वह न तो उसे एम. ए. में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने पर मिले थे, न विशाल को पा कर ही।

उसे बालामृत की शीशी की याद आयी। जल्दी से उस ने आलमारी खोल कर शीशी निकाली और एक चम्मच भर लिया। फिर अपनी छोटी उंगली डुबो कर बेबी के होंठों पर छुआ दी। पहले तो बेबी ने कुछ इंटरेस्ट नहीं दिखाया, पर जब मिठास जीभ तक पहुंची तो वह कुछ चुप हुई। कामिनी ने दूसरी उंगली भिगोई और लम्बी-लम्बी नजरों से लेबिल पढ़ने लगी कि नन्हे बच्चे को कितने चम्मच दिये जा सकते हैं!

फिर जाने क्या जी में आया, जाने कोई लगन थी, जाने कोई प्यास थी, जाने क्या था, कि अपने उन्मुक्त उरोज की चूची पर उस ने कुछ बूंदें मल दीं और अब नीरा के होंठ उस से सटा दिये। होंठ हिले, जीभ नन्हीं-सी हिली और कामिनी को असीम रस, आनन्द और सिहरन का नशा चढ़ने लगा। कामिनी ने बन्द दरवाजे की चिटखनी चढ़ा दी और उस की ओट में खड़ी, चोर की तरह इस सुख का आस्वादन करने लगी।

फिर नीरा को छाती से चिपटा कर, सभी इष्ट देवताओं और कुल-देवियों की मनौतियां उस के चुप रहने के लिए लेती हुई, आँखें बन्द किये लेट गई। एक अनिवर्चनीय रस-वर्षण-पर्व का उसे आभास मिला। रेशमी बादलों की सेजों पर जैसे वह तैर रही है। आसपास रत्नावलियों का आलोक लहरा रहा है और तृप्तियों में सराबोर परिमल महक रहा है। जाने कब उसे नींद आ गई!

न जाने कब पड़ोसिन आ कर अपनी नीरा को ले गई।

प्रोफेसर विशाल बागले ने कमरे में अन्धेरा देखा, तो उन्हें कुछ चिन्ता हुई। दरवाजा खुला था। उन्हों ने अपने दोनों हाथों की पुस्तकों का बोझा मेज पर रख दिया और स्विच ऑन किया।

कामिनी भर नींद में सोई थी। वह उस के सिरहाने बैठ गये और एक हाथ से उस की कुँआरी देह को सहलाने लगे।

आज पहली बार, शादी के बाद, उन्हें फुरसत मिली थी। उन्हें ख्याल आया उन्हों ने कामिनी को कभी सुख नहीं दिया। बेचारी रात-दिन काम करती है। घर और बाहर, सुबह से शाम—काम और काम! रुपया हम ने जमा कर लिया, पर अपने जीवन और उस के यौवन के कितने सुनहरे पर्व खो दिये! यह पैसा किस काम आयेगा? आज विशाल ने पहली बार कामिनी को देखा, अपने आप को देखा और दोनों पर उन का मोह बढ़ता गया।

पांच-सात मिनिट के पश्चात्, कामिनी के अधमुँदे लोचन खुले। हड़बड़ा कर वह उठ बैठी। सरकी हुई अपनी साड़ी ठीक की। खुला हुआ अपना ब्रेसियर ठीक किया। घबरा गई कि कुछ जान न पाई।

"क्यों, जी कैसा है? मैं ने अभी तुम्हारे आफिस में फोन किया था। मालूम हुआ कि आज तुम जल्द चली आई हो छुट्टी ले कर।"

"आज—नहीं, हमेशा की छुट्टी ले कर। विशाल, मैं बहुत थक गई हूं। मुझे ये नौकरियां अच्छी नहीं लगतीं।" और उस ने दोनों अपनी बांहें विशाल की ग्रीवा में झुला दीं।

"तो कौन कहता है तुम नौकरी करो? तुम्हीं ने तो ज़ोर दिया था।"

विशाल ने उस का सिर अपनी गोद में रख लिया। अनहद सुख की छाया में कामिनी ने पलकें मूंद लीं। नीरा का चेहरा नजर आया। नीरा का प्रश्न उठा और नीरा की हिचकियां उस के कानों में आयीं।

झट से वह उठी और एक झटके से उस ने लाइट बुझा दी। सीमान्त के अनन्त-दिगन्तों के क्षितिजों की तरह अपनी सुडौल, मांसल, गोरी बाहें फैला दी और विशाल को, अपने पति को, उन की परिधि में समेट लिया।

विशाल ने देखा उस की कामिनी एक ही दिन में बहुत-बहुत बदल गई है! नारी के समर्पण-सिंधु के समक्ष अपना अस्तित्व उसे एक बिन्दु से भी छोटा लगा। और कामिनी की बांहों में, विशाल छोटा पड़ता गया, छोटा पड़ता गया, छोटा पड़ता गया। इतना छोटा कि उस छोटी छवि के रूप-रंग, आकार-प्रकार, नाक-नक्श का अक्स ले कर, पांच लाख बरस की बुढ़िया, विधना-मैया ने अपने अतिविराट् रजिस्टर के एक कोने में लिख दिया:

'सौभाग्यवती कामिनी और विशाल वागले। दादर पश्चिम, बम्बई, देवभूमि भारतवर्ष। दस मास पश्चात्, चतुर्थ याम, म्लेच्छ गणनानुसार छः बज कर तीन सेकिंड, सात पौंड का स्वस्थ शिशु।'

● ● ●

★ लालचंद्र गोयल

लालचन्द्र गोयल को देख कर और उस के साथ बातें कर के आप कभी भी यह अनुमान नहीं लगा सकते कि आप किसी श्रेष्ठ कलाकार के साथ रम रहे हैं। इस का कारण यह नहीं है कि इस भाई का आवरण तथा अन्तर भिन्न-भिन्न हैं। इस का कारण है कि इस के अन्तर में छल-कपट व बनावट का नामनिशान नहीं...और ऐसे व्यक्तित्व को देख कर ही यह कहना पड़ता है कि श्रेष्ठ कलाकार सरलता और सादगी की देन होता है। प्रपंची अन्तर श्रेष्ठ शिल्पी हो सकता है, श्रेष्ठ कलाकार नहीं हो सकता। लालचन्द्र गोयल ने कभी व्यावसायिक दृष्टि से नहीं लिखा और इसी लिए जब भी लिखा अपनी विशुद्ध आंतरिक प्रेरणा से लिखा—और खूब लिखा !

अपने चौबीसवें वर्ष में चल रहे भाई लालचन्द्र गोयल ने केवल इण्टर-मीडिएट की शिक्षा प्राप्त की। इतनी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के स्वामी श्री गोयल की ८० से ऊपर कहानियां विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं, किन्तु पुस्तक-रूप में प्रकाशन की ओर से विशेष प्रयत्न न होने के कारण कभी वे एकत्र हो कर सामने नहीं आ पाईं। यह काम शायद हम ही लोगों को करना पड़ेगा।

प्रस्तुत कहानी 'प्रेम-दिवानी' अपने किस्म की अद्भुत कहानियों में है। ध्यान दीजिए, जिस कुरीति पर इस में नई शैली, नई तकनीक, नए व्यंग्य और नए कोण से चोट की गई है उस पर पहले न जाने कितने सीधे प्रहार हो चुके हैं, कितने बांके व्यंग्य पड़ चुके हैं, कितनी करुणा और कुढ़न उंडेली जा चुकी है ! किन्तु इस अदा से साथ इस कुरीति की आखेट एक नारी-पात्र को किसी ने पेश किया हो ऐसा याद नहीं आता। कहानी की नायिका का पहला नहीं, दूसरा नहीं, तीसरा नहीं, चौथा प्रेमी कहानी के धरातल पर प्रस्तुत है। प्रेमी व प्रेमिका के बीच जो संभाषण होता है वह एक विचित्र किन्तु वास्तविक स्थिति की सूचना देता है। नायक प्रेम भी करता है, नायिका से घबराता भी है, पिता से डरता भी है, छूटना भी चाहता है, अटकना भी चाहता है—एक विचित्र द्वन्द्व है जो यथार्थ का मूर्तिमान रूप ले कर उभरा है। और नायिका की तो व्यथा ही निराली है ! श्री गोयल ने यह कहानी लिख कर न केवल कथा-साहित्य में एक अलभ्य मोती पिरोया है, बल्कि साथ ही साथ इस भयंकर व काली प्रथा पर एक मर्मान्तक प्रहार किया है—बधाई ऐसे सृष्टा को !

—१७ गंज बाज़ार, सदर, मेरठ छावनी।

● प्रेम-दिवानी

कमला हमारे शहर की बदनाम लड़की है। कहते हैं वह नित नये लड़कों से प्रेम करती है। उन में से तीन तो कुछ दिन काफी प्रसिद्ध रहे। अब उस का प्रेम चौथे लड़के से चल रहा है।

उन लड़कों की कथा भी विचित्र-सी है। पहला लड़का, जिस की आंखें बिल्लौरी थीं और रंग काश्मीरी सेब जैसा, डाक्टर का पुत्र था। जब डाक्टर साहब पर उन दोनों के प्रेम का राज खुला, तो उन्हों ने अपने लड़के की तुरन्त शादी कर दी। दूसरा लड़का एक व्यवसायी का था। उस के पिता ने उसे इस मर्ज से बचाने के लिये कलकत्ते में नौकर करा दिया। तीसरे लड़के के बारे में अब मुझे कुछ ठीक से याद नहीं। चौथा लड़का किशोर एक ठेकेदार का लड़का है। पहले कन्ट्रोल के जमाने में उस का बाप कपड़े का डिस्ट्रिक्ट-इम्पोर्टर था और हजारों के वारे-न्यारे करता था। पर बाद की मंदी ने उस की लुटिया डुबो दी और उस के बाप को हार कर फैजाबाद में सड़क बनाने आदि के छोटे-मोटे ठेके लेने पड़े।

उधर कमला भी रायबहादुर की लड़की थी। बचपन बग्घी व तांगों में बीता। पर जब से उस ने होश संभाला उसे परिवार की पेट-पूजा की फिक्र पड़ गई। सारे मकान-जायदाद रायबहादुर ने रंगीली महफिलों में लुटा दिये थे। अब वह खेत की मेड़ पर उगे ठूंठ की तरह रह गये थे। इसलिये विवश हो कमला को दफ्तर की चाकरी करनी पड़ी थी—अपने पैरों पर स्वयं खड़े होना पड़ा था।

यह तो रही कहानी की भूमिका। दरअसल इस कहानी का कथानक अपने आप में कुछ घुटा सा है, क्योंकि यह एक ऐसी कहानी की कहानी है जो स्वयं अपने आप में घुटी है।

हां तो, कहानी की नायिका कमला का चौथा प्रेमी किशोर है। पर समय-चक्र ने उसे भी थपेड़े दे दे कर फैजाबाद पहुँचा दिया था। इधर कमला थी कि सूख-सूख कर कांटा-सी हो गई थी। उस का गुलाबी चेहरा प्याज के छिलकों की तरह पीला हो गया था। एकदम म्लान, फटी-फटी सी आंखें और भावहीन लम्बा सा चेहरा। हाथ मानों बांस की खपच्चियां हों, उभरी हुई नसें और डूबा-डूबा सा मन लिये वह साक्षात् नारी-कंकाल सी दीखा करती थी। पिछले कुछ ही दिनों में उस की यह दशा हो गई थी, मानों संसार के सारे बोझ का जुआ उस के कंधो पर रख दिया गया हो।

दरअसल किशोर को लिखे गये उसके कई पत्र पकड़े गये थे और समय की चक्की के बीच पिसते–पिसते वह आधी रह गई थी।

किशोर जब फ़ैज़ाबाद से अपने घर आया तो बड़ा विक्षिप्त–सा था। चाह कर भी कमला के प्रति वह कोई कोमल भावना प्रगट नहीं करना चाहता था। हसता तो लगता मानो हसी का उपक्रम कर रहा है। कभी किसी से मिलता तो बड़ी ही आत्मीयता से, पर लगता कोई बात है, जिसे वह दूर रख रहा है; कोई तूफान है जिसे चाह कर भी समेट नहीं पा रहा है। कमला ने दुनिया को बहुत निकट से देखा था, समझा था। उस से किशोर कम आयु का व कम अनुभवी था। हर वक्त उसके मन पर एक पत्थर सा रखा रहता था।

एक दिन, चाहे–अनचाहे, उन दोनों की मुलाकात हो गई। बात यों हुई कि कमला अपनी बड़ी बहन के साथ एक सहेली के घर आई थी। उसकी वह बहन पच्चीस वर्ष पार कर के भी कुंआरी थी। वर की झोली उसके पिता चाह कर भी भर न पाये थे। बहन के जाते ही कमला ने देखा कि वह अपने निष्ठुर चितचोर के सम्मुख बैठी थी। पहले से ही ऐसा प्रोग्राम जो बनाया गया था।

एक युग से संजोया उसका सारा आक्रोश, मन की पीर आंखों की राह फूट निकले। वह दीवार से लग कर बिलख–बिलख कर रो दी।

कुछ क्षण इसी उहापोह में बीते। उधर किशोर था व्यथित, उद्भ्रान्त। कमला की सिसकियां जो बंधी, तो रुकने का नाम ही नहीं।

"मुझे इसी लिये बुलाया था क्या?" कुछ देर बाद किशोर का स्वर निकला—"मैं यहां रोना–धोना सुनने के लिये नहीं आया हूं।"

"कौन गया था तुम्हें बुलाने? यदि किसी से प्रीति नहीं है तो क्यों आये हो?" कमला बुदबुदायी। एक साथ दो प्रश्न खड़े कर दिये उसने।

किशोर का मन ठेस खाये सर्प की तरह फुंकार उठा। माथे पर शिकन डाल कर वह बोला, "अच्छा, यह बात है तो मैं चलता हूं।" यह कह कर वह उठ खड़ा हुआ।

"ठहरो," तभी डूबी सी कमला का चीत्कार हुआ। "आज ऐसे तो आप नहीं जा सकेंगे। यदि जाना ही है तो मेरी हड्डियों पर पांव रख कर जाना।"

इन शब्दों में न जाने कौन सा विष लिपटा था कि किशोर को सर्पदंश की सी पीड़ा हुई। उसके पांवों को जैसे बेड़ियों ने जकड़ लिया। गरदन घुमा कर जब उसने देखा तो उसका कलेजा धक् से रह गया। कमला के

कंपकंपाते हाथ किसी पुड़िया को खोलने में यत्नपूर्वक लगे थे। तत्क्षण दौड़ कर किशोर ने वह पुड़िया छीन ली। उस छीना-झपटी में कमला कटे पतंग की तरह पलंग पर गिर पड़ी। किशोर पानी-पानी हो गया।

तब धीरे से कमला के पास बैठ, स्नेहपूर्वक किशोर बोला, "इतनी व्यथित न बनो, कमला। तुम जो चाहती हो वही होगा।"

कमला कुछ अपने ग़म में ही डूबी थी। चुपचाप आंखों की कोरों से रूमाल भिगोती रही।

अपनी बात स्पष्ट करता किशोर दूर हो गया। "मेरी बात का विश्वास करो, कमला। यदि मेरी शादी होगी तो तुम से। अन्यथा मैं जीवन भर अविवाहित रहूंगा।"

कमला अब भी नहीं पिघली। न जाने किस अविश्वास की डोर ने उसे ज्वालामुखी बना दिया था। रोषपूर्वक चटक उठी, "ये बातें मैं बहुत सुन चुकी हूं। मुझे क्यों तड़पा-तड़पा कर मारना चाहते हैं?"

"कमला!" किशोर हड़बड़ा उठा। अविश्वास की चरम-सीमा थी।

"नारी बहुत दुर्बल होती है, बाबू जी!"

"तुम तो खूब हट्टी-कट्टी हो!" किशोर ने व्यंग्य कसा।

सुन कर कमला मर्माहत-सी हो उठी। आंखों पर से रूमाल हटा कर, अंधेरे में किशोर को देखने का प्रयत्न करती बोली, "अभी आपने नारी का बाहरी रूप देखा है, उसका दिल नहीं।" कमला का अटपटा कथन उसकी मनोव्यथा से छू गया।

कई क्षण किसी विचारधारा में डूबा-सा किशोर चुप बैठा रहा। इसमें कमला की उपेक्षा भी निहित थी। फिर एक दीर्घ निःश्वास ले कर कहने लगा, "मुझे तुम्हारी हालत पर दया आ रही है, कमला! मुझे डर है कहीं तुम्हें टी० बी० न हो जाये।"

"तो क्या हो जायेगा... ?"

प्रश्न की तीव्रता से बौखलाया सा किशोर शान्त रहा। तब अपनी बात पूरी करती कमला कह उठी, "रोज़ रोज मरने से अच्छा है कोई एक बार मर जाये।"

"तुज इतनी बहादुर कभी नहीं बन सकती। मैं खूब जानता हूं," कह कर किशोर मुसकराया। उसकी विनोदवृत्ति जाग उठी थी।

"प्रमाण चाहते हो?" कमला ने कठोरता से होंठ बिचका कर पूछा। इस बार किशोर फिर ढीला पड़ गया। कमला का हाथ धीरे से अपने हाथों में ले कर बोला, "तुम से मैं और कुछ भी नहीं चाहता। बस

तुम्हें ही चाहता हूं, केवल तुम्हें ।"

और इस बार जब किशोर मुसकराया तो उसकी मुसकराहट कमला के होठों को भी छू गई । फिर दोनों की आंखें चार हुई और आंखों-ही-आंखों में दोनों एक-दूसरे के मन में उतर गये । कई क्षण इस हंसी में पलक मारते बीत गये ।

जब किशोर चलने के लिये खड़ा हुआ तो कमला ने उसके पांव पकड़ लिये । स्नेहसिक्त सी फूट पड़ी, "मेरे प्राण, मेरे स्वामी, मुझे भूल न जाना ।"

अपने पौरुष पर अभिमान करते हुए किशोर ने पांव छुडा लिये, और तेजी से बोला, "कल फैज़ाबाद जा रहा हूं, कमल । अपनी कुशलता के समाचार तो मेरे प्रिय प्रकाश द्वारा तुम भेजोगी न ?"

चाह कर भी कमला कुछ न बोली । मुड़ कर उसने देखा कि इस मुलाकात का प्रवन्धक प्रकाश दूसरे दरवाज़े पर खड़ा मुसकरा रहा था ।

घर से बाहर जब किशोर ने पांव रखे, तो उसके पांव भारी थे, मानो हृदय को किसी ने कचोट लिया है । पर धीरे-धीरे किशोर का नशा उतरने लगा और हृदय की धड़कनें स्वाभाविक हो गईं ।

उस दिन दोपहर को कालिज से लौट कर प्रकाश सपरिवार दिल्ली में इंजीनियरिंग प्रदर्शनी देखने जाने की तैयारी में लगा था कि दरवाजे पर दस्तक हुई । वह चमचमाता सा बाहर गया तो उसने पाया कि दरवाजे पर कमला की छोटी बहन सुषमा खड़ी है ।

प्रकाश ने उसे गोदी में उठा लिया । बोला, "अरे, सुषमा, तुम !"

सुषमा ने मुसकरा कर छोटी सी गरदन हिलाई । फिर उसका हाथ जेब में पहुंचा और दूसरे ही क्षण एक पत्र प्रकाश के हाथों में था :

'प्रिय प्रकाश बाबू,

'बड़ी मुसीबत में हूं । आप से अन्तिम निवेदन कर रही हूं । फिर कभी कष्ट न दूंगी । आज संध्या को चार बजे मुझ से मिल लो । मेरा एक पत्र सुपरिटेंडेंट ने पकड़ लिया था, जिसके कारण मैं बदनाम हो गई हूं । उधर फैजाबाद से भी कोई समाचार नहीं आया । यह सब मेरे साथ एक नाटक हो रहा है, जिसका अन्त दु:खान्त होगा ।

'इसके पहले ही अपना जीवन क्यों न होम दूं ? नफरत की मौत मरने से क्या होगा ?—आयेंगे न आप ?'

'स्नेहिल

'कमला ।'

प्रकाश ने पत्र दो-तीन बार पढ़ा । फिर पत्र पलट कर एक शायर

की पंक्ति लिखी—"इश्क नाकाम सही, जिन्दगी नाकाम नहीं।" फिर मस्ती से गरदन हिलाता बोला, "अपने राम दिल्ली जा रहे हैं। कह देना, सुषमा।"

और सुषमा जो बाहर की तरफ दौड़ी तो उस ने पलट कर देखा भी नहीं।

इस बार किशोर फैजाबाद से लौट कर क्या आया कि उस के साथ ही तूफान सा चला आया। घर पर आ कर उस ने देखा कि कमला को ले कर तहलका मचा हुआ था। दो दिन में ही उस के आगे सारी स्थिति स्पष्ट हो गई। एक पलड़े में उस के मां-बाप सहित सारा परिवार खड़ा था तो दूसरे में कमला। किस को स्वीकार करे, किस को अस्वीकार वह समझ न पाता था। उधर एक जाल था जो बिछ कर तैयार हो चुका था। किशोर के पांवों में कमला से न मिलने के लिये बेड़ियां डाल दी गई थीं।

अब किशोर विक्षिप्त-सा रहने लगा था। बारम्बार उस के सम्मुख कमला की छवि चलचित्र सी घूम जाती और उसे लगता कि किसी का उठा हुआ हाथ उसे पुकार रहा है। कभी उसे लगता कि किसी की भयावह-सी शकल, बिखरे बाल, फटी-फटी आंखें और धंसे गाल उस के सम्मुख आ खड़े हुए हैं। उस के गरम गरम श्वासों में वह डूब गया है और उस के जर्जर हाथों की कंपकंपी वह अपने माथे पर अनुभव कर रहा है। तब किशोर तड़प कर रह जाता। पल पल में शंकाओं के सैकड़ों आकार शिशु-रूप धारण कर, कठपुतली के नाच की तरह उछल-कूद कर चले जाते।

पर एक दिन जब उसे कमला का निमन्त्रण मिल ही गया तो वह मिलने के लिये आतुर हो उठा। दुनिया की नजरों से लुकता-छिपता जब वह प्रकाश के घर पहुँचा, तो उस ने देखा कि चित्र-लिखित सी, आंखें पोंछती हुई वह पलंग पर बैठी थी।

इस से पहले कि कमला हाथ जोड़ती, किशोर ने उस के दोनों हाथ थाम लिये। यह अप्रत्याशित प्यार पा कर कमला की युग से संजोई पीड़ा हिम की तरह पिघल-पिघल कर आंखों की राह बहने लगी।

कुछ क्षण बाद प्रकृतिस्थ होता किशोर बोला—"इन आंखों के आंसुओं को यों न लुटाओ, कमला। इन्हें जीवन की हंसी-खुशी की अमराइयों में बोओगी तो सब कुछ फल-फूल उठेगा।"

कमला की आँखें भारी थी, शरीर भारी था, पर मन अब खुश हो चला था। अपने प्रियतम को पा कर कौन खुश नहीं होता? उस की इच्छा हुई कह दे कि ये आँसू आंखों का पानी नहीं, प्रियतम से मिलने की खुशी में न्योछावर मोती हैं। पर वह चुपचाप बैठी किशोर को कनखियों से पीती रही।

फिर देर से चुभने वाली भावना को स्वर देती वह बोली, "आप तो बहुत दुबले हो गये हैं।"

"तुम तो बहुत मोटी हो गई हो न !" किशोर ने उपालम्भ के स्वर में कहा। फिर कमला की मनोभावनाओं का अध्ययन करने के लिये उस के पलकों की शूली टंग गई। तब दोनों के होठों पर खिसियानी सी मुसकान बिखर गई, मानो जीवन की विडंबना चुपचाप अपनी बात कह रही हो।

तभी बाहर दरवाजे पर कुछ खटपट सी हुई। इधर समय की गति हृदय की धड़कनें नापने में लगी थी। इसी लिये इस खटपट पर किसी ने ध्यान न दिया।

वाणी में मिठास उंडेलती कमला कह उठी, "मुझे अब कब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ?"

यह प्रश्न सुनते ही किशोर गम्भीर हो गया। जिस बात का उसे डर था वही तीर की तरह सामने आ गयी। एक ओर उस के रोमानी जीवन की पृष्ठभूमि थी, तो दूसरी ओर 'जीवन भर का सौदा' मुंह बाये खड़ा था। इसी चक्र में घिरा सा वह प्रश्न को प्रश्न बनाये ही बोला, "इस बारे में मैं क्या कह सकता हूं ? काश पिता जी इतने स्ट्रिक्ट न होते।"

उत्तर सुन कर कमला अवाक् रह गई। इसी युवक के लिये उस ने स्वप्नों के तानेबाने बुने थे, दुनिया भर की ठोकरें खाई थीं, अपने को तिल-तिल कर जलाया था ! देर से रोका उस का रोदन फूट पड़ा, सिसकियां बंध गई।

"बस रोने लगी ! पगली कहीं की !" किशोर होंठों पर बरबस मुसकान लाता, बात बदल कर बोला, "मैं तो तुम्हारे धैर्य की परीक्षा ले रहा था। भला मैं अपने वादे कैसे भूल सकता हूं ?"

किशोर की बात खत्म होते-न-होते दरवाजे पर आहट हुई और उस के पिता जी धीरे से नमूदार हुए। यह देखते ही किशोर के पांव के नीचे से धरती मानो खिसकने लगी, प्राण गले में अटक गये और लगा जैसे चोरी करते पकड़ लिया गया हो। उस ने भयातुर सी आंखें उठा कर एक बार कमरे को जी भर कर देखा और कांपता-सा खड़ा हो गया।

इस बीच किशोर के पिता ने बहुत कुछ सोचा था, निश्चय किया था। वह स्नेहपूर्वक बोले, "किशोर !"

किशोर की गरदन जो झुकी तो झुकी ही रह गई।

एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर उन्हों ने अपने आप को संयत किया। तब अपनी घनी मूंछों को चबाते बोले, "मेरे अच्छे बेटे, मैं समझता हूं तुम ने मेरी बात पर गम्भीरता से सोच-विचार कर लिया है और मेरा और तुम्हारा

निर्णय एक है।"

किशोर उत्तर देने की स्थिति में नहीं था। कमला ने शरम व भय के मारे मुंह छिपा लिया।

इस पर अपनी बात को बढ़ावा देते पिता जी ही बोले, "तुम ने अपनी बात का हमेशा पालन किया है, किशोर! मुझे तुम पर इसी कारण पूर्ण विश्वास है। मैं समझता हूं तुम इस लड़की से आखिरी बार मिलने आये थे और भावी जीवन में फिर कभी इस का मुंह भी न देखोगे।"

किशोर की इच्छा हुई कि कानों पर हाथ रख कर जोर-जोर से चीखे। पर प्रकट रूप में वह काठ की मूर्त्ति की तरह खड़ा रहा।

तब किशोर का हाथ धीरे से पकड़ कर दरवाजे की ओर खींचते हुए पिता जी बुदबुदाये, "आओ, बेटा, अब चलें।"

और किशोर जादू की डोरी में बंधा-सा, खिचा चला गया, जैसे यहां उस का कोई न हो; मानो डूबते गज को वंशी बजानेवाले ने नंगे पांव धाय कर बचा लिया हो! इन दोनों के जाते ही निःसहाय कमला उत्तेजित हो उठी और दहाड़ मार कर पलंग पर बेसुध-सी गिर पड़ी।

उस बेचारी ने अपने जीवन में लगातार चार युवकों से प्रेम किया था—हर बार नई उमंगें, नई आशा और नए स्वप्न-जाल की रंगीनियां बुन कर। उसे सब बीच में ही छोड़ कर चले गये, क्योंकि बिना शादी किये वह रह नहीं सकती थी, समाज की जबान को लगाम नहीं दे सकती थी। लेकिन शादी करती ही किस से? उस के बाप के पास हाथ तो थे पर बन्द मुट्ठियां न थीं। इसी लिए अलाव के धुएँ की तरह उस की चारों ओर घुटन सी फैल गई।

इस के बाद कमला कितने ही दिनों तक दिखाई नहीं दी। पर अचानक एक दिन उस की प्रकाश से भेंट हो गई, तो धीरे से वह कह उठी, "मैं तुम्हें प्रेम करती हूं—सब से अधिक।"

प्रकाश पर मानो राह चलते हंटर पड़ गया हो! तीर की तरह भागा और पीछे मुड़ कर नहीं देखा।

'मेरा दर्द न जाने कोय' की स्थिति में कमला कुछ देर तक सतृष्ण नेत्रों से उस की लोप होती आकृति को देखती रही।

● ● ●

★ शशिप्रभा शास्त्री

श्रीमती शशिप्रभा शास्त्री उन विदुषी महिलाओं में से हैं, जिन्हें न केवल ऊंची शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला, बल्कि जिन्हों ने उसका सही अर्थों में सदुपयोग भी किया। आप म० क० पा० कालिज, देहरादून, के हिंदी विभाग की अध्यक्षा हैं और डाक्टर धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री की पत्नी हैं। विद्वान पति के प्रोत्साहन व सहयोग से ही आप को साहित्य-रचना के क्षेत्र में पदार्पण का बल मिला है। लिखना-पढ़ना और घर-गृहस्थी का सुचारु रूप से संचालन ये दोनों ही काम जो महिलायें एक साथ कर सकती हों, अपने समस्त अंतर्मन से मैं उन का सम्मान करता हूँ...और आप कहती हैं कि आप दोनों के प्रति समुचित न्याय नहीं कर पाती! शायद, किन्तु आप की यह भावना ही मेरी श्रद्धा पर अधिकार कर लेती है। अपने नन्हें-नन्हे बच्चों व पति के प्रति दायित्व निभाने में आप को जितनी प्रसन्नता मिलती है उतनी ही तल्लीनता और आनन्द आप को अपनी लेखनी की गति में मिलता है। लिखे बिना जिन से रहा नहीं जाता उन्हीं साहित्य-कत्रियों में से आप एक हैं।

तीस वर्ष के अपने जीवन में श्रीमती शशिप्रभा ने पर्याप्त उपलब्धियां बटोर ली हैं। पाठ्य-क्रम से अलग निरन्तर अध्ययन करते रहने के साथ-साथ आप ने हिंदी और संस्कृत में एम. ए. किया और इन सब से प्राप्त व्यावहारिक ज्ञान के बल पर एक विद्यालय के हिंदी विभाग का प्रबन्ध करने के साथ-साथ 'साहित्य संसद', देहरादून, की प्रबन्ध-मन्त्राणी भी रह चुकी हैं।

'खाली झोली : भरे हाथ' एक उत्कृष्ट रचना है। इस में मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में खड़ी वर्गभेद की दीवार पर से दया-माया के सलमे-सितारे से टंका वह मखमली परदा खींच दिया गया है, जो दीवार के अस्तित्व से ही इंकार करता है। सामान्यतः पढ़ने में यह एक व्यंग्य है, किन्तु कहानी की पात्र कमला के प्रति न ही हमें अप्रसन्नता होती, न ही रोष। इस का कारण है मध्यम वर्ग के जीवन की वे परिस्थितियां, जो उच्चतम व निम्नतम दोनों ही वर्गों की दैनिक परिस्थितियों से टकराती हैं और फलस्वरूप उदारता व संकोच से इस बिचौले वर्ग का हाथ बढ़ता भी है और खिंच कर फिर वापस भी आ जाता है। ऊंचे वर्ग में जो सज्जन हृदय-परिवर्तन कर के वर्गभेद की दीवार को ढाना चाहते हैं वे कमला के हृदय से अधिक दया-माया उत्पन्न नहीं कर सकेंगे—यह निश्चय है। इस कहानी को लिख कर श्रीमती शशिप्रभा शास्त्री ने कथा-साहित्य में अपना ऊंचा स्थान बना लिया है।

—३/६ *भगवाननगर, देहरादून।*

• खाली झोली : भरे हाथ

कमला ने द्वार खोला तो गिज्जू खड़ा था।

"क्यों रे, इतनी धूप में कैसे ?"

"लड़की हुई है, बीबी जी," गिज्जू ने सिर लटकाते हुये कहा।

"हां तो फिर खबरदारी रखियो ज़रा। हमारे यहां तो पहली लड़की बड़ी शुभ मानी जाती है।" मानो कमला की ज़बान गिज्जू की निराशा को सहला रही हो।

"ठीक, बीबी जी, हमारे यहां भी यही है। पर, बीबी जी, एक दस रुपये का नोट चाहिये। महीने का आखिर है, सवेरे से यों ही पड़ी है जी। यों कहते हैं सब कि कम से कम दो सेर घी तो पेट में पहुंच जाये। बताओ, कहां से लाऊं ? बस दस रुपये दे दो इस वक्त तो, बीबी जी।"

"दस रुपये !" कमला ने आंखें फाड़ कर देखा। यह वही गिज्जू है जो अभी कल अपनी मां के साथ झाड़ू ले कर आया करता था, मां की मौत ने जिसे बचपन में ही जवान बना दिया था, पर जिस के मुँह पर बराबर ताला लगा रहता था, और जो आज अठारह बरस की उमर में ही एक लड़की का बाप बन गया था। अब किस तरह पटर पटर बोल रहा है ! कमला ने धीमी आवाज में कहा, "सब एक घर से ही तो मत मांग, गिज्जू। थोड़ा-थोड़ा हर घर से लेना।"

"तुम भी, बीबी जी, ऐसी बात करो हो ! कोई दस रुपए में सिगला काम बन जायेगा ? चार घर से दस-दस लूंगा।"

"तो, गिज्जू, यहां से तो दस रुपये इस वक्त नहीं मिलेंगे। महीने का आखिर तो यहां भी है न। तेरी बात कभी टाली है ? पर देख, गिज्जू, इस वक्त लाचारी है," कहते हुए कमला भीतर चली गई। गिज्जू चिल्लाता रहा—"बीबी जी, साल जरूर लाइयो !"

पर थोड़ी देर में गिज्जू ने देखा कि उस की हथेली पर पांच रुपये का एक नोट रखा है और बीबी जी कमरे में जा चुकी हैं। गिज्जू अब क्या कहता? पिछले दो घरों से उसे किसी ने कुछ भी देने से इन्कार कर दिया था। 'यहां से इतना ही सही,' सोचता हुआ गिज्जू सीढ़ियों उतर गया।

कमला कमरे के भीतर चली गयी और मशीन पर बैठ गई। फिर उठी तो सुरेन्द्र और उसकी बहू आ धमके। मेहमानों को खिला-पिला कर निबटी तो बच्चे रोने लगे। उन्हें नाश्ता करवा, कपड़े बदल, रामू के साथ सैर

करने भेजना पड़ा। इसके बाद वह शाम के खाने में जुट गई और रात तक जुटी रही। बच्चों तथा पति को खिला-पिला कर लेटी, तो वह बिल्कुल थक कर टूट सी गई थी। किन्तु आंखें बन्द नहीं हो पा रही थीं, सिर दर्द से फटा जा रहा था। कमला के मस्तिष्क में मानो किसी ने बटन दबा दिया। खट से पार्टिशननुमा तख्ता सरक कर एक ओर खड़ा हो गया। उसे लगा वह तीन वर्ष पहले का ही दिन है, जब वह पलंग पर लेटी थी। दो दिन की नन्ही मधु उसकी बगल में लेटी थी और उसके सिर में ऐसा ही चक्करनुमा दर्द हो रहा था। आँखें उस की बन्द थीं। तभी उस की बड़ी ननंद पद्मा ने आ कर कहा था :

"भाभी, हरीरा पी लो।"

"सिर में बड़ा दर्द है, बीबी जी," कमला ने धीमी आवाज में कहा था।

"उसी की तो दवा है, भाभी। उठो न, पी लो।" पद्मा का स्वर कमला के कानों में अब भी गूँज रहा था!

कमला सहारे से उठ कर बैठ गई थी। उसने देखा था बड़े से चमचमाते कटोरे में हरीरा भरा रखा था; दो-तीन अंगुल ऊंचा घी का समुद्र उस में शान्त खड़ा था, जिस में अर्द्धचन्द्राकार कटे हुये गोले के टुकड़ों की सफेद पालें उड़ाती हुई बादाम और पिस्ते की नन्ही-नन्हीं हरी-लाल नौकायें इधर से उधर तैरती फिर रही थीं। कटोरे के पास ही एक चांदी की प्लेट रखी थी, जिस में तले हुये नमकीन मखाने तथा चिरौंजी और कुछ नमकीन बादाम सजे रखे थे। कमला ने कटोरा गटागट खाली कर दिया था। उसे लगा था मानो किसी ने चन्दन का लेप कर दिया हो। उस की आंखें खुलती चली गई थीं। पद्मा ने मुसकरा कर पूछा था, "भाभी, ले जाऊँ कटोरा?" और कमला ने भी प्रत्युत्तर में मुसकरा कर गर्दन हिला दी थी। और आज गिज्जू की बहू अपनी झोंपड़ी में लेटी है। उस की बगल में सद्यप्रसूता बच्ची लेटी है, और गिज्जू आज दस रुपये मांग रहा था। वह अपनी बहू को दो सेर घी खिला कर उसे खड़ी करेगा और फिर वह टोकरा उठा कर घर घर गिलाजत उठाती घूमेगी, घर घर उल्टी-सीधी सुनने के लिये तैयार हो जायेगी।

हाय बेचारी गिज्जू की बहू! कमला को नींद नहीं आ रही थी। उसे याद आया, मुन्नु-चुन्नु और मधु तीनों के होने में ही उस के घर देशी घी का बड़ा टिन गांव से आया था, दस सेर मेवा मंगाई गई थी, अजवायन और गूगल की धूनियां दी गई थीं, लेडी डाक्टर की बताई हुई अनेकों दवाइयों और पाउडर तथा बेबी के साबुन का ही दस रुपए से ऊपर का बिल बैठ गया था—और आज गिज्जू दस रुपये मांग रहा था। कमला का सिर भन्ना उठा।

उसने सोचा, 'गिज्जू भीख नहीं मांग रहा था। पर कर भी तो रहा था गज़ब ! दस रुपये, पांच महीने की तनख्वाह एकदम !' कमला झल्ला उठी। उस को नींद नहीं आ रही थी। अपनी झोंपड़ी में चिथड़ों के बीच लेटी हुई गिज्जू की बहू कमला के मस्तिष्क में फिर करवटें लेने लगी। मधु के होने के समय के सफेद तौलिये, बुर्राक़ चादरें, हवा के साथ उड़ते हुये झिलमिलाते पर्दे गिज्जू की बहू की झोंपड़ी के द्वार पर टंगे हुये टाट के पर्दे से जा कर टकराने लगे।

हाय मैंने पूरे दस ही क्यों न दे दिये बेचारे गिज्जू को, कमला सोचने लगी। पर गिज्जू कल भी तो आयेगा। पर कल क्या कह कर गिज्जू को पांच रुपये और दिये जायेंगे ? इतनी बड़ी लाचारी दिखाने के बाद पांच रुपये और कहां से आये दिखाये जायेंगे ? पर गिज्जू को इस सब से क्या मतलब ? उसे तो रुपये चाहियें। सोचते सोचते कमला सो गई।

दूसरे दिन गिज्जू आया और काम कर के चला गया। कमला बड़ी व्यस्त थी। कुछ न कह सकी और कहती भी क्या ? कमीन लोगों को पैसे देने के लिये क्या अपने आप पूछा जाता है ? ज़रूरत होती तो गिज्जू ज़रूर मांग लेता। सोच कर कमला को सन्तोष आ गया। किन्तु गिज्जू की बहू उसका पीछा नहीं छोड़ रही थी—वही गिज्जू की बहू जिसे गिज्जू अभी पिछले जून में ब्याह कर लाया था, जो अपने लाल लाल मेंहदी के हाथ लिये हुये और कलाई में कलावा बांधे चौथे दिन ही टोकरा और झाड़ू ले कर उसके द्वार पर आ कर छमछमाती खड़ी हो गई थी। कमला ने पीछे खड़े गिज्जू से पूछा था :

"यही है तेरी बहू, रे गिज्जू ?" और गिज्जू प्रत्युत्तर में मुस्करा दिया था और वैल की छपी हुई साड़ी में लिपटी बहू कुछ सिकुड़ गई थी, घूंघट के भीतर कनखियों में ही मुसकरा दी थी। जिसकी लजीली आंखों और सुनहरे रंग ने सूरजमुखी के फूल को भी मात कर दिया था, जिसने अपने जीवन के मुश्किल से पन्द्रह वसन्त देखे थे और सोलहवें वसन्त में जिसने गिज्जू से प्यार के बदले मार खाई थी, जो रोज़ कभी रो रो कर, कभी हंस हंस कर बेबुनियाद आपसी झगड़े सुनाया करती थी, जो मां के घर पखवाड़ों तक के लिये रूठ कर चली जाती थी—वही गिज्जू की बहू इस कच्ची उम्र में एक बच्ची की मां बन कर अपनी टूटी-फूटी, बरसात में टपकने वाली कोठरी में लेटी हुई थी, और गिज्जू उसके लिये आज दस रुपये मांग रहा था।

कमला ने सोचा वह गिज्जू की बेचारी बहू के लिये कुल्हड़ में हरीरा भिजवायेगी, या बादाम मिला दूध भिजवायेगी। घर के सब आदमी रोज़ पीते हैं, एक दिन गिज्जू की बहू भी एक गिलास पी लेगी तो क्या हानि हो

जायेगी ? बेचारी गिज्जू की बहू ! और कमला ने उसी क्षण गुदगुदे कौच में धंसे अविनाश से पूछा था :

"क्यों जी, कल गिज्जू की बहू के लिये दूध का एक गिलास भिजवा दूं ? बेचारी के लड़की हुई है।"

"अरे, गिलास ही क्यों, एक नांद भर कर भिजवाओ न, जिसमें गिज्जू और गिज्जू की बहू दोनों इधर-उधर तैरते फिरें और जितना मन चाहे गटकते रहें !" कह कर अविनाश बाबू खिलखिला कर हंस पड़े। कमला झेंप गई। अपनी झेंप मिटाने के लिये वह पास खड़ी मधु का फ्राक उतारने लगी। सोचा, मैं भी क्या पागल थी ! किसी ने आज तक भंगियों के यहां दूध-हरीरा इस तरह भिजवाया है ? कुछ गुड़-वुड़ दे दूंगी; न होगा कुछ मेवा दे दूंगी। गिज्जू अपने आप बना लेगा। सोचते हुये कमला फिर काम में उलझ गई।

दूसरे दिन गिज्जू ठीक समय पर आया और चला गया। कमला पूजा कर रही थी, कैसे उठती ? और गिज्जू को तो दोनों समय आना ही था। उसके मारे कमला क्या भगवान की पूजा-अर्चना छोड़ देती ? अगले तीन दिन कम्बख्त गिज्जू उसी समय आता रहा और गुड़ उसे नहीं मिल पाया। चौथे दिन कमला ने चटकारी धूप को देखा, बाग से टूट कर आये हुये नये कच्चे आमों के ढेर को देखा और फिर कमला ने नौकर रामू से चिल्ला कर कहा—

"रामू, ज़रा जल्दी जल्दी इन आमों को तो काट कर रख दे, थोड़ा सा मीठा अचार ही डाल दूं।" और रामू ने आमों को ज़रा सी देर में हलाल कर के डाल दिया। कमला ने सोचा, कहीं अचारी में मीठा कम न हो जाये, साल भर का अचार बिगड़े। इसलिये कमला को सारा गुड़ अचार में छोड़ देना पड़ा। उस ने सन्तोष की सांस ली; सोचा, अच्छा हुआ मैंने गिज्जू से गुड़ ले जाने के लिये कहा नहीं, नहीं तो क्या जमादार के लिये खास तौर से बाजार से गुड़ मंगवाती !

कमला ने गिज्जू को भुला दिया। गिज्जू की लड़की, उसकी बहू सब को उसने मस्तिष्क से झाड़ कर बाहर फेंक दिया। किन्तु उस दिन काम कर के उतरते हुये गिज्जू पर कमला की एक निगाह पड़ गई। कमला ने देखा, बलिष्ठ कंधों वाला लम्बा-चौड़ा गिज्जू सिकुड़ कर आम की गुठली की तरह हो गया है, उसका तांबे सा तमतमाता रंग अब काले लोहे की तरह बन गया है, बाल पक से गये हैं, कुहनी फटी कमीज़ में से निकली हुई है, पाजामे का एक पांयचा हड्डी जैसी रान पर चढ़ा हुआ है और वह टोकरा लिये उतर रहा है। कमला फिर पिघल उठी। हाय बेचारे गिज्जू की

जिन्दगी ! अपनी बहू को चाहते हुये भी कुछ नहीं खिला पाता। उधर कमला तथा अविनाश बाबू को प्राय: अफारा ही बना रहता है।

इसे दस रुपये का एक नोट उठा कर यों ही दे दूं; कितना खुश हो जायेगा यह ! पर दूं कैसे ? क्या कहेगा गिज्जू ! होगा तो बड़ा प्रसन्न, पर हमेशा मांगने की आदत भी तो पड़ जायेगा। और फिर, कहीं हमें सचमुच धन्ना सेठ समझ कर चोरों को घर में घुसा दिया, तो हवन करते हाथ जले की कहावत सिद्ध हो जायेगी। इन लोगों का क्या ठिकाना ! और कमला अपनी इस समझदारी पर खुद निहाल हो उठी।

इसके बाद तीन दिन के लिये कमला अपनी चाची के यहां चली गई। लौट कर आई तो क्या देखती है कि गिज्जू की बहू दरवाज़े पर खड़ी मुसकरा रही है।

"ऐं !" कमला के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। "कितने दिन की हो गई बच्ची ?" उसने पूछा।

"अभी बारह दिन की है, बीबी जी," गिज्जू की बहू ने मुसकरा कर कहा। वह बड़ी कमजोर दीख रही थी, उसके गाल कान्तिविहीन हो गये थे, आंखों की चारों ओर काले गड्ढे पड़ गये थे, शरीर सूख सा गया था, और वह मुसकरा रही थी, जैसे उजड़े चमन में जूही का एक नन्हा सा फूल खिल उठा हो।

"लड़की कहां है ?" कमला ने फिर पूछा।

"घर है, बीबी जी। सोई पड़ी है," गिज्जू की बहु ने फिर इठला कर उत्तर दिया, और झमकती हुई टोकरा लिये नीचे उतर गई।

कमला देखती रह गई। उसे याद आया, बारह दिन तक तो कमला ढंग से बैठ कर बच्चे को दूध भी नहीं पिला पाती थी; और हाय बेचारी गिज्जू की बहू ! कमला सोच ही रही थी कि गिज्जू आ कर खड़ा हो गया।

"बीबी जी, कहां गई वह ? बच्ची नीचे पड़ी पड़ी रो रही है।"

"नीचे पड़ी रो रही है ! वह तो कह रही थी कि घर पर ही है ?"

गिज्जू एक व्यंग्यभरी मुसकान हंसा और बोला, "बीबी जी, घर पर कौन है जो बच्ची को संभालेगा ? साथ रहेगी तो उसकी भूख-नींद सब देखते रहेंगे हम।"

कमला दो क्षण ठक सी खड़ी रही और फिर डांट कर बोली, "अरे गिज्जू, तू जाने क्यों देता है अपनी बहू को अभी से ? हमारे यहां तो चालीस दिन से पहले घर से ही नहीं निकलते।"

"ठीक है, बीबी जी, पर घर में खाने को कुछ नहीं है, आराम

करने की जगह नहीं है। दुपहरी की सारी धूप कोठरी में भर जाती है, और मैं अकेला हूं," कह कर गिज्जू जाने लगा, तो कमला बोली, "अरे गिज्जू, जब लड़की को गली में ले ही आया तो यहां भी ला कर दिखा दे न।"

गिज्जू खुश हो कर चला गया, तो कमला सोचती रही कि वह गिज्जू की लड़की को पांच रुपये अवश्य देगी। बेचारी मां कुछ खा-पी लेगी।

और उसी शाम को कमला ने देखा गिज्जू की बहू एक नन्हे शरीर को लपेटे दरवाजे पर खड़ी है। "बीबी जी, मैं ले आई इसे," कहते हुये वह धम्म से देहलीज पर बैठ गई। कमला को याद आया उसे गिज्जू की बहू को कुछ देना था।

"अच्छा, अच्छा, बैठ," कहती हुई कमला अन्दर चली गई। सन्दूकची खोली। दस पांच पांच के और कुछ रुपये रुपये के नोट पड़े थे। कमला कुछ देर तक खड़ी देखती रही। पल भर में ही उसका मस्तिष्क सब ऊंच-नीच सोच गया। फिर कमला के हाथों ने उन नोटों में से एक उठा लिया और बाहर आ गई। फिर उसे अचानक याद आया कि उसने आठ दिन पहले गेहूं में आम पकने के लिये दबाये थे। उन आमों को आज ही निकाला था, पर उन सब का स्वाद बिलकुल उतर चुका था। कमला के दिमाग में बिजली सी कौंधी। वह लपक कर गई और कुछ आम उठा लाई। उसके हाथ और हृदय आज दोनों ही भरे हुये थे। उसने झुक कर गिज्जू की बहू के हाथ में सब-कुछ रख दिया, और गिज्जू की बहू ने बड़ी आकुलता से उस धुंधलके में देखा कि उसकी गोद में चार छोटे छोटे उतरे हुए आम और एक रुपये का नोट पड़ा था।

● ● ●

✱ यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र'

नई पीढ़ी के कथाकारों में भाई यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' खासी लोकप्रियता प्राप्त कर चुके हैं। आप के जन्म की तिथि भी वही है, जो मेरी है, किन्तु आयु में मुझ से पांच साल छोटे हैं। मेरी ही भांति आप भी आर्थिक संकट के कारण विश्वविद्यालय की डिग्री नहीं ले पाए, किन्तु आप की रचनाशक्ति बहुत बढ़ीचढ़ी है। हिंदी के अतिरिक्त, बंग व गुजराती साहित्य का आप का अध्ययन आप के अंगरेजी अध्ययन से कम नहीं है। सन् '५०-'५१ में आप ने 'सेनानी' साप्ताहिक का सम्पादन किया और फिर कलकत्ता चले गए, जहां एक नाटक कम्पनी में गीतकार के रूप में तीन वर्ष तक काम करते रहे। वहीं पर 'खीमजी आमलदे', 'मारवाड़ की रूठी रानी', 'केसरिया पगड़ी', 'कांपत कश्मीर' जैसे उच्च कोटि के नाटक आप ने खेले और वे बड़ी सफलता के साथ रंगमंच पर अभिनीत हुए।

राजस्थान के साहित्यकारों में श्री 'चंद्र' का नाम आदर के साथ लिया जाता है। आप की लेखनी की गति बड़ी तीव्र है और अब तक दर्जनों उपन्यासों तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सैंकड़ों कहानियों का प्रकाशन आप का हो चुका है। 'दीया जला, दीया बुझा' नामक आप का उपन्यास राजस्थानी रजवाड़ों के गोली-समाज पर लिखा पहला उपन्यास है।

प्रस्तुत कथा 'चकवे-चकवी की बात' आप की कथा-शैली का एक उत्कृष्ट नमूना है। कथा सामान्य जीवन में घटने वाली एक घटना होने पर भी शिल्प-चातुर्य के कारण एक विशेष प्रभाव छोड़ जाती है। आखिर कहानी चीज क्या है, परिस्थितियों व मनःस्थितियों का एक ऐसा विषम जुगाड़ ही तो, जिस की कसौटी पर हम स्थापित मान्यताओं, रीति-रिवाजों, और सामाजिक सम्बन्धों को परखते हैं और यह देखते हैं कि क्या सब तरह की देश, काल, परिस्थितियों में एक ही कठोर सामाजिक विधान लागू कर के मनुष्य-समाज सुखी रह सकता है। इस विचार से यह कहानी अपने उत्तरदायित्व को पूरा पूरा निभाती है। हां, श्री 'चंद्र' का कथा-शिल्प प्रचलित अन्धविश्वासों व कुरीतियों से लड़ने में ही इतना व्यस्त रहा है कि कीचड़ को कुरेदने के कारण जो नाम-मात्र के छींटे, दाब-ढंक कर रखने वालों की निगाह में, उनके कथा-कलेवर पर दिखाई पड़ते है उन की उन्हों ने सदा उपेक्षा की है। इस कहानी के संदर्भ में मैं तो और भी आगे बढ़ कर यह कहूँगा कि अन्त में जलज का पवित्र पलायन मुझे पसन्द नहीं आया। लेकिन भाई यादवेन्द्र 'चंद्र' इस कहानी के लिए बधाई के पात्र हैं।

—साले की होली, बीकानेर, (राजस्थान)।

● चकवे–चकवी की बात

पहली रात

रात का अंधियारा संसार पर जैसे–जैसे छाता गया वैसे-वैसे चकवी का मन बेचैन होता गया। उस ने एक बार चारों ओर देखा—शून्य, अँधेरा और भय ! वह तड़प उठी। "चकवा अब तक क्यों नहीं आया ?"

तभी पंखों की फड़फड़ाहट सुनाई पड़ी। चकवी चौकन्नी हो गई। देखा, चकवा भागा-दौड़ा चला आ रहा है। चकवा उस के सामने की शाख पर आ कर बैठ गया—चुपचाप। चकवी ने आश्चर्य से पूछा, "हे चकवे, आज तेरा रंग–ढंग बदला हुआ कैसे है ? रोज की तरह प्यार क्यों नहीं करता ?"

चकवे ने लम्बी आह छोड़ कर कहा, "आज मेरा मन उदास है, प्रिय चकवी। यह दुनिया बड़ी अजीब और मक्कारी से भरी हुई है। और इस पर ये औरतें...हे राम !"

औरत-जात पर लगाये गए अधूरे आरोप को सुन कर चकवी के तेवर बदल गए। अपनी आंखों को चकवे पर जमाती हुई बोली, "चुप भी रहो ! नौ सौ चूहे खा के बिलाई चली हज को। भगवान बचाए इन मरदों से, निर्दोष औरतों पर अत्याचार करने वाली इस जात का मैं रोम रोम पहचानती हूं। कैसा धर्मराज बन कर ठाट से बोल रहा है ! तू ही बता, कल रात भर कहां गायब रहा ?"

चकवा तुरन्त संभला। अपने आप को गंभीर बनाता हुआ भारी स्वर में बोला, "मैं कल रात उस स्त्री के जीवन के भेद का पता लगाने चला गया था, जिस ने एक पुरुष के साथ बड़ा धोखा किया।"

चकवी ने मुंह सिकोड़ कर कहा, "अरे, चुप भी रह ! जानती हूं तेरी इन मनगढ़न्त कहानियों को, पहचानती हूं तेरे स्वभाव को। जब कभी तू रात भर गायब रहता है, ऐसी ही गढ़ी हुई बातें सुनाता है। पर आज...।"

"हे चकवी, भरम का मेरे पास कोई इलाज नहीं, पर मैं जो कहता हूं सोलह आने सच कहता हूं। एक खूबसूरत औरत की प्रेम-कथा है। सुनना चाहती है तो सुन।"

चकवी ने कुछ देर तक सोचा और बाद में स्वीकृति–सूचक सिर हिला दिया। चकवा भेद भरी मुसकान के साथ बोला, "हे चकवी, सामने वाले आलीशान बंगले में तूने एक खूबसूरत जोड़े को देखा होगा ?"

चकवी ने उत्सुकता से कहा, "हां-हां ! मगर, हे चकवे, इधर कई दिन से वे दिखलाई नहीं पड़ रहे हैं।"

"इसी का भेद तो तुझे बताने जा रहा हूं। कल शाम से ही मेरी तबीयत कुछ बेचैन थी। दम घुट सा रहा था। यहां की हर चीज मेरी बेचैनी को बढ़ा रही थी। लाचार मैं यहां से उड़ा और उसी बँगले की छत वाले पेड़ पर जा बैठा। खिड़की की राह मैं कमरे की प्रत्येक वस्तु को अच्छी तरह देख सकता था। तभी मैं सुनता हूं तो क्या सुनता हूं कि उस कमरे में खांसी की वह भयानक आवाज हो रही है, जिस में मौत के झटके साफ नजर आते हैं। उस मौत का वह रोमांचक संकेत था, जिस के ध्यान करने भर से बदन के रोंगटे खडे हो जाते हैं।

"हे चकवी, कमरे के व्यक्ति को इतने जोर से खांसी हुई कि मुझे महसूस हुआ कि उस का कलेजा मुँह को आ जायेगा। पर उस की पत्नी लता ने आ कर उसे संभाला। उस की पीठ पर अपना कोमल हाथ रखा और आँखों में दर्द—वह दर्द बिलकुल बनावटी था, चकवी—ला कर बोली, 'अरविंद, जब तक तुम अपने मन के सन्देह को नहीं भूल जाओगे, तब तक मौत तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ेगी।'

"अरविंद ने बोलने की कोशिश की, पर लगातार आने वाली खाँसी ने उसे बोलने नहीं दिया। लता की आंखों में एक अजीब सी कुटिलता नाच रही थी। हे चकवी, नारी ने अपने फूल से कोमल शरीर में कैसा पत्थर-सा दिल छिपा रखा है ! मैंने आज से पहले कभी यह विश्वास भी नहीं किया था कि नारी इतनी कठोर बन सकती है !

"अब तक बेचारा रोगी कुछ संभल गया था। रुकते-रुकते वह बोला, 'लता, मुझे तुम पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।'

" 'मुझे विश्वास नहीं होता।'

" 'तुम्हें तो मेरे हर विश्वास में अविश्वास की छाया दीख पड़ती है, और क्यों न दीखे ? आखिर हो न तुम औरत ही।' अरविंद के होठों पर बुझी-बुझी मुसकान थिरक उठी, जैसे वह यह भाव दरसा रहा हो कि वह सचमुच सुखी है।

"लता ने इस पर अधिकार भरे स्वर में कहा, 'फिर सुचारु रूप से उपचार करने के बाद भी यह खून......!' लता की आंखों में प्रश्न बोल उठा। संघर्ष के भाव अरविंद के चेहरे पर आए और गए। वह टूटते हुए स्वर में बोला, 'खून मेरे पाप का प्रायश्चित है।' उस समय उस की आंखों में, हे चकवी, एक ऐसी वेदना चमक उठी थी, जिसे देख कर मेरा मन भर आया।

"तभी उसकी पत्नी लता शेरनी की भांति गरजी, 'नहीं !' उसकी मुद्रा से साफ मालूम हो रहा था कि वह अपने मन के तूफान को बाहर निकालना चाहती है। लेकिन वह एकाएक संभल गई, और बोली, 'अभी तुम्हें आराम की सख्त जरूरत है। तुम्हें पूरी तरह आराम करना चाहिये।'

"चकवी, चोट खाये हुये सांप की तरह अरविंद फुत्कार कर बोला, 'लता, मैं आराम करते करते थक गया हूं। हद से ज्यादा आराम ने मेरे मस्तिष्क और उसकी गतिविधियों को निकम्मा कर दिया है। जरा पास बैठो न, बैठ कर कुछ बातें करो न।' तब अरविंद ने उसे बड़ी विचित्र निगाह से देखा, जिस से लता सहम गई। हे चकवी, लता क्यों सहम गई? क्योंकि उसका दिल सत्य की तरह प्रकाशमान नहीं था, धर्म की तरह निष्कलंक नहीं था।

"सुन, चकवी, वह अरविंद के पास यंत्रवत् बैठती हुई बोली, 'यह खून तुम्हारे कर्म का फल नहीं, तुम्हारे पाप का प्रायश्चित नहीं, बल्कि उस सन्देह का फल है, जिसने रोग का रूप धारण कर तुम्हारा सीना छलनी कर दिया है।' और उस दीन-हीन पुरुष ने उत्तर दिया, चकवी, वह टूटे हुये स्वर में एक लाचार दार्शनिक की भांति बोला, 'कभी-कभी जीवन में वह नहीं मिलता, जिसकी आदमी चाह करता है। कुछ आदमी इसे भाग्य का चक्र समझते हैं और मैं इसे परिस्थिति का फेर या मजबूरी समझता हूं।' और उसकी आंखों में उसके अन्तर की वेदना घनीभूत हो कर छलछला उठी। फिर भी वह अपने होंठों पर स्मित रेखाएं दौड़ाता बोला, 'यह भी मेरे लिये सौभाग्य की बात है कि तुम खुश हो। मेरे इस लाल खून का रंग यदि तुम्हारे जीवन को स्वर्ग बना सकता है तो मेरे लिये इससे ज्यादा खुशी की बात क्या होगी? लता, मैं केवल तुम्हें खुश देखना चाहता हूं, केवल तुम्हें।"

" 'नहीं अरविंद, तुम मुझे खुश देखना चाहते ही नहीं।'

" 'क्यों?'

" 'क्योंकि तुम चाहते हो कि मैं तुम्हारे इशारों पर नाचूं और इशारों पर नाचना मेरे लिये असम्भव है। मैं तुम्हारी किसी भी शर्त पर जलज का साथ नहीं छोड़ सकती।'

"हे चकवी, यह है एक नारी का पति-प्रेम और उसकी महानता! कितना बदल गया है इनसान! एक तरफ पति से प्रेम और दूसरी तरफ यह ढोंग! वाह! वाह!"

" 'फिर यह सत्य है कि तुम मुझे घुला-घुला कर मारना चाहती हो?'

अरविंद ने तड़क कर कहा ।

" 'नहीं अरविंद, जिस दिन नारी का मन इतना कठोर हो जायेगा उस दिन संसार की कोमल भाषा का अन्त हो जायेगा, अरमानों का दम घुट जायगा और लालसायें चीख पड़ेंगी ।' लता की आखों में सावन की वर्षा उमड़ पड़ी । सिसकते हुये बोली, 'जलज मुझे प्यार करता है, यह मैं स्वयं नहीं समझ सकी । मगर मैं इतना जरूर जानती हूं कि उसके प्यार में वह दुर्गन्ध नहीं, जिसे समाज अनैतिक की संज्ञा देता है ।'

" 'तुम रोने लगीं, लता ! इन अनमोल आंसुओं को व्यर्थ में मत बहने दो । ये खून से बनते हैं,' व्यंग्य किया अरविंद ने । फिर उसे खांसी आई । खांसी के साथ खून, लाल खून । वह सिसकता हुआ तेज स्वर में बोला, 'जलज आ जायेगा और तुम्हारी इन प्यारी-प्यारी आंखों में आंसू देख कर उसे कितना दुःख होगा ! उसकी कविता जाग उठेगी । वह कह उठेगा कि इन मदभरी पलकों से अश्रु नहीं बह रहे हैं, ये मुक्ता हैं, चांद के अश्रु हैं ! पोंछ डालो इन आंसुओं को ।'

"लता कराह उठी । 'अरविंद, तुम चुप हो जाओ । शायद तुम्हारा यह व्यवहार मुझे आत्मघात करने के लिये विवश करे । नारी के मर्म को तुम नहीं समझ सकते । कितनी दारुण वेदना और अशांत हाहाकार के बीच वह अपने को जीवित रखती है, यह भी तुम नहीं जान सकते । लेकिन नारी की सहज कोमलता पुरुष की अति पर जाग्रत हो ही जाती है और वह अपने समस्त सुखों की तिलांजलि दे कर त्यागी बन जाती है । मुझे भी त्यागी बनना पड़ेगा । शायद मुझे जलज से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना पड़े, टूट जाना पड़े ।' शांति किन्तु दृढ़ता से वह पुन: बोली, 'मैं चाहती थी कि हम नये युग में नये विश्वासों और नई परम्पराओं के साथ जियें । अनुचित बन्धन और अनुचित हस्तक्षेप नर और नारी दोनों के लिये अब श्रेयस्कर नहीं । लेकिन मैं देख रही हूं कि पुरुष अपने संस्कार इतनी आसानी से नहीं छोड़ सकता । अपनी चिर-आधिपत्य की भावना का सहर्ष परित्याग नहीं कर सकता । चाहे वह कितना ही नया और आधुनिक क्यों न हो ?'

"हे चकवी, इसके बाद तेरी जात वाली आंखों में आंसू भर कर विनती करती हुई बोली, 'मेरे नये व्यवहार से जलज के भावुक हृदय पर आघात लगेगा, उसे हमारी संकीर्णता पर तरस आयेगा । सोच लो, अरविन्द, अच्छी तरह एक बार फिर सोच लो ।'

"प्राणों से प्यारी चकवी, उस सुन्दर नारी ने इस प्रकार अंत तक अपने पति को धोखा दिया और अपने प्रेमी का प्रेम निभाया । पति खून की क़ै कर रहा था और पत्नी अपने प्रेमी की, उसकी भावना की, उसके भावुक

हृदय की चिन्ता में घुली जा रही थी। छि: ! यह औरतजात भी क्या होती है ! लो, चकवी, सवेरा हो गया है। बिदा ! फिर रात को भेंट होगी।"

दूसरी रात

आकाश में तारों के फूल खिल चुके थे। आकाश-गंगा झिलमिल झिलमिल जगमगा रही थी। ठीक समय पर चकवा आया और चकवी का इन्तजार करने लगा। रात ढलती जा रही थी, पर चकवी नहीं आई। चकवा झुंझला उठा। उसके मन में सन्देह जाग्रत हुआ। उसे चकवी के निष्कलंक चरित्र पर काले-काले धब्बों के बड़े-बड़े गोले नजर आने लगे। वह विचारने लगा: हुं ! चकवी खुद गायब रहती है। इसी लिये डट कर मेरा विरोध नहीं करती कि मैं दो-दो, चार-चार दिन कहां गायब रहता हूं ! बड़ी चालाक है यह चकवी ! पर आज मैं सारी बात का पता लगा कर ही सांस लूंगा। बस आ जाये वह।

रात अपनी रफ्तार से भाग रही थी। लेकिन चकवी नहीं आई। बिलकुल नहीं आई। चकवा जलभुन कर खाक हो गया।

सूरज की प्रथम किरण प्राची में फूटी। चकवे ने अपनी राह ली।

तीसरी रात

आज चकवी पहले से ही चकवे की प्रतीक्षा कर रही थी। चकवे को देखते ही वह उल्लसित हो कर बोली, "हे प्यारे चकवे, तूने उस दिन जो किस्सा सुनाया था वह वास्तव में बहुत ही सच्चा था। पर, प्राण मेरे, वह एकतरफा था। मैं कल रात उसी पेड़ की शाख पर बैठी बैठी लता की कहानी सुन रही थी।"

चकवे का सारा मन्सूबा खाक में मिल गया। अपने गुस्से को जबरदस्ती पी कर उसने कहा, "हे चकवी, मुझे बेवकूफ बनाने की कोशिश बेकार जायेगी। वह तुझे अपनी कहानी क्यों सुनाने लगी ?"

चकवे की इस बात पर चकवी खिलखिला कर हंस पड़ी। चकवा सहम गया। चकवी ने अपनी चोंच से उसके सिर को कुरेद कर कहा, "वह जोर जोर से अपनी डायरी पढ़ रही थी और मैं उसकी डायरी ध्यान से सुन रही थी। हे चकवे, यह मर्द-जात वास्तव में बड़ी मक्कार जात है। इस पर विश्वास कर नारी जाति ने सदा ही धोखा उठाया है।"

इतना कह चकवी एक पल के लिये बिलकुल शांत हो गई। उसने अपनी चोंच को पेड़ की शाख से रगड़ा और बोली, "प्राणेश्वर, इन पुरुषों ने स्त्रियों के भोलेपन का बड़ा ही गलत फायदा उठाया है। पहले-पहल वे नारियों के सामने बिलकुल सीधे बन कर आते हैं, और बाद में वे पशु की

तरह तन-मन से खेलने लगते हैं।

"बात कई साल पुरानी है :

"लता और अरविंद विलायत में साथ-साथ पढ़ते थे। अच्छे परिवारों से सम्बन्धित होने के कारण दोनों की घनिष्टता बढ़ गई। अरविंद का व्यवहार लता के प्रति अत्यन्त मधुर और मर्यादित था, इसलिये लता का सहज आकर्षण धीरे-धीरे प्रीत का बाना बनने लगा। थोड़े ही काल में दोनों एक-दूसरे से प्रेम करने लगे। निश्चय हुआ कि नये सिरे से जन्म-भूमि की गोद में जाते ही वे दोनों विवाह के पवित्र सूत्र में बंध जायेंगे।

"शिक्षा समाप्त कर के जब वे भारत लौटे और सचमुच विवाह के बन्धन में बंध गये, तब कुँवारी लड़कियों व कुँवारे लड़कों को इस जोड़ी से डाह उत्पन्न हुई। पर बुजुर्गों ने उन्हें आशीर्वाद ही दिया कि यह जोड़ी सदा चिरायु रहे, दूधों नहाय पूतों फले।

"विवाह के सिर्फ दो साल बाद ही अरविंद के प्यार ने एक नई करवट ली। सरदी के मौसम में जिस तरह शरीर की खाल पर हल्की-हल्की रुखाई आ जाती है, उसी प्रकार अरविंद के व्यवहार में उपेक्षा के दर्शन होने लगे। लता को इस पर आश्चर्य होने लगा—और होना भी चाहिये, मेरे चकवे। जो पति अपनी प्राणप्रिया को सदा पलकों की छाया में रखता हो, वह उस से कतराए तो पत्नी को सन्देह-मिश्रित अचरज होना ही चाहिए।"

चकवी चुप हो गई, जैसे वह बोलती-बोलती थक गई हो। आसमान का एक तारा टूट कर अंधेरे में लुप्त हो गया। चकवी की आंखों में व्यथा सी तैर उठी। वह दर्द भरे स्वर में बोली, "हे चकवे, यह है तेरी लचर मर्द-जात कि प्रेम जैसे पवित्र नाम पर कलंक लगा देती है।

"मेरे मन के राजा, उस रोज लता खाना खा कर बिस्तरे पर करवटें बदल रही थी, क्यों कि अरविंद उन दिनों रात को बहुत देर से आता था। आता भी था तो पी कर। लेकिन लता को उस की अनुपस्थिति में कल नहीं पड़ती थी। वह बेचैन हो कर करवटें बदला करती थी।

"एक बजा होगा। घंटी बजी। लता ने द्वार खोला तो उसके मुंह से चीख निकल पड़ी। अरविंद के माथे पर पट्टी बंधी थी। पट्टी के बीच से खून का लाल दाग चमक रहा था।

" 'इन्हें क्या हो गया ?' उसने हठात् पूछा। समीप खड़ी एक अत्यंत सुन्दर लेडी ने बड़ी नजाकत से कहा, 'आज इन्हों ने बहुत पी ली थी, इसलिए 'बार' की सीढ़ियों से गिर पड़े।'

" 'आज इन्हों ने फिर पी ?'

" 'हर रोज पीते हैं मेरे साथ। अच्छा, मैं चली—गुड नाइट।' लेडी के

सेन्डिल की खटखट की आवाज कुछ देर तक आती रही।

" 'मेरा ख्याल है कि इस लेडी के बारे में आप बाद में सोच लीजिएगा। पहले आप इसे बिस्तर पर लेटा दीजिए।' यह जलज का स्नेह भरा स्वर था। उस से लता की प्रथम भेंट इसी घटना को ले कर हुई। उस रात जलज अरविंद के पास कुरसी लगाए बैठा रहा। रात की गहरी उदासीनता के बीच लता ने रुक-रुक कर जलज से कई प्रश्न पूछे थे। उस के बारे में, उस के परिवार के बारे में और उसके शौकों के बारे में, जिन का उत्तर जलज ने संक्षिप्त व संयत भाषा में दिया। उस ने यह भी बताया कि अरविंद उसका जिगरी दोस्त है। वे दोनों सहपाठी भी रह चुके हैं।

"हे सत्यवान के अवतार चकवे, सवेरे ज्यों ही अरविंद की आंखें खुली, त्यों ही उस ने अपनी उनींदी आंखों से बिना किसी को देखे अस्फुट स्वर में कहा, 'रजिया कहां है ?'

" 'कौन रजिया ?' लता ने पूछा।

" 'ओह ! तुम ...जलज ! तुम्हें चले जाना चाहिए था,' अरविंद ने अहसान भरे स्वर में कहा।

" 'चला जाता, पर तुम्हारी पत्नी की घबराहट देख कर जाने की हिम्मत नहीं हुई। अच्छा, अब मैं चला, भविष्य में इतना अधिक मत पीना कि वह तुम्हें ही पीने लगे। गुड मार्निंग, लता देवी।'

' फिर कब आईयेगा ?' लता ने नम्रता से पूछा।

" 'जब मेरी जरूरत हो,' कह कर जलज चला गया।

"उस दिन के बाद, मेरे चकवे, उस फूल-सी कोमल लता का हृदय विदीर्ण होने लगा। जिसे वह प्रेम का अवतार समझती थी उस का वही पति उस के साथ इतना भयंकर विश्वासघात करेगा, यह उस ने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। उस के मस्तिष्क में प्रेम और घृणा के कई तूफान आये और गए। उस ने धीरे-धीरे विरोध करना प्रारम्भ किया। इस पर अरविंद ने एक दिन साफ शब्दों में कह दिया कि वह उस की व्यक्तिगत बातों में दखल-अन्दाजी न करे। पर वह तो पत्नी थी। उस का हृदय सामाजिक अधिकारों से प्राप्त उस पति को इतनी सरलता से छोड़ने को तैयार नहीं हुआ। वह नित्य झगड़ा करने लगी, रोक-टोक लगाने लगी। पर परिणाम कुछ नहीं निकला।

"हे चकवे, यही तुम पुरुषों का महान् और पवित्र प्रेम है ? मैं तो कहती हूं कि तुम सब को सात समुन्दर पार भेज दिया जाय तो अच्छा हो। चकवे, अरविंद से उपेक्षित, तिरस्कृत और प्रताड़ित लता जलज की साधारण सहानुभूति में गहरी आत्मीयता के दर्शन करने लगी। उस रात के बाद

जलज प्रायः ही लता के घर आता था। जलज ने पहले अरविंद से झगड़ा किया, समझाया, समझौते की बातें कीं। पर अरविंद ने वही बात उसे कही जो उस ने लता को कही थी कि उस के व्यक्तिगत मामले अपने हैं। तब स्वाभाविक रूप से लता और जलज घनिष्ट होते गए। दोनों दुःख की बातें करते थक जाते, तो दो घड़ी ऊट-पटांग बातें कर के, कहकहे लगा कर दिल हल्का कर लेते। लता पति के अत्याचार से पीड़ित थी और जलज तो बेचारा अनाथ था ही। चित्रकारी कर जीवन निर्वाह करता था। प्रेम से वंचित उस आत्मा ने लता के स्नेह में जीवन के महान् एवं पवित्र वरदान के दर्शन किये।

"पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती रही।

"छः महीने में ही लता और अरविंद का पति-पत्नी का सम्बन्ध नाम मात्र का रह गया। लता भी अब इस व्यवहार की आदी-सी हो चुकी थी। अरविंद क्या करता है, इस से उसे जरा भी सरोकार नहीं था।

"अब जलज ही उस के जीवन का सहारा बन गया था। हे चकवे, जब स्नेह की सरिता उमड़ती है तब नारी का हृदय इतना विशाल और उदार हो जाता है कि नर उस में जीवन के परम सुख की उपलब्धि करता है। वही प्राप्ति जलज कर रहा था।

"लेकिन, चकवे, झूठे प्यार की जड़ सदा हरी नहीं रहती। एक दिन रजिया ने अरविंद की आशाओं पर पानी फेर कर किसी क्रिश्चियन साहब के साथ विवाह कर लिया। उस समय उस निगोड़े अरविंद का सारा नशा उतरा। उसे महसूस हुआ कि रजिया ने उस के साथ जो प्रेम-लीला रचाई थी, उसकी कीमत उसे बहुत महंगी पड़ी है। रजिया ने काफी पैसे इकट्ठे कर लिये हैं।

"मेरे शिरमौर, अरविंद का नशा तो उतर गया, पर अहम् नहीं मरा। वह फिर भी लता से दूर रहता था और लता ने उस जानवर के प्रति देखना ही बन्द कर दिया था। एक तो रजिया द्वारा लगी चोट और दूसरा जलज के प्रति लता का अपार स्नेह। फूल सी महकती और बुलबुल सी चहकती उन दोनों की जिन्दगी ने अरविंद के मन में अदृश्य आग को जन्म दे दिया। अब वह घन्टों उदास और मौन बैठा लता और जलज के कहकहे सुनता था। हंसी के उठते हुए फौव्वारे उस के कानों में गर्म तेल से लगते थे, पर एक झूठी अकड़ में वह मौन रहा, निश्चल रहा। आखिर एक दिन लता और जलज ने मसूरी जाने का निश्चय किया। अरविंद अब अपने को रोक नहीं सका। पति के अधिकार की भावना उस के हृदय को आन्दोलित करने लगी। वह आया और लता से बोला, 'मैं तुम्हें मसूरी नहीं जाने दूंगा।'

' "क्यों ?' लता ने आश्चर्य से पूछा ।

' "लोग तुम्हारे और जलज के बारे में पहले से ही गलत धारणायें बनाए हुए हैं, और मसूरी जाने पर तो... ?'

' "आप को तो हम पर विश्वास है कि हमारा स्नेह...?'

"अरविंद ने उस की बात को सुनी-अनसुनी कर के कहा, 'कल दरबान रसोई बनाने वाले महाराज से कह रहा था कि अपनी बीबी जी आज-कल जलज बाबू की हैं। बेचारे अरविंद बाबू तो...। उस ने जोर का ठहाका लगाया। इसे मेरी गैरत सहन नहीं कर सकती।'

"देखा, चकवे महाराज, यह है तुम्हारी कौम ! खुद तो सब भूल-भाल कर जहां-तहां मुंह मारते फिरेंगे और बीबी अपने सच्चे हितैषी के साथ कहीं जा भी नहीं सकती—जिस हितैषी ने उस के दुःख को सुख बनाया और उस के दुर्दिन की दारुण व्यथा को कम किया। पर मेरी वीर और दृढ़-संकल्प लता ने कहा, 'मैं जाऊंगी, और जरूर जाऊँगी। जब आप मेरे अरमानों को कुचल कर अत्याचार कर सकते हैं, तो मैं अपने जीवन के कुछ पलों को खुशी से क्यों न गुजारूं ?'

" 'गुजारो, पर तुम वहां नहीं जा सकतीं।'

" 'मैं जाऊंगी।'

" 'लता...!' और अरविंद ने लता के गाल पर तमाचा जड़ दिया। अपनी नैतिक पराजय के बाद पुरुष ने सदा ही मार-पीट का सहारा लिया है। लता बुत हो गई—क्रोध में। अरविंद अनर्गल प्रलाप करता ही गया, 'मैं जानता हूं कि जलज मेरा स्थान ले चुका है।'

" 'अरविंद !' लता तड़प उठी। उस के मन में आया कि वह अरविंद के गाल पर वापस तमाचा रसीद कर दे, पर आखिर नारी ठहरी। उस का हाथ अपने पति पर नहीं उठा। लेकिन उस ने कांपते हुए स्वर में कहा, 'अपनी दुर्बलता और मन के पाप को दूसरों पर लांछन लगा कर छिपाने की कोशिश न करो। मित्र मित्र है और पति पति।'

" 'नाटक !' अरविंद क्रोध के कारण अधिक बोल नहीं सका।

"चकवे, उसी रात अरविंद को बुखार आया। बुखार के साथ खून की उल्टी। परीक्षण के बाद डाक्टरों ने कहा, क्षय है। इन्हें मानसिक तथा शारीरिक शांति की सख्त जरूरत है।

"लता के पांवों के नीचे की जमीन खिसक गई। उसके दिल की सारी कलुषता और विमर्श आंखों की राह बह गया। वह अरविंद की सेवा में जुट गई। लेकिन अरविंद का सन्देह अब भी उसे चैन नहीं लेने देता है। वह चाहता है कि लता जलज से अपने सारे सम्बंध तोड़ कर उसके पांवों को पूजे।

यह कैसे हो सकता है, चकवे ? लता ने कितनी अच्छी बात कही थी, 'अरविंद, नये युग में हमें नये विश्वासों तथा नई आस्थाओं के साथ जीना चाहिये।' "

"हे चकवी, तो क्या तू समझती है कि लता का जलज के साथ पवित्र सम्बंध है ?" चकवे ने व्यंग्यपूर्ण स्वर में पूछा।

"हां, मेरे चकवे, हां। हर स्त्री और पुरुष का सम्बंध व मित्रता केवल शारीरिक अवयवों पर ही आधारित नहीं होती। पर पुरुष यह गवारा नहीं कर सकता कि नारी का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी हो। अतः वह सामाजिक प्रगति को मद्देनजर न रखते हुये स्त्री पर अनाधिकार चेष्टा करता है। तब नारी विद्रोहिणी बन कर नयी आस्थाओं व परम्पराओं का निर्माण करती है और पुरुष पराजित हो कर मोम की भांति गलने लगता है। ऐसे गलता है, जैसे अरविंद। दूसरी बात यह कि यदि पुरुष स्त्री की उपेक्षा के मर्म को भी जान ले तो भी उस का सन्देह मिट सकता है। उस के उपेक्षित रूप से चरम दुःख की कहानी भी उस के आंसुओं और खून से लिखी जानी चाहिये। दुःख के उठते हुये सैलाव को अन्तर में छिपाये वह किस प्रकार अपने होंठों पर मुसकान लाती है, पुरुष को धीरज देती है, साहस बंधाती है, यह उस की आत्मा की कितनी महानता है ! पुरुष यदि उस की मुसकान का भेद समझ ले तो नारी पर हंसना छोड़ दे। और हां, एक बार मैं तुम्हें फिर कहती हूं कि लता की अरविंद के प्रति स्नेहधारा गंगा की तरह पवित्र है। ...ओह ! सवेरा हो रहा है। हे चकवे, आज सूरज कितना तेज हो कर निकल रहा है। इसमें जोर की लाली है। मैं चली....।"

चौथी रात

चकवा चकवी की प्रतीक्षा में आकुल था। चकवी आई और मुंह चढ़ा कर बैठ गई। चकवे ने पूछा, "क्या बात है, चकवी ? तू मन मारे क्यों बैठी है ?"

चकवी दार्शनिक के स्वर में बोली, "युग फिर हार गया, प्रगति अवरुद्ध हो गई, विश्वास फिर मर गया।"

"मतलब ?"

"जलज कहीं दूर, बहुत दूर चला गया, ताकि हम, तुम और यह अरविंद उस के महान् प्यार को कलंकित न कर दे।"

चकवी जोश में भर उठी और चकवा व्यथा में डूब गया।

● ● ●

★ रजनी पनिकर

प्रबुद्ध चेतना, सहज-स्वाभाविक मुसकान, सरल व सौम्य व्यक्तित्व, मृदुल स्नेह, मुख पर ज्ञान व अनुभव की छाप--इन सब गुणों को मिला कर हम जब एक आकृति खड़ी करते हैं, तो बहन रजनी पनिकर की कल्पना मूर्त्त हो उठती है। नई दिल्ली के ऊंचे वातावरण में रहती हुई भी उसकी तड़क-भड़क से नितांत निर्लेप, पुरातन के प्रति अंध-विश्वासों से बिलकुल दूर, किंतु नवीन 'अंध-विश्वासों' की ओर से भी उतनी ही सजग। हिंदी व अंगरेजी में एम० ए० तो सांसारिक निरीक्षण व परिस्थितियों का विश्लेषण करने में डाक्टर।

बहन रजनी पनिकर का जन्म ११ सितंबर १९२४ को लाहौर के पंजाबी नायर परिवार में हुआ, किंतु विवाह ट्रावनकोर के एक फ़ौजी अधिकारी श्री श्रीधर पनिकर से हुआ और इस प्रकार हिंदी जगत् की सुपरिचित रजनी नायर श्रीमती रजनी पनिकर बन गई। आपके ६-७ उपन्यास, १ कथा-संग्रह तथा सैंकड़ों कहानियां पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं और आजकल आप 'आकाशवाणी', दिल्ली, में प्रोड्यूसर हैं।

प्रस्तुत कथा 'जिन्दगी, प्यार, और रोटी' श्रीमती पनिकर की नवीनतम रचना है। एकाकी भावनाओं में गुंफित यह कहानी अपने शीर्षक में समाहित तीनों वस्तुओं पर एक मनःस्थिति और एक विचार प्रस्तुत करती है। कहानीकार की सब से बड़ी सफलता इस बात में है कि वह अपने पात्र के अंतर की उस मनोव्यथा को उसके सूक्ष्म और भयभीत मनस्तंतुओं से खींच ला कर, उसके साथ सहानुभूति रखते हुए, उजागर कर दे। श्रीमती पनिकर ने जो परिस्थितियां इस कहानी में बांधी हैं वे रोटी के संघर्ष से त्रस्त आज की उस आधुनिक नारी की कहानी की रचना करती हैं, जो जिन्दगी और प्यार से बलात् वंचित है--और यह संघर्ष उस समय कितना मर्मान्तक लगता है, जब स्वस्थ जीवन के प्रतीक--प्यार--की ओर उसकी सहज नैसर्गिक ललक समाज की यांत्रिक रचना से टकरा कर टूक-टूक हो जाती है! श्रीमती पनिकर की कला सूक्ष्म निरीक्षण के साथ-साथ गंभीर यथार्थवादी समस्याओं को खोलती है और आधुनिक समाज की असंगतियों पर सीधी-सच्ची, किंतु भावनामयी चोट करती है।

हिंदी की साहित्य-साधिकाओं में श्रीमती रजनी पनिकर ने अपना अग्र-स्थान बना लिया है।

—१८, पटौदी हाउस, नई दिल्ली।

● ज़िन्दगी, प्यार, और रोटी

चौक के डाक-घर की घड़ी ने आठ बजा दिए हैं। मेरी सहायिका रात का भोजन बना कर चली गई है। भोजन की थाली वह गर्म अंगीठी पर रख जाती है। मैं अपने आप जब मन होता है तब खा लेती हूं। आज तो भोजन बनाने में मैं ने भी साथ दिया है। सामने मोदी की दूकान बन्द हो गई है और उस की बगल में होटलवाला रोटियां सेंकता नजर आ रहा है। थके-हारे मजदूर हाथ में छोले-आलू के पत्ते और रोटियां ले कर खा रहे हैं। कोई शौकीन-मिजाज़ कुलचे भी खा रहा है। इन में से कुछ लोग तो रोटी खाने के बाद गर्म-गर्म चाय का इकन्नी वाला प्याला भी लेंगे। उस में चाय कम और घंटों से उबलता हुआ गर्म पानी तथा चीनी की बोरियों का फालतू कूड़ा-करकट अधिक होता है, जिस की कड़वाहट उनकी जिन्दगी की कड़वाहट को जरा कम कर देती है।

हर जिन्दगी में कड़वाहट होती है, जिसे बड़ी कोशिश के साथ कम किया जाता है, परन्तु अक्सर तो अभ्यस्त हो जाना होता है और वह मीठी लगने लगती है। मेरे जीवन के लिए जो कुछ जहर है, वही मुझे प्रिय है—सच पूछिए तो जीवन का आधार है। मुझ से कान्ता ने एक दिन कहा था—'तुम स्वयं अपनी दुश्मन हो, जान-बूझ कर पागल बन रही हो'। मेरा उत्तर यही था कि पागल बनने में भी एक अनोखा अनुभव है, जिस का अपने को पता नहीं होता। अगर हमें जानकारी हो कि हम पागल हैं तो वह स्थिति पागलपन की नहीं, नशे की होती है।

मेरी बात सुन कर लोग आफिस में काम करने वाली लड़कियों को दोषी ठहराएंगे। मेरा ख्याल नहीं कि कोई दूसरी भी उतनी पागल हो सकती है जितनी मैं हूं।

डाक-घर की घड़ी की सूई आगे सरकती जा रही है। खुली खिड़की से वह मुझे सामने दिखलाई देती है। मैंने अपनी मेज पर रखी घड़ी को उलटा कर दिया है, जिस से कि प्रतीक्षा की घड़ियों में मुझे इसकी सूईयों का अत्याचार न सहना पड़े।

उन्होंने कहा था, वह आठ बजे पहुंच जाएंगे।

मैंने बात पक्की करने के लिए पूछा था कि यदि आप न आ सकें तो सूचना तो भिजवा देंगे न ? उन्होंने सारी ममता अपनी बड़ी-बड़ी आंखों में भर कर कहा था—"तुम पागल हो। आज तक एक भी मौका ऐसा आया

है कि मैंने तुम से वादा किया हो और मैं न पहुँचा होऊं ? कल तो तुम्हारा जन्म-दिन है, मैं अवश्य पहुंच जाऊंगा।"

जन्म-दिन की याद मुझ को भी थी। पर मैं उन्हें बतलाना नहीं चाहती थी। मैं देखना चाहती थी कि उन्हें याद रहता है कि नहीं। मैं इतनी बात से ही खुश हो गई। स्नेह ही विश्वास की नींव है। मन ही मन उसी समय से मैं उनके आने की प्रतीक्षा करने लगी।

आठ बज गए हैं।

मेरे पड़ोस के कमरे में बड़ा शोर हो रहा है। पड़ोसी के चार बच्चे इकट्ठे भोजन की फरमायश कर रहे हैं। गोल-गोल चेहरों वाले सुन्दर स्वस्थ बच्चे ! बच्चे भी जीवन को कितना भिन्न बना देते हैं ! शेखर की भी दो बच्चियां है, बच्चियों की मां है घर में। छिः ! मैं...? इस विषय पर मैं कई बार सोच चुकी हूं। जो अप्रिय है उसे मनुष्य अक्सर भूल जाने का प्रयत्न करता है।

विवाहित पुरुष से प्यार ! वर्जित प्यार ! ऐसा प्यार, जिसे न समाज अच्छा समझता है और न ही अपनी आत्मा। दोनों की धिक्-धिक् सहनी पड़ती है। फिर भी मन नहीं मानता। और कब ? अब तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उस बात को बीते तीन वर्ष हो गए हैं। इन तीन वर्षों में मैंने जीवन को इतना भरपूर तरीके से जिया है कि बहुत से लोगों ने दस वर्ष में भी न जिया होगा।

जाने कौन-सी घड़ी में यह जटिल जीवन शुरू हुआ था ? मेरे सहकारी पांडे ने गम्भीर मुद्रा में मुझ से कहा था—'तारा, तुम शेखर साहब से बड़ी घुल-मिल कर बातें कर रही हो, अपने लिए कांटे बो रही हो। वह विवाहित हैं। पहले कभी उन्होंने स्त्री-सेक्रेटरी रखी नहीं थी, इस बार जाने कैसे अपना मत बदल लिया है। बेचारे करते भी क्या ? तुम्हें तो बोर्ड ने परीक्षा ले कर पास किया है। तारा, सच कहता हूं, तुम अपने भविष्य की ओर स्वयं ही ध्यान दो।' मैं हंस दी थी। मेरे कहकहे ने पांडे को भी हतप्रभ कर दिया था। उसके गोरे मुख पर खीझ-मिश्रित लज्जा की लालिमा दौड़ गई थी।

इस आफिस में काम करते तब मुझे चार-पांच महीने ही हुए थे। शेखर साहब का बड़ा रोब और दबदबा था। वह जिस ओर से निकल जाते थे सब कर्मचारी चुप हो जाते थे। मैंने अपनी नौकरी की अवधि में उन्हें सिवा पांडे के किसी और को डांटते नहीं देखा था।

पांडे का उस दिन इतना ही दोष था कि वह दिन में तीन-चार बार मेरी मेज के पास आया था। जब-जब वह वहां आया, शेखर साहब को

बड़े मैनेजर साहब के पास जाना पड़ा और उन्होंने पांडे को मेरे पास बैठे देखा। तीन बार तो वह चुप रहे, चौथी बार उन्होंने क्रोध से कहा—"पांडे, तुम्हें अपना कोई काम नहीं जो दूसरों को भी काम नहीं करने देते हो ?"

फिर उन्होंने मेरी ओर देखा और कहा—"ध्यान रखिए, यह दफ्तर है।"

यह सुन कर पांडे क्रोध में भरा वहां से उठ गया। किंतु शेखर साहब के इस आचरण का मेरे हृदय पर अजीब सा प्रभाव पड़ा। मुझे ऐसा लगा जैसे इस व्यक्ति में कुछ है जो औरों में नहीं है, और उस दिन से मेरी पूरी दिनचर्या ही बदल गई।

मेरा बचपन बड़ा ही नीरस व्यतीत हुआ था। उसमें स्नेह का अभाव रहा था। छः भाई-बहनों में माता-पिता किस-किस को स्नेह दें! फिर सन्तान की संख्या अधिक हो तो स्नेह और धन में मनमुटाव हो जाता है।

मैं किस-किस कठिनाई से पढ़ी-लिखी, यह केवल मैं ही जानती हूं। घर में भोजन बनाना और बर्तन साफ करना, साथ ही साथ पढ़ना। कई बार मेरी सहपाठिनें मेरे किताब मांग लेने के डर से मुझ से कतराती थीं, दूर से देख कर भाग जाती थीं। उसी हालत में किसी तरह बी० ए० पास किया। फिर टाइप सीखा। अब चार वर्ष से इस में काम करती हूं। शेखर बाबू इसके छोटे मैनेजर हैं। मैं उनकी ओर न झुकती यदि उनकी उस दिन की डांट के साथ-साथ मैंने उनकी आंखों में करुणा, सहानुभूति और स्नेह की एक मिली-जुली चमक न देख ली होती।

पहले छः महीने तक तो शेखर बाबू को पता ही नहीं रहता था कि कमरे में मैं ही अकेली हूं या दूसरा भी कोई है। डिक्टेशन देते तो आंखें नीची रखते, बात करते तो मेज पर ताकते रहते। कई बार उनका मतलब समझने में मैंने गलती कर दी, पर दुबारा पूछने की हिम्मत नहीं हुई। मुझ से काम गलत हो गया, लेकिन उन्होंने कभी डांटा नहीं। कहने का मतलब यह है कि कभी उन्होंने मुझ में रुचि नहीं दिखलाई। उनकी इस खाई को देख कर कई बार मैं मन ही मन में तय कर लेती कि यह नौकरी छोड़ कर कहीं और चली जाऊंगी। पर न जाने क्यों, कुछ ही क्षणों बाद मेरे सब इरादे बदल जाते। मैं उन्हें देखती तो अपने दुःख और अभाव भूल जाती। अपनी इसी थोड़ी-सी आमदनी में से मुझे सौ रुपए घर भेजने पड़ते थे। दूसरी कामकाजी लड़कियों की तरह मैं अपनी वेशभूषा पर अधिक खर्च नहीं कर पाती थी। न सुन्दर रंग-बिरंगी साड़ियां, न ही भांति-भांति के ब्लाउज पहन पाती थी, जो साधारण लड़कियां पहनती हैं। फिर भी मेरे

साथ काम करने वाली लड़कियाँ कहती हैं कि मैं देखने में बुरी नहीं लगती, मेरे उठने-बैठने में एक सलीका है ।

मैं अपनी भावनाओं से डरने लगी थी । मुझे उन के सामने जाते भी डर लगता था । वैसे दिन में कई बार जाना पड़ता था और हर बार मेरा हृदय बुरी तरह धड़कने लगता था । एक दिन वह बहुत देर तक काम करते रहे । आफिस का एक और क्लर्क भी हमारे साथ ही था । उस दिन सरदी बहुत थी और दोपहर से वर्षा भी हो रही थी । एकाएक रामनारायण की तबीयत खराब हो गई । यही उस का नाम है । काम करते करते वह बेहोश-सा हो गया । मैं ने झिझक छोड़ कर शेखर साहब को बुलाया । उन्हों ने उस की नब्ज देखी, बहुत धीमी चल रही थी । उन्हें और कुछ नहीं सूझा, मुझे भी साथ ले कर वह अस्पताल चले गये । मुझे शायद इसलिए ले गये कि किसी न किसी सहारे की उन्हें आवश्यकता थी । मैं मोटर में उन के साथ सामने वाली सीट पर बैठी थी । रामनारायण को हम ने पीछे लेटाया था ।

वह कुछ भी न बोले, मोटर चलाने पर उन्हों ने अपना ध्यान केन्द्रित कर रखा था । रामनारायण को अस्पताल वालों ने भर्ती कर लिया । उस का रक्तचाप साधारण से बहुत नीचे गिर गया था ।

उस दिन पहली बार उन्हों ने पूछा—"आप कहां रहती हैं ? इस वर्षा और सरदी में आप को घर पहुंचा दूं ?"

मैं ने बहुत कहा कि आप को तकलीफ होगी, मैं स्वयं चली जाऊंगी । वह नहीं माने । मुझे घर तक पहुँचाने गये । मेरे पिता के मित्र चांदनी चौक की सब से घनी बस्ती में रहते थे । मैं उन्हीं के पास एक कमरा ले कर रहती हूं । मेरे आने के एक वर्ष बाद उन का तबादला हो गया, पर मैं वहीं रहती हूं । शेष भाग में दूसरे किरायेदार आ गये हैं । कमरे के पिछवाड़े में एक छोटा-सा बरांडा है, जिस में लकड़ी के फट्टे लगवा कर मैं ने स्नानागार और रसोई दोनों बना लिये हैं ।

तंग सीढ़ियों वाले रास्ते से मुझे उन्हें ऊपर ले जाते बड़ा अजीब लगा । वह क्या कहेंगे ! मैं ऐसे घटिया घर में रहती हूं ! पर वह जो भी कहें, मैं उन के दफ्तर में टाइप करने वाली हूं । इस से बढ़िया घर में कैसे रह सकती हूं ? नहीं, मैं केवल टाइप करने वाली क्यों हूं ? मैं और काम भी तो जानती हूं ! मैं सेक्रेटरी हूं । किसी की सेक्रेटरी होना छोटी बात नहीं है । मैं मन ही मन तर्क-वितर्क कर रही थी । वह चुपचाप मेरे पीछे-पीछे सीढ़ियां चढ़ते आ रहे थे । मैं ने उन्हें ऊपर आने से रोका; कहा—"आप इतना कष्ट क्यों करते हैं ? यहां तक आप आ गये हैं, शेष कुछ सीढ़ियों का रास्ता रह गया

है। मैं चली जाऊँगी।"

वह गम्भीरता का उपेक्षा भरा कवच एक ओर फेंक कर बोले—"मैं तो आप का घर देखूंगा।"

"मेरा घर आप को दिखलाने योग्य कहां है?"

"घर सब अच्छे होते हैं; फिर आप का तो अवश्य अच्छा होना चाहिये।"

आगे उन्हों ने कुछ नहीं कहा और वह एक बड़ी ही कीमती मुसकान मुसकरा दिये। कीमती तो उन की मुसकान हो ही गई, क्यों कि वह किसी विशेष बात पर ही हंसते हैं। कम से कम मैं ने उन को हंसते बहुत कम देखा है।

मेरे छोटे-से कमरे में जाते समय उन के मुख पर कुछ ऐसा भाव था, जैसे वह मन्दिर में प्रवेश करने जा रहे हों।

उस शाम बाहर मूसलाधार वर्षा हो रही थी और कमरे के भीतर काफी ठंड थी।

कमरा चाहे मेरे पास छोटा-सा है, पर मैं उसे खूब साफ रखती हूं। अंगरेजी महिलोपयोगी पत्रिकायें पढ़ने का मुझे बड़ा शौक है और उन में लिखे कमरे के सजाने के ढंग और डिजाइन का मैं अनुकरण करती रहती हूं। मेरी चारपाई शृंगार-मेज और पुस्तकें आदि सब उसी ढंग से रखी हैं। शृंगार मेज तो मेरे पास नहीं है, पर उन पत्रिकाओं में से पढ़ कर मैं ने फटी साड़ी के झालर लगा कर एक कोने में लगी कानिंस को शृंगार–मेज का रूप दे दिया है।

कमरे में कदम रखते ही शेखर बाबू ने कहा था—"कितना शांतिपूर्ण वातावरण है! यहां आ कर मन को सकून मिलता है।"

वह कोने में रखी आराम–कुरसी पर बैठ गए थे। कमरे में बड़ी ठण्ड थी। मैं ने उन की ओर ध्यान से देखा। वह मेरी ओर प्रशंसा भरी दृष्टि से देख रहे थे। उन्हें मेरी रुचि भा गई थी। मुझे लगा जैसे मेरी मेहनत सफल हो गई। शायद मैं इस दिन के लिये ही इतनी मेहनत से घर सजा रही थी। पैसे कम होने के कारण मैं बाहर से न तो कोई वस्तु खरीद सकती थी, न ही सिलाई करवा सकती थी। सब कुछ मैं ने हाथ से बनाया था। घन्टों कमरे में बन्द हो कर हाथ से सीया था। यहां तक कि कमरे की वस्तुओं पर पालिश भी मैं ने स्वयं ही की थी।

बातचीत कैसे शुरू हो? कई बार जीवन में ऐसे क्षण आ जाते हैं, जब कुछ अनुचित कह देने के भय से मनुष्य बोलता भी नहीं है। मैं ने उन को देखा। वह अंगरेजी फिल्म के नायक से लग रहे थे, जो अपने सीधे रास्ते

से भटक गया हो और गलती से उपनायिका के घर पहुँच गया हो। फिल्म में यह घटना नायक के जीवन को नया मोड़ देती है।

सच कहूं तो मेरे जीवन ने ही उस दिन से नया मोड़ लिया।

शेखर साहब मेरे घर पर रात्रि के साढ़े नौ बजे तक बैठे रहे। हम ने दुनिया भर की न जाने कितनी कितनी बातें कीं। रामनारायण के एकाएक बेहोश हो जाने से बात शुरू हुई थी। उन्हों ने कहा—"रामनारायण की बेहोशी केवल उस की शारीरिक कमजोरी के कारण नहीं हुई। उस में मानसिक असन्तोष का बहुत बड़ा हाथ है। रामनारायण शायद अपने घर पर खुश नहीं। उस की मां सौतेली है और पत्नी भी सास की देखा-देखी उस से वैसा ही व्यवहार करती है।"

बात वहां से बढ़ी तो दफ्तर के अन्य सहकारियों की चर्चा भी आई। मुझे देख कर अचम्भा हुआ कि मौन रहने वाले शेखर बाबू साथ काम करने वालों की गुप्त से गुप्त बात भी जानते हैं। जाने कौन बतलाता था उन्हें! वह बहुत ही सफल अफसर हैं, इस का एहसास मुझे उसी दिन हुआ।

बातचीत के दौरान मैं ने एक बार चाय बनाई और एक बार कॉफी। उन्हों ने बड़े स्वाद से पी। जिस बात का मैं स्वप्न भी नहीं देख सकती थी, उसे अपने साथ घटती देख मैं अपने अस्तित्व के प्रति चेतन हो उठी। इस से पहले मुझे लगता था कि मेरा जन्म केवल इसलिये हुआ है कि छोटे भाई–बहनों की परवरिश करूँ और साथ–साथ पढ़ती जाऊं, ताकि एक दिन अपने लिए कुछ कमा सकूँ और हो सके तो घरवालों की भी मदद करूँ।

नौकरी मिली। बंधा हुआ जीवन एक पटरी पर चलने लगा। मैं प्रसन्न थी कि छ: भाई–बहनों के झमेले से मैं निकल आई थी, मेरा जीवन अपना था, मैं अपने जीवन की स्वामिनी थी! घर पर मेरी यह हालत थी कि किसी सहेली से किताब मांगने जाना हो, तो घर पर मां से पूछ कर जाना पड़ता था। माँ जाने की आज्ञा देने से पहले घर का कोई काम बतला देती थीं, किताब चाहे उन की तरफ से चूल्हे में चली जाये। उन की दृष्टि में लड़कियों को पढ़ाने का कोई महत्त्व नहीं था। आठवीं में जब मुझे वजीफा मिलने लगा तब वह कभी–कभी मुझ पर कृपा कर के कह देतीं—"चलो, तुम आज शाम के बर्तन रहने दो, मैं माँज लूंगी। तुम पढ़ लो।" स्कूल से थकी-हारी आने पर, घर का ढेर-सा काम करने पर, मां की यह छोटी-सी कृपा मुझे बहुत बड़ी लगती। कभी–कभी मेरा दिल रो देता था।

ओह! साढ़े आठ बज गये। उन्हों ने कभी इतनी देर नहीं की। आज...आज वह स्वस्थ हों...!

इधर उन का स्वास्थ्य भी तो ठीक नहीं रहता। डाक्टर का कहना है

है कि इन के स्नायु ठीक नहीं। काम तथा चिन्ता के आधिक्य से यह हालत है। लेकिन चिन्ता किस बात की ?

मुझे ले कर कोई चिंता नहीं। मैं ने कभी अपना अधिकार जतलाने का प्रयत्न नहीं किया। फिर, सच पूछा जाए तो अधिकार कैसा ? मैं ने आरम्भ से ही इस बात को स्वीकार कर लिया था। फूल के साथ कांटों को भी हृदय से लगा लिया था। हम दोनों में एक मूक समझौता हो चुका था। हम ने कभी विवाह की चर्चा नहीं की थी। मुझे शुरू से ही पता था कि वह विवाहित हैं। विदेश की बात दूसरी है, हमारे अपने देश में यह सम्भव नहीं कि विवाहिता पत्नी को इस लिये तलाक दे दिया जाए कि आप को कोई दूसरी लड़की पसन्द है।

शेखर बाबू अपनी पत्नी पुष्पा की चर्चा कभी-कभी कर देते; कहते—"पुष्पा की 'बॉस' करने की आदत कभी नहीं छूटेगी। दो-दो बच्चियों का बाप हूं, फिर भी उन के सामने ही मेरी इज्जत उतार कर रख देती है। मैं कुछ भी नहीं कह पाता।" फिर सिगरेट का एक बहुत लम्बा कश ले लेते। निकोटिन से पीली हुई अंगुलियां कांपती-सी लगतीं। मुझे उन की पत्नी का जिक्र बड़े धैर्य से सुनना पड़ता। मैं अपनी निगाहें नीची कर लेती। फिर भी अजीब बात है कि मैं ने कभी उन से अधिक मांगा नहीं। जितना प्यार, जितना समय उन्हों ने दिया मैं ने स्वीकार किया। मैं ने कभी नहीं कहा कि पुष्पा के पास आप का मन नहीं लगता तो मेरे पास अधिक देर बैठ जाइये। उस तूफान की रात जब वह पहली बार आए थे, तब घर चलते समय उन्हों ने कहा था—"तारा, तुम से मिल कर आज मैं बड़ा प्रसन्न हूं। सच कहता हूं, मुझे बड़ा सुख मिला है।"

और यह सुन कर मैं मुसकरा दी थी। मैं ने अपने मन में एक स्वर्णिम सुख का अनुभव किया था।

आफिस में बड़ी भीड़ रहती। हमें शायद ही कभी समय मिल पाता कि हम आपस में बातचीत कर सकें। उन के केबिन में अकेली कभी जाती, तो वह मेरी ओर कुछ क्षणों के लिए अपलक दृष्टि से देखते रहते। उस में उन के अनबोले प्यार का सन्देश होता है। कभी उन के कमरे में मीटिंग होती तो बहुत से लोग बैठे होते और अक्सर मीटिंग की पूरी कार्यवाही का विवरण मुझे वहीं बैठ कर साथ के साथ लिखना पड़ता। लिखते-लिखते मेरी आंखें ऊपर उठतीं तो उन्हें मैं अपनी ओर निहारते पाती। आंखों में ही हम एक-दूसरे से कुछ कह-सुन लेते। उस में भी कितना सुख निहित रहता ! मैं तो जैसे जी उठती। उस दिन और रात भर के लिये मेरे लिये स्नेह की वह पर्याप्त मात्रा होती। शेखर बाबू भी कई बार कह चुके हैं—

"तारा, तुम्हें देख भर लेने से मेरी आंखों में शीतलता छा जाती है। घर से ओढ़ी हुई झुंझुलाहट हवा में विलीन हो जाती है। फिर से जी उठने की अभिलाषा मन में जाग्रत हो उठती है।"

सोचती हूं, शेखर बाबू ने कभी पुष्पा से भी ऐसे ही शब्द कहे होंगे। शायद हर प्रेमी अपनी प्रेमिका से ऐसी भाषा में ही बोलता है।

जो कुछ भी हो, शेखर बाबू के साथ बिताए क्षणों की प्रेरणा से ही आज मैं जीवित हूं। उन्हों ने मुझे हीन-भावना के पंजे से मुक्ति दिलवा कर जीवन को सहज भाव से जीना सिखलाया है। जीवन में जो कुछ आकर्षक है उस को ग्रहण करना सिखलाया है। शेखर बहुत अच्छे हैं। आज उन के और मेरे प्यार को चार वर्ष हो चुके हैं।

आज मेरा जन्म-दिन है। मैं ने उन का मन रखने के लिए ही तो कमरे को अच्छी प्रकार सजाया है। उस में झंडियां भी लगाई हैं। शेखर बाबू ने ही सुबह भिजवाई थीं। साथ में रंग-बिरंगे गुब्बारे भी। मैं भी भला कोई बच्ची हूं! पर शेखर बाबू की इच्छा ही तो है। शायद सारा समाज मुझे इस प्यार के लिए दोष दे। मैं कोई झूठी सफाई भी पेश नहीं करूंगी। खोखली बातों से हमें क्षणिक संतोष तो मिल जाता है, पर दूसरे लोगों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जिन्हें प्रभावित करने के लिये हम झूठ बोलते हैं। मैं उन की ओर खिचती चली गई हूं, पता नहीं क्यों और कैसे!

साढ़े नौ बज गए हैं। जाने आज वह क्यों नहीं आए! पहले तो कभी ऐसा नहीं हुआ। मेरा मन बैठ रहा है। ओह! दुष्यन्त ने शकुन्तला को भरे दरबार में ठुकरा दिया था, उस बेचारी की क्या हालत हुई होगी! मेरा मन बरसात में गीली जमीन की तरह हल्के से भार से बैठा जा रहा है।

शेखर बाबू की पसन्द का भोजन मैं ने तैयार किया है। मटर का पुलाव, आलू दम और मटर की व आलू की कचौड़ियां। दफ्तर से लौट कर सब कुछ बनाया है। चूल्हे पर गर्म रखा है। वह आ तो जाएं!

किसी ने दरवाजा खटखटाया है। जाने कौन है इस समय! यह उन की आवाज नहीं। वह खटखटाते ही कहां हैं। जिस दिन आने का तय होता है, मैं इन्तजार करती हूं। दरवाजा खुला रहता है। केवल किवाड़ जरा से भिड़ा दिए जाते हैं। वह एक धक्के से किवाड़ खोल लेते हैं।

सभी चीजों से तो वह परिचित हैं। उन के लिए कुछ भी तो नया नहीं।

फिर एक थाप पड़ी है।

कौन है? देखूं जरा। "तुम हो, रामधन! शेखर साहब की चिट्ठी लाए हो? लाओ। अरे जा रहे हो? जवाब नहीं चाहिये? अच्छा, जाओ।"

'मेरी अपनी तारा,

'जन्म-दिन की बधाई स्वीकार करो। मैं तो स्वयं आने वाला था। जानता हूं तुम मेरा इन्तजार कर रही होगी। मजबूर हूं, तारा, नहीं आ पाऊंगा। छोटी बेबी सीढ़ियों से गिर गई हैं, उसे बड़ी सख्त चोट आई है। वह अभी भी बेहोश पड़ी है। डाक्टर उस के पास बैठे हैं। जब तक वह होश में न आ जाए, बतलाओ मैं कैसे आऊं? मुझे क्षमा करना। ये 'रूबी' के टॉप्स उपहार-स्वरूप भेज रहा हूं, इन्हें स्वीकार करना। कल अवकाश मिलते ही मिलूंगा। मैं जानता हूं तुम्हें बहुत दुःख होगा। पर यह भी जानता हूं कि तुम बड़ी समझदार लड़की हो। ढेर सा प्यार।

'तुम्हारा ही शेखर।'

टन......टन! इस समय बारह बज रहे हैं। तब से मैं इसी तरह स्तब्ध बैठी हूं। रूबी के टॉप्स मेरे हाथ में हैं। बेबी की तबीयत खराब है, वह सीढ़ियों से गिर पड़ी है। बेबी मेरी कुछ नहीं। मैं क्यों अपना मन छोटा करूं यदि वह गिर पड़ी है तो? शेखर बाबू...वह तो उस के पास बैठे हैं। उन की तो बच्ची है। वह बीमार है, बेहोश है। मुझे समझना चाहिये। उन की परिस्थिति ही ऐसी है। वह नहीं आ सकते। आंसू बेकार हैं, बेमतलब हैं। हृदय को धड़कना नहीं चाहिए। उन की प्रतीक्षा मुझे ऐसे ही करनी होगी जीवन भर। इस भंवर से निकल नहीं सकती। मैं शेखर बाबू को छोड़ नहीं सकती। पुष्पा, फिर बच्चियां, और फिर समाज! तारा तो अन्धेरे की, एकांत की और सुविधा की साथिन है। ओह, मेरा जीवन? मेरा क्या होगा? मैं नौकरी करने क्यों निकली? घरेलू मजबूरी! अब, अब छोड़ दूं? कैसे छोड़ूं? ढाई सौ रुपये? भाई को टाइफाइड हो गया है। दो बहनों को कालेज में भर्ती होना है, उन की फीस? सब से बढ़ कर मेरा मन। मन का क्या करूं? ओह, शेखर! तुम ने मेरे जीवन के साथ यह क्या किया?

ओह, रसोई में बिल्लियां झपट रही हैं। शायद चूल्हा बुझ गया है। वे आपस में मेरा भोजन बांट रही हैं। जीवन में जो झपट ले, जो छीन ले, खुशी उसी की है। और जो मेरी तरह हो, शायद खुशी भी उस से किनारा काट जाती है। शेखर बाबू ने मुझे खुशी दी है, जैसे जापानी खिलौना हो। ओह भगवान, मुझे शक्ति दे। मैं प्लास्टिक के इस युग में अपने मन को भ्रम में रख सकूं—शेखर बाबू की सुविधा के लिये। अपने घरवालों की पैसे की मजबूरी के लिए। रात भागती जा रही है। काश, जिन्दगी भी इसी तरह भागती—जल्दी-जल्दी— और जल्दी!

● ● ●

✱ रावी

रावी जी सुप्रसिद्ध रचनाकार हैं—विशेष रूप से लघु-कथाओं के। जिस तरह उद्दंड दंत-पंक्तियों के बीच सुकोमल, संवेदनशील जिह्वा रहती है उसी तरह व्यावसायिक आलोचकों के बीच, उन्हीं के गढ़ में, रावी जी अपना सहृदय अस्तित्व कायम रखे हुए हैं। रावी जी राह चलते स्नेह बिखेरते हैं और झोली फैला कर दूसरों का प्रेम बटोरते हैं। स्वयं रावी जी एक ऐसे मित्र हैं, जो दूसरों के बड़े से बड़े दोष को सहज ही नजरअंदाज कर सकते हैं और जिन के लिए सारा संसार कैम्प—फायर का उत्सव है। 'मैत्री—क्लब' के नाम से आप छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, नर—नारी सभी को इस कैम्प—फायर की चारों ओर मित्र भाव से एकत्र करने का एक बहुत बड़ा आदर्शवादी प्रयोग कर रहे हैं। आप उन साहित्य-साधकों में हैं, जिन्हों ने अपना रास्ता स्वयं बनाया है और अपनी निजी आवश्यकताओं को सीमित रखते हुये, विषम परिस्थितियों के बीच अपना विशिष्ट मानदण्ड स्थापित किया है।

आयु रावी जी को छियालीस वर्ष है, किन्तु उत्साह नवयुवकों को भी लज्जित करता है। आप के आठ कथा—संग्रह, दो नाटक—संग्रह, एक नाटक, दो-तीन उपन्यास तथा लेखादि के आठ-दस संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और अभी निरन्तर प्रयोग चल रहे हैं।

प्रस्तुत लघु—कथा 'सहपाठी' रावी जी की शैली का एक उत्कृष्ट नमूना है। लगता है युग की आवश्यकता को आंक कर 'पंचतन्त्र' का कथाकार नये मान—उपमान ले कर अवतरित हुआ है। छोटी-सी कहानी में सभी पात्र प्रतीकों का काम करते हैं, फिर भी वे सामान्य जीवन के पात्र हैं। कुत्ता है कि सामान्य जीवन का त्रस्त व पीड़ित प्राणी है—बालक है कि छल-प्रपंच और क्रूरता की भावना से अछूता, विशुद्ध मानवता की भावना से ओतप्रोत जिज्ञासु है—पत्नी है कि क्रूरता के आश्रय में रहने वाली, दुष्टताओं से पूर्ण परिचित एक सदय, सुकोमल व्यक्तित्व है—और इन सब प्रतीकों के माध्यम से पीड़ित के प्रति पीड़क के व्यवहार का यथार्थ दिग्दर्शन है। रावी जी अपनी कला में अपूर्व हैं।

रावी जी मुख्यतः साहित्य में चिंतन को महत्व देते हैं और यह चिंतन मूलतः आदर्शवाद की ओर उन्मुख है—जिस में पीड़ित के मन में सहनशक्ति और पीड़क के हृदय में सहानुभूति व दया उपजाने का ही प्रयत्न निहित होता है। रावी जी का यह विचार और चिंतन-प्रणाली चाहे नये न हों, किंतु उन की शैली सर्वथा नवीन है।

—कैलास, पोस्ट कैलास, आगरा।

● सहपाठी

एक सुबह एक महिला अपने पुत्र के साथ चाय की मेज पर अपने पति की प्रतीक्षा कर रही थी।

बालक ने पिछली रात अपनी पुस्तक में एक बूढ़े कुत्ते की कहानी पढ़ी थी। वह कुत्ता सड़क पर पड़ा रहता था। कुछ लोग उसे ठोकर लगा देते थे, कुछ पत्थर मारते थे, कुछ अपनी गाड़ियों से उस की पूंछ कुचल देते थे और कुछ उसे बचा कर चुपचाप निकल जाते थे।

एक दिन एक आदमी ने उस कुत्ते से पूछा कि तू इस तरह रास्ते में क्यों पड़ा रहता है। कुत्ते ने जवाब दिया कि मैं सड़क पर पड़ा-पड़ा भले और बुरे आदमियों की पहचान करता हूं।

बालक अपनी मां के साथ इस कहानी की छान-बीन कर रहा था।

"उस कुत्ते ने उसी आदमी से क्यों कहा, सभी आदमियों से क्यों नहीं कह दिया कि मैं भले-बुरे आदमियों की पहचान करता हूं ? अगर वह पहले से ही सब आदमियों से कह दिया करता, तो बहुत से लोग उसे ठोकर और पत्थर न मारते, और उस की पूँछ न कुचलते।"

"सब आदमी उस से पूछते नहीं थे। जिस आदमी ने पूछा उस को उस ने जवाब दे दिया।" महिला ने बच्चे का समाधान किया।

"तो बुरे आदमी बहुत निकले होंगे और अच्छे आदमी कम ही निकले होंगे। बेचारा कुत्ता अपन मन में क्या कहता होगा !" बालक ने सहानुभूति-मिश्रित आश्चर्य प्रकट किया।

उसी समय उस महिला के पति चाय के कमरे में आ गये।

"पिछली रात मैंने एक बड़ा ही मूर्खतापूर्ण सपना देखा है।" उन्हों ने कुरसी पर बैठते हुए कहा, "मैंने एक कुत्ते को आदमी की बोली बोलते सुना।"

"आदमी की बोली !" महिला ने उत्सुक हो कर पूछा, "वह आदमी की बोली में क्या कह रहा था ?"

"अरे यों ही," उन्हों ने कहा, "मैंने देखा कि मैं शाम की सैर को पार्क की तरफ जा रहा हूं। सड़क पर बीचों-बीच एक कुत्ता पड़ा है। मैंने छड़ी मार कर उसे हटाने की कोशिश की, तो वह आदमी की बोली में गुर्रा उठा—'इतनी चौड़ी सड़क पड़ी है, आप अलग से निकल क्यों नहीं जाते ? आप कैसे आदमी हैं जो बिला-वजह मुझे सताते हैं !' "

"ऐसा सपना !" महिला ने और भी अधिक उत्सुकता दिखाते हुए कहा,

तब फिर आप ने क्या किया ?''

"मुझे उस पर गुस्सा आ गया। दो छड़ियां कस-कस कर मैं ने उसे लगाईं और वह सपना गायब हो गया।"

"इस सपने में मूर्खता की बात आप को क्या जान पड़ी ?"

"मूर्खता की बात यही कि मुझे कुत्ते के मुंह से इन्सानी बोली सुनने पर आश्चर्य क्यों नहीं हुआ, उसे मैं ने उस समय सच्ची घटना क्यों समझा ?''

बालक का ध्यान चाय के साथ आई हुई एक नई मिठाई की ओर विशेष आकृष्ट हो गया था। उस ने मां-बाप की बातचीत पर यथेष्ठ ध्यान न दे कर उस में कोई भाग नहीं लिया।

उस शाम भी वे तीनों नियमानुसार अपने नौकर को साथ ले कर पार्क की सैर को निकले।

सड़क के फुटपाथ पर एक बूढ़ा, दुबला-पतला भिखारी मैला कपड़ा बिछाये बैठा था। कपड़े के एक कोने पर कुछ पैसे और कुछ फल पड़े हुए थे।

"ये कम्बख्त रास्ते में ही अड़ कर बैठते हैं,'' महिला के पति ने कहा और उस कपड़े को रौंदते हुए आगे निकल गये। एक छोटा-सा टमाटर उन के जूते से पिस कर चादर के कोने भर में फैल गया और जूते की कुछ मिट्टी भी उस पर जम गई।

बालक नौकर के साथ कुछ दूर पीछे-पीछे आ रहा था। उस का ध्यान सड़क पर जाती हुई एक बच्चे की खूबसूरत-सी तीन पहिए की पैर गाड़ी पर था।

भिखारी के पास पहुंचते ही बालक की दृष्टि उस की चादर पर पड़ी। बहुत तुरन्त फुटपाथ से उतर कर सड़क पर आ गया और अपनी जेब से काजू-किशमिश के कुछ दाने उस ने उस चादर पर गिरा दिए।

पार्क से लौट कर जब तीनों भोजन की मेज़ को घेर कर बैठे हुए थे, तब महिला ने अपने पति को लक्ष्य कर मुसकराते हुए कहा—

"आप के सपने जो कुछ आप को बताना चाहते हैं वे ही बातें आप के पुत्र की किताबों में लिखी हैं। मैं आप को बधाई देती हूं कि आप का पुत्र अभी से आप का सहपाठी है और वह अपने पाठों को अधिक आसानी से समझ लेता है।"

पति महोदय ने आती हुई नींद की एक जम्हाई ली, और बगल में बैठे हुए पुत्र को चूमते समय महिला की आंख का एक बूंद पानी बालक के गाल पर जा गिरा!

● ● ●

★ पीताम्बरनारायण शर्मा

भाई पीताम्बरनारायण जी सूक्ष्मदर्शी कथाकार हैं। ग्रामीण समाज से आप के कलाकार मानस का जो परिचय है वह ईर्ष्या की वस्तु है। समाज की असंगतियों पर आप की पैनी नजर तुरन्त जाती है और उस में रत पात्रों का वास्तविक चरित्र-चित्रण सब से पहले आप के प्रबुद्ध मानस में हो जाता है। अपने में मस्त व तृप्त हैं, मिलनसार हैं—एक बार दूसरों से कष्ट सह लेते हैं, पर कष्ट देने में संकोच करते हैं।

जीवन के चालीसवें वर्ष में चल रहे भाई पीताम्बरनारायण जी का जन्म-स्थान देहरादून है। प्रारंभ से ही आप अच्छे विद्यार्थी रहे। आप ने शास्त्री, प्रभाकर, तथा हिंदी व संस्कृत में एम० ए० की उपाधियां लीं और रिसर्च स्कौलर रहे। गुरुकुल कांगड़ी में सात वर्ष से अधिक हिंदी व संस्कृत के अध्यापक रहे और आजकल श्री विश्वेश्वरानंद रिसर्च इंस्टी०, में अनुवाद तथा हस्तलिखित ग्रन्थों के पुनर्संस्करण विभाग के अध्यक्ष हैं। आप ने सन् १९३९ से लिखना आरंभ किया था और अब तक आप की १४ पुस्तकें प्रकाशन की प्रतीक्षा में तैयार हो चुकी हैं तथा अनेकों लेख, कहानियां व निबंध सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में आ चुके हैं।

प्रस्तुत कहानी 'गांव की बेटी' आप की शैली का एक अनूठा नमूना है। कहानी में कृत्रिमता कहीं ढूंढ़े भी नहीं मिलती। ऐसा लगता है कि हम नितांत ग्रामीण वातावरण के बीच, ग्रामीण पात्रों के सुख-दुःख के साथ घुलेमिले चल रहे हैं और उनकी आकांक्षाएं व कामनाएं हमारी चिरपरिचित हैं। 'बारो'—क्या सुंदर और विशिष्ट नाम शर्मा जी ने खोजा है। इस नाम से मेरा परिचय बचपन से ही है और इसे देखते ही मुझे अपने गांव की एक ऐसी प्रौढ़ा याद आ गई, जो स्वयं ही मानो इस कहानी की नायिका हो। एक बार बारो का साथ पकड़ कर आप सारी कहानी में उस के अंतर के साथ एक सूत्र में बिंध जाते हैं। क्या उस की परिस्थितियां, क्या उस की आकांक्षाएं और क्या उन की परिणति—मन में रोमांच के भाव उत्पन्न हो जाते हैं और आंखों में नमी आ जाती है।

शर्मा जी की यह अकेली कहानी उन्हें हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित कर देने के लिए पर्याप्त है। प्रेमचंद जी की परंपरा ऐसे ही भावनाशील कथाकारों के हाथों में न केवल सुरक्षित है, बल्कि पल रही है और बढ़ी हो रही है। कोई देखे तो, कोई पहचाने तो—अतीत से चिपटे रह कर नहीं, वर्त्तमान के प्रकाश में आंखें खोल कर।

—श्री विश्वेश्वरानंद रिसर्च इंस्टी०, साधू आश्रम, होशियारपुर (पंजाब)।

● गांव की बेटी

मधो का ब्याह उठने वाला है। बेटी के हाथ पीले करते बारो के मन की एक साध पूरी होने जा रही है, जिसकी प्रतीक्षा वह युगों से कर रही थी। उसके घर आज पहली बार कारज हो रहा है। वह बड़ी प्रसन्न है, अत्यन्त उत्साहित।

बारो की न सास है न ससुर, न ननंद, न देवर, न देवरानी। घर में वह, उसका पति और इकलौती बेटी मधो, केवल तीन प्राणी हैं। बारो मीठे स्वभाव की है, इसलिए घर के तीन ही नहीं, गांव के सब लोग उसके अपने हैं, सगे हैं।

ब्याह की साइत सगाई के बाद जल्दी ही जुड़ गई है, कोई पन्द्रह दिन बाद ही। अब ब्याह के सिर्फ सात दिन बाकी हैं।

बारो को आजकल दम मारने की भी फुरसत नहीं, दिन भर काम ही काम है। कहीं कपड़े सीने हैं, कहीं अनाज छड़ना–पिछोड़ना है, कहीं कूटने–छानने हैं, तो कहीं घर की सफाई है—कौन–कौन से काम गिनाए ?—ब्याह का कारज है। सैंकड़ों काम और अकेली जान। मधो से आजकल वह केवल रसोई का काम लेती है। उस में भी तरकारी छील कर, चावल–दाल धो–सुधार कर, मसाला पीस कर दे देती है। कभी–कभी उसे आधी रसोई से ही उठा कर स्वयं तैयार करने बैठ जाती है। मधो कहती—"मां तुम तनिक कमर सीधी कर लो, यह सब मैं कर लूंगी।" मां कहती—"बेटी, अब तुझे सारी उमर करना ही तो है। वहां कौन तुझे बैठे-बिठाए खिलाएगा। मैं अभागिन हूं, तुझे कुछ भी सुख न दे सकी।" इसके साथ ही बारो को वह घड़ी याद आ जाती जब उसकी प्यारी बेटी, जिसे उसने अपने रुधिर से बनाया है, हृदय से लगा कर, खिला-पिला कर, पाल–पोस कर इतना बड़ा किया है, घर से चली जायगी और सदा के लिये दूसरे की हो जायगी। बाद को मेरे साथ कौन रहेगा! उसकी आंखें डबडबा आतीं। वह आंखों पर आंचल रख लेती और दांतों में होंठ दबा कर बरबस अपनी रुलाई रोकती। मधो मां की यह अवस्था देखती तो वह भी अपने को न संभाल सकती। दोनों मां–बेटी जब–तब इसी प्रकार आंसू बहाया करती।

बारो के सब समय काम में व्यस्त रहने का एक और भी कारण था। गांव की पास–पड़ोसिनें जो काम कर जाती वह उन्हें फिर से

करती । उसे किसी पर विश्वास ही नहीं होता था । अनाज छड़-पिछोड़ कर बोरी में रख दिया है, बोरी निकाल कर एक बार फिर साफ करेगी। मसाला साफ किया जा चुका है, भुनने जा रहा है। बारो सहेली से थाली ले कर उसे एक बार अवश्य देख लेती, कहीं कोई कंकर-पत्थर तो नहीं रह गया है । भुन कर इमामदस्ते में कूटने डाला जा रहा है । बारो हाथ रोक कर उसे अपनी आंखों देख लेगी, ठीक से भुन तो गया है ? कई सहेलियां उसके इस व्यवहार से बिगड़ भी पड़तीं, भुंझला कर कभी-कभी उसके इस शंकाशील स्वभाव की आलोचना भी करती, किन्तु बारो उनकी किसी बात पर कान ही न देती । हंस कर टाल जाती । उसके पास न इसके लिए समय है न स्वभाव ।

बारो व्यवहार-कुशल भी है । वह समय और व्यक्ति देख कर काम करती । जब कभी वह समय ठीक न समझती, तो सबके चले जाने पर एक-एक काम को फिर से देखती और दोबारा करती । अपने आप कहती जाती —"किसी का क्या ? काम में कोई कसर रह गई तो सब मुझे ही तो फूहड़ कहेंगे । बदनामी तो मेरी होगी । घर और घर की चीजें देख कर ही तो गृहिणी की सुघड़ता का पता लगता है । ब्याह-कारज है, कोई ठट्ठा है ! सौ तरह के मनुष्य आएंगे । कोई भरी सभा में कह दे तो क्या मुंह रह जाएगा ? न, बाबा ! यह रात-दिन का काम भला, वह एक घड़ी का अपमान बुरा ।

बारो इतने कामों के बीच, इस मंगल कार्य के समय भी जब-जब एकान्त पाती तब-तब न जाने क्यों उदास व दुखी हो उठती । उसका जी घबराने और सांस घुटने लगता । जी चाहता दहाड़ें मार कर रोने लगे ।

इन्हीं विषादमग्न घड़ियों में वह अपने अतीत जीवन के पृष्ठ उलटने-पुलटने लगती, पर उसका कोई भी वर्णन, कोई घटना उसे सुखी एवं उत्साहित करने वाली न होती । उसका अवसाद और भी घनीभूत हो जाता और वह उसकी मर्मान्तक पीड़ा से बिलबिला उठती ।

दिन भर के निरन्तर काम के अनन्तर बारो रात को अपनी शय्या पर लेटती है । बेटी मधो उसकी बगल में लेटते ही सो गई । पति भी ब्याह के साज-समान और प्रबन्ध के बारे में बात-चीत करते हुए अभी-अभी सोए हैं ।

घनी अँधेरी रात नीरव-निस्तब्ध है । उसका निरन्तर अव्यक्त सी-सी शब्द कानों को बहरा कर रहा है । झींगुर और झिल्ली की कर्कश झंकार कभी-कभी उस नीरवता को भंग कर रही है । पवन का एक झोंका झरोखे से आ कर दीवट पर रखे हुए दीप को अभी-अभी बुझा गया है । बारो

बुझी हुई बत्ती की चमक को थोड़ी देर तक शून्य भाव से देखती रही। अभी-अभी वह पति से मधो के ब्याह के विषय में बातें कर रही थी। ब्याह की चहल-पहल में वह अपने को भूले हुए थी। उसमें काफी प्रकाश था। तब दीपक भी जल रहा था। पति सो गए; दीपक भी बुझ गया। मधो के ब्याह की धूमधाम भी जाती रही। निविड़ अन्धकार में उसे अब थोड़ी देर पहले बुझे दीपक की बत्ती की धीमी चमक दिखाई दे रही थी। अब वह भी नहीं है। बारो के मस्तिष्क से बेटी के ब्याह की धूमधाम की स्मृति भी लुप्त हो गई। अब चारों ओर घना अन्धकार है; बाहर भी और बारो के अन्तर में भी।

उसके मानस-पट पर अतीत के चित्र स्पष्ट हो कर आ-जा रहे हैं—उसने जब से होश संभाला अपने पिता, एक बहन और दो भाइयों को ही देखा। बिना मां के कोई नहीं होता। एक समय था उसकी मां थी, जो उसके जन्म के तीसरे या चौथे रोज सौर-घर में ही मर गई थी। परिवार में उसका आना अशोभन ही हुआ था। फिर भी पिता ने उसे मरने नहीं दिया, और न उसके आगमन को अशुभ ही माना। दूर-पार रिश्ते की एक विधवा बुआ उसके घर रह कर उसका लालन-पालन करने लगी। लेकिन, कहते हैं इधर वह पैरों उठने लगी उधर परमात्मा ने बुआ को पृथ्वी से उठा लिया। इसके बाद बहन और पिता ने उसे पाला। जब वह आठ वर्ष की हुई तो बहन चल बसी। इसके बाद पिता ने ही उसकी और उसके भाइयों की देखरेख की। उसके जन्मते ही मां, बुआ, बहन की मृत्यु को लेकर आस-पास के गांवों में कई तरह की बातें चल पड़ी थी। उसके सयानी होने पर अब जब विवाह की बात चलती तो लोग उन घटनाओं की चर्चा करते। कोई कहता लड़की के ग्रह तेज हैं, तो कोई उसे कुल-नाशिनी कहता। जहां जायगी सत्यानाश कर देगी। बड़ी कठिनाई तथा दौड़-धूप के बाद भी दोनों ओर से एक-एक जीव की हानि हुई थी। उधर बूढ़ी मां का और इधर उसके मंझोरे भाई का देहान्त हुआ। लोगों में उसके सत्या-नाशिनी होने का विश्वास और भी दृढ़ हो गया। किन्तु, यह सम्बन्ध टूटा नहीं। ब्याह विधिवत् हो गया और वह बिदा हो कर पति के घर आ गई। यहां आ कर उसे मालूम हुआ, इस घर में उसके 'कुल-नाशिनी' होने का विषैला घूंट क्यों कर चुपचाप कण्ठ के नीचे उतार लिया गया है। उसके पति का तीसरा या चौथा ब्याह था। सौतें मर चुकी थीं। उसके पति की जीवन-कथा बहुत कुछ वैसी ही थी जैसे उसकी। किन्तु 'दु:खियारा है, स्त्री फबती नहीं, या स्त्री का सुख भाग्य में नहीं' उनके विषय में इस को छोड़ कर बात कभी आगे नहीं बढ़ी। वह गौना कर के ससुराल आई थी। उसके

कुछ ही दिनों बाद उसने सुना उसके मायके के गांव में जोरों का हैजा फैला। आस-पास के गांव भी लपेट में आ गए है। उसने भी भाई और पिता को लेने पति को भेजा, जो चौथे रोज खाली लौटे थे। पूछने पर उन्होंने बताया—"घर खाली मिला। पास-पड़ोस के घर भी खाली थे। जो थे उनसे पूछा। कोई कुछ न बता सका। हां, पलटन के कुछ सिपाही गांव के बाहर कुछ लाशों पर मिट्टी का तेल डाल कर आग लगा रहे थे। सम्भवतः उन्हीं में उनकी लाश भी जल रही हो।"...इन्हीं घटनाओं के बीच उसने एक कन्या को जन्म दिया, जिसका नाम रखा गया था मधो! और उसी मधो का आज से एक सप्ताह बाद ब्याह होने जा रहा हैं। ब्याह में सभी होंगे, किन्तु नहीं होंगे तो उसके भाई, उसके पिता और उसकी बहन। यहीं आ कर बारो रुक जाती और आंसू बहाने लगती। वह आगे सोचती—मधो का मामा नहीं। कौन उसे वेदी पर बैठाएगा? कौन उसे डोली चढ़ाएगा? कौन...?

उस दिन बारो पड़ोसिनों के साथ बैठी थी। काम भी हो रहा था और बातें भी। चर्चा थी ब्याह में बाहर से कौन-कौन आ रहे है। बारो ने अपने ससुर-पक्ष के आमन्त्रित दूर-पार के सगे-सम्बन्धियो के नाम गिन दिए और अन्त में कहा—"और गांव के लोग।"

एक ने पूछा—"और तुम्हारे मायके की तरफ से कौन आएगा?"

बारो सहसा उत्तर न दे सकी। उसने प्रश्न भर दुहरा दिया—"मेरे मायके की ओर से कौन आएगा?"

"हाँ।"

सहेली ने यह प्रश्न पूछ कर बारो का मर्म-स्थान छू दिया था, जो पके फोड़े की तरह इन दिनों गहरी पीड़ा दे रहा था। बारो ने हाथ का का काम रोक कर एक बार सहेली की ओर देखा फिर शून्य में ताकते हुए कहा—"मेरे मायके में मेरा कोई है ही नहीं। कौन आएगा? किसे बुलाऊं?"

दूसरी ने पूछा—"कोई नहीं?"

बारो ने रुँधे कण्ठ से कहा—"नहीं।".

तीसरी ने प्रश्न किया—"कोई दूर-पार का भी नहीं?"

बारो इस बार बोल न सकी। उसने नकारात्मक सिर हिला दिया।

दूसरे दिन उसी सखी ने बारो से कहा—'अपने मायके में ब्याह का बुलावा तो देना ही होता है। ऐसा न करने से कारज सुफल नहीं होता। अपनी रीत पूरी करनी है, फिर चाहे कोई आए, न आए। भगवान् तो देखते हैं।"

बारो ने धीरता से कहा—"जब वहां मेरा कोई है ही नहीं, तो मैं कैसे किसी को बुलावा भेजूं ?"

थोड़ी देर बाद वही सखी बोली—"एक बात कहूं, यदि मानो ?"

बारो ने हामी भर दी। वह बोली—"तुम्हारे यहां देवमन्दिर तो होगा ?"

"हां।"

"किस देवता का ?"

"शिवजी का।"

"तो ठीक है, देवता-देवता सब एक—क्या राम, क्या कृष्ण, क्या शिवजी। शिवजी तो शिव ही ठहरे, कल्याण करने वाले। उन्हीं को न्योता दे आओ। मैं तुम्हारे साथ चलूंगी। सुबह चल कर शाम तक लौट आयेंगे।"

गौने के बाद बारो अपने मायके नहीं गई थी। प्रस्ताव सुन कर उस के मस्तिष्क में सैंकड़ों स्मृतियां जाग उठीं। सोचा इस बहाने अपना प्यारा गांव तो देख लेगी। माना वहां अपना कोई नहीं रहा। पर उस के बाग-बगीचे, मन्दिर, देवता, खेत, गलियां तो वहां होंगी। वे तो उसे अब भी उसी तरह प्यार करेंगे। हृदय की गुदगुदी को छिपाते हुए जैसे विवश भाव से बोली—"जैसा तुम कहो।"

"मेरे कहने की बात नहीं। तुम्हें चलना होगा। तुम्हें जाना ही चाहिए।"

बारो ने कहा—"मधो को भी ले चलूंगी।"

"अच्छा तो है। उस का भी तो वहां वैसा ही अधिकार है, जैसा तुम्हारा।"

दूसरी सखी ने कहा—"मैं भी चलूंगी तुम्हारे साथ तुम्हारा गांव देखने।"

इस के बाद वहां बैठी गाँव की प्राय: सभी स्त्रियों ने साथ जाने की इच्छा प्रकट की। सूर्योदय से पूर्व अगला दिन यात्रा के लिये स्थिर हो गया। दोपहर के बाद पति घर आए तो बारो ने कहा—"हम लोग कल जगपुर जायेंगे।"

पिता और भाई की मृत्यु के बाद पत्नी ने एक बार भी मायके जाने का नाम नहीं लिया था। आज अचानक वहां जाने की यह इच्छा कैसे जाग उठी ? सोचा शायद सुनने में कुछ भ्रम हुआ हो। पूछा—"कहां जाओगी कल ?"

"जगपुर।"

"जगपुर ?"

"हां ।"

"किस के यहां ?"

"किसी के भी नहीं ।"

पति को और भी आश्चर्य हुआ । बोले—"जगपुर जाओगी, किसी के पास भी नहीं ! आखिर कोई काम तो होगा ?"

बारो ने अपना मन्तव्य उन के सामने रखा । बड़ी देर तक ऊंच-नीच समझाने के बाद वृद्ध पति स्वयं तो साथ जाने को राजी न हुए, हां, पत्नी को जाने की सहर्ष अनुमति दे दी ।

सवेरे कोई आठ बजे जगपुर गांव के लोगों ने शिवालय की ओर से किसी स्त्री के रोने का स्वर सुना । धीरे-धीरे वह स्वर ऊँचा होता गया और अब एक कण्ठ से न निकल कर कई कण्ठों से निकलने लगा । लोगों ने ध्यान से सुना तो आश्चर्य में पड़ गये ! सब अपनी-अपनी तौर पर सोचने लगे—"किसी ने अपनी पत्नी को पीटा होगा । गांव में यह अनहोनी बात नहीं । ऐसा होता ही रहता है । स्त्रियां काम जो ठीक से नहीं करतीं । लेकिन नहीं, यह तो रोये ही जाती है ! कहीं स्त्रियों-स्त्रियों में झगड़ा तो नहीं हो गया ? बूढ़ियां अपनी जवान बहुओं का तनिक सी बात पर मूँज की तरह कूटने लगती हैं । ऐसी बात तो नहीं ? अरे, नहीं, रोना तो और भी जोर-जोर से होने लगा ! यह एक नहीं कई स्त्रियों के रोने का स्वर है । क्या मामला है ? कहीं डाकुओं ने गांव पर धावा तो नहीं बोल दिया ? किंतु इस खड़े दिन में ! कुछ भी हो, मामला गम्भीर मालूम होता है ।"

गांव के मुखिया ने गुहार लगाई । बच्चे, किशोर, जवान, अधेड़ और बड़े बल्लम, लाठी, बरछी, फरसा, हांसी, फाली, गंडासा, कुदाली, खुरपी, जिस के हाथ जो आया, ले कर अपने–अपने घरों से निकल पड़े ।

गांव से निकलते ही सामने एक आम का बाग पड़ता था । गांववालों ने गली से ही देखा, बाग में चार–पांच गाड़ियां खड़ी हैं और पास ही जुए से बंधी एक बैलों की जोड़ी भूल में पड़ा भूसा खा रही है और शरीर पर बैठने वाले मक्खी, मच्छर, डांस को अपनी पूंछ से जब-तब मार कर भगा रही हैं । इतनी निश्चिन्तता से चोर-डाकू पड़ाव नहीं डाल सकते । उन के पैर जल्दी-जल्दी उठने लगे । दौड़ना बन्द हो गया था । दिल की धड़कन कम हो गई । किन्तु भय व आश्चर्य-मिश्रित आकुलता फैली थी ।

गाँव के बाहर आए, तो शिवालय के सामने, बूढ़े पीपल के उखड़े–पुखड़े चौंतरे पर स्त्रियों का एक मेला सा लगा देखा । साथ में आए मनुष्य एक ओर बैठे चिलम पीते हुए, गीली आंखों से चौंतरे की तरफ देख रहे थे ।

गांव वालों को इस सैनिक सज्जा में देख कर वे त्रस्त भाव से उठ खड़े हुये । मन में आश्चर्य-मिश्रित कुतूहल था। बैल भी चारा खाना छोड़ भीड़ की ओर कान खड़े कर के देखने और जोर-जोर से पूंछ मारने लगे ।

गुहार सुन कर और यह भीड़ देख कर आसपास खेतों में गए लोग भी उन में आ मिले ।

कुछ लोग गाड़ीवालों के समीप जा कर पूछ रहे थे—"कौन गांव के हो ? कहां से आये हो ? यह रोना-धोना कैसा ?"

इधर बूढ़ा मुखिया कुछ जनों के साथ चौंतरे की ओर बढ़ा । वहां जा कर देखा एक अधेड़ स्त्री पीपल से लिपटी 'हू-हू' कर के रो रही है। कई-एक दूसरी स्त्रियां उसे सँभाले खड़ी हैं और स्वयं अपने को रोकने में असमर्थ पा कर उसी की भांति फुक्का मार कर रो रही हैं। अपनी माताओं से लिपटे या इधर-उधर खड़े बच्चे भी जब-तब उस के स्वर में स्वर मिला रहे हैं।

लोगों को पास आते देख कर महिलाओं का स्वर धीमा पड़ गया था। जब वे पास खड़े हो गये, तो रोना बिल्कुल बन्द हो गया । अब उन की सिसकियां भर सुनाई दे रही थीं ।

बूढ़े मुखिया ने बड़े ही कोमल स्वर में पूछा—"क्या बात है ? क्यों रो रही हो ?"

सब मौन रहीं । किसी ने उत्तर नहीं दिया। मुखिया ने उन के गांव का नाम पूछा । एक ने बताया—"हरपुर ।"

"हरपुर में किस के यहां से ?"

"गोरखसिंह के यहां से ।"

मुखिया ने जैसे भूली बात याद करते हुए कहा—"हरपुर के गोरखसिंह चौधरी के यहां से !...कौन-कौन आया है ?"

"उन की बहू और बेटी......।"

मुखिया ने आश्चर्य-मिश्रित प्रसन्नता से कहा—"गोविंद भय्या की बेटी बारो ! कहां है ?"

बारो अभी तक पीपल से लिपटी सिसकियां भर रही थी । वृद्ध मुखिया में पितृ-स्नेह देख बारो आ कर उस से लिपट गई और उस की छाती में मुंह छिपा कर एक बार फिर दूने वेग से रो पड़ी । वृद्ध, सजल-नेत्र, उस की पीठ एवं सिर पर हाथ फेरने लगे। आवेग शान्त होने पर उन्हों ने पूछा—'क्या बात है...? कुछ कह तो, बेटी !"

वही स्त्री कह रही थी—"मधो बिटिया का ब्याह है। गांव को न्योता देने आई है। भाई, बहन, पिता, मां कोई है नहीं। असगुन न हो इसलिये शिवजी...।"

गांववालों के मुख पर करुणा एवं आह्लाद की गंगा-जमुनी बह रही थी। वृद्ध गद्‌गद् कण्ठ से बोले—"कौन कहता है बारो के भाई नहीं, बहन नहीं, पिता नहीं? गांव के सब लड़के इस के भाई हैं, लड़कियां बहनें हैं और स्त्री-पुरुष मां-बाप हैं। बारो के सब हैं, बारो सब की है।"

वृद्ध मुखिया के शब्द सुन कर सब की आंखें डबडबा उठीं। बारो उन से लिपट कर फिर रोने लगी।

उन्हों ने पूछा—"लगन कब का है?"

"आज से चौथे दिन बारात आएगी।"

वह बारो से बोले—"बेटी, तू जा। हम मधो के विवाह में आयेंगे। सारा गांव तेरे घर 'मंढावा' ले कर आएगा...मत समझ तेरा मायके में कोई नहीं है। तेरे सब है।"

मां का संकेत पा कर मधो मन्थर गति से नाना की ओर बढ़ी।

मधो का ब्याह धूमधाम से हुआ। गांववालों ने दांतों तले उंगली दबा ली। बारो के मायके से रसद-पानी की कई गाड़ियां लद कर आई थीं। कपड़ों के कई जोड़े थे और पांच सौ एक रुपया नकद। वृद्ध मुखिया स्वयं आये थे। उन के बेटे मनसुख ने मधो को वेदी पर बैठाया और डोली पर चढ़ाया था।

लोग सच ही कहते थे—बारो के अपने मां-बाप और भाई होते तो इतना कभी न दे पाते। अब उस ने आशा से अधिक पाया था। क्यों न हो, वह जगपुर-निवासी स्वर्गीय चौधरी गोविंदसिंह की लड़की नहीं, जगपुर गांव की बेटी थी।

● ● ●

★ मंगल मेहता

श्री मंगल ~~सक्सेना~~ मेहता नवयुग के उन कथाकारों में हैं, जो मुक्त भाव से लिखते हैं, किंतु—उन्हीं के शब्दों में—किसी गुट में न मिले होने के कारण प्रचार-प्रसार का क्षेत्र अवरुद्ध पाते हैं कभी ऊसर में बीज बिखेरते हैं, तो कभी दायराबद्ध लोगों में फंस जाते हैं। इस स्थिति से निराशा उत्पन्न होनी स्वाभाविक है, किंतु इस से आप निष्क्रिय कभी नहीं बने। आप का रुझान समाज की सेक्स-संबंधी असंगतियों को अनावृत्त करने की ओर है।

मध्यम श्रेणी के एक परिवार में आप का जन्म ३१ अक्तूबर १९३१ को हुआ था। मध्य प्रदेश के जीरन नामक स्थान में आप की प्रारंभिक शिक्षा संपन्न हुई और माधव कालिज, उज्जैन, से आप ने बी० ए० किया। १९५१ में 'सुमित्रा' में आप की पहली रचना 'तिलमिला तिलमन्ना' प्रकाशित हुई। 'मध्य भारत कहानी प्रतियोगिता' तथा 'जागरण कहानी प्रतियोगिता' में आपने पुरस्कार भी प्राप्त किए। आपने ७० के लगभग कहानियां लिखी हैं।

प्रस्तुत कहानी 'वह रात बावरी' सेक्स-संबंधी असंगतियों के एक ऐसे पक्ष की ओर संकेत करती है, जो बहुत से परिवारों में पलती हुई वेदनाओं के लिए उत्तरदायी है। इस का प्रस्तुत हल कभी हमारी परंपरागत भारतीय संस्कृति में धर्मसम्मत रहा था। किंतु समाज के बदलते हुए आर्थिक ढांचे ने नारी को अधिकाधिक व्यक्तिगत संपत्ति की ओर धकेलते हुए इस सुविधा को उस से छीन लिया। तब यह सुविधा 'पाप' करार दे दी गई। किंतु सामाजिक विधान की वे धाराएं, जो वास्तविकता के साथ सहानुभूति नहीं रखतीं, प्रायः ही अंधेरे में तोड़ी जाती रही हैं। प्रथम व्यक्ति की ओर से लिखी गई इस कहानी में लेखक ने ऐसी ही एक धारा को विशिष्ट परिस्थितियों में तोड़ा है, जिस से परिवार में सुख-शांति छा जाती है।

कहानी केवल एक उदाहरण के रूप में सामने आती है—लेखक द्वारा प्रस्तुत परिस्थितियों का बंधन उसके साथ है। यही समस्या अन्य अनेक संदर्भों में उठती रही है और बहुत से परिवारों में आज भी विद्यमान है। प्रस्तुत कहानी में जो हल दिया गया है उसे स्थायी हल के रूप में नहीं माना जा सकता क्योंकि इस हल के साथ-साथ बहुत सी मनोवैज्ञानिक, आर्थिक व सामाजिक समस्याएं समाज की नई परिस्थितियों में सिर उठा लेंगी। किंतु राजनीतिक क्रांति के साथ आमूलचूल क्रांति की अपेक्षा हमारा समाज दुबका-चोरी का ही प्रेरक रहा है—इस नाते यह कहानी भी सुपाच्य होगी!

—बुनियादी प्रशिक्षण केन्द्र, विद्यालय, गरोठ (म० प्र०)।

● वह रात बावरी

आकाश में फाग खिलने को था। हरियाई धरती भीगी थी। इस कारण हमारे तांगे के घोड़े के पैर पच्-पच् की आवाज करते हुए पड़ रहे थे। एक टिटहरी चीखती हुई पागल सी इधर-उधर दौड़ रही थी। जरा कुछ खटका कि वह भागती और आवाज करती हुई अपने भूरे, दागदार, मटियाले से अण्डों के पास आ जाती, पंख फड़फड़ाती, पीली सी पतली टांग ऊपर उठाती और फिर आवाज करती। फिर पंख फैला दूसरी ओर भागती।

नीम की डाली पर कौवी ने चोंच से अपने बच्चे के पंखों को गुदगुदाया। बच्चा चिहुंक उठा। फिर वह अपनी चोंच को अपने ही पंखों से साफ करने लगी और प्यार भरी आवाज करती उड़ गई। इस पेड़ से उस पेड़, कौओं की पांत की पांत उड़ रही थी।

ऊषा ने प्रकाश को जन्म दिया। पंछी सोहर के गीत गाने में मगन थे। क्षितिज गुलाल-राग से रंजित था।

तांगे का पहिया एक छोटे से गड्ढे में चला गया। धचका लगा। मैं संभल गया। घोड़ा भी बेचारा गिरता-गिरता बचा। आंखें मल कर मैंने तांगेवाले की ओर देखा। ग़ौर से देखा और बोला—"बाबा, अब तो भगवान् के नाम लेने के दिन हैं। दुनियादारी की झंझटों से अब तो रुखसत लो। भगवान् के दिये दो–चार बच्चे होंगे। धंधा उन पर छोड़ो।"

तांगेवाले ने मुड़ कर अपनी मिचमिची और कीचड़ भरी आंखों से मेरी ओर देखा। कुछ देर देखता रहा। फिर अपनी उलझी दाढ़ी में उंगलियां डाल कर उसे सुलझाने का प्रयास सा करने लगा। सामने निगाह कर घोड़े को चलने के लिये टिटकारी दी। उसके बाद एक लम्बी सांस ली। अपने मैले कुरते से आंखें साफ करते हुए धीरे से बोला—"बाबू जी, किस्मत की बात है। नहीं तो भगवान् के दिये चार-चार बेटे हैं! फिर भी यह सब करना पड़ता है।"—कह कर वह सामने सूने आकाश की ओर देखने लगा।

मैं अपनी धुन में मगन था। गंगा मां के यहां कितने दिनों बाद जा रहा था! मेरी मां ने तो केवल जन्म ही दिया, पर गंगा मां ने मुझे पाला-पोसा, असीम स्नेह से सींचा, अपने जाये से भी बढ़ कर माना। गंगा मां के यहां रहने वाले कितने खुश रहते होंगे! और मैं जहां से आ रहा था—राम राम! कल्पना कर के ही दिल थर्रा गया।

तभी तांगा रुक गया। मैंने देखा कि गंगा मां के दरवाज़े पर कोई औरत घूंघट निकाले खड़ी है। वह किसी ध्यान में लीन है। पास ही सौहर के गीत गाये जा रहे थे। नंद के घर कृष्ण जी जनमे थे। गोपियां इकट्ठी हुई थीं। खुशियां मनाई जा रही थीं।

मैं सामान ले वहां पहुंचा तो पहचाना। वह तो गंगा मां थी! उसने मेरा आना देखा नहीं। सामान रख मैंने कहा—"मां!"

वह चौंक उठी। घूंघट से ही मेरी ओर देखा। बोली, "अरे तू!" फिर घूंघट उठा कर आंखें मसलीं, हथेलियों को मसला और उन में आईने की भांति देखा। फिर मुझे आशीष देती पुलकी—"बेटा!"

मैंने उसके पैर छुए। कुशल-क्षेम पूछी। सामान उठा दोनों ही भीतर चल दिये।

राधेलाल ट्रंक में सामान जमा रहा था। शायद उसे बाहर जाना था। मुझे आया देख बड़ा प्रसन्न हुआ। गले मिल कर बोला—"मां, अब तो तुम्हें यह घर काटने को नहीं दौड़ेगा? शशि आ गया। दो-चार दिन में काम करके लौट आऊंगा। शशि, देख तो कितनी अजीब बात है कि मां को अब इस घर में अच्छा नहीं लगता। मैं जरा सामान जमा लूं। तुम मां से बातें करो। यह आया मैं भी।"

मां और मैं दूसरे कमरे में चले गये।

"देख तो रे, तू कितना दुबला हो गया!"

"नहीं तो।"

"अरे, वाह! मैं तो देख रही हूं। तू पहले ही क्यों नहीं आ गया, रे! सुना था कि तू जहां रहता था वहां बड़ा अकाल है। माताएं मुट्ठी भर अनाज में अपने बच्चों को बेच देती हैं। ऐसी जगह तू कैसे रहा होगा, रे! कहां चली गयी उन मरों की मोहमाया!" और उसने मुझे अपनी छाती से भींच लिया। फिर भूली सी बोली—"मैंने राधे से कितनी बार कहा कि तुझे वहां से बुला ले। कैसा जमाना आ गया, रे! मांएं कितनी बदल गईं! हे भगवान्! पर राधे तो न जाने क्या-क्या कहता था! संसार में ज्यादा लोग हो गये। अरे, ज्यादा लोग हो गये तो क्या हमारे मन से ममता ही चुक गयी?"

तभी राधे लौट आया।

"मां, तुम शशि से कब तक बातें करती रहोगी? बेचारे ने रात भर सफ़र किया है। जरा सुस्ता भी तो लेने दो," राधे ने हमारे पास आ कर कहा। मां ने तीखी नजरों से उसकी ओर देखा और मुझ से बोली—"जा, ऊपर चला जा।"

ऊपर जा कर मैं बाथ-रूम में कुल्ला करने घुसा कि मालती—राधे की पत्नी—से जा टकराया।

"अरे...आप! माफ़ करना, कुछ ध्यान ही नहीं रहा।"

"प्रणाम।"

"जीती रहो।" मैंने हंसी की और पूछा—"कपड़े लाऊं?" वह गीले कपड़े पहने थी। मैं कपड़े लेने चला ही था कि वह बोली—"नहीं, नहीं, तुम उन कपड़ों को न छूना। देखते नहीं, मैंने मरे कौए को छू लिया है!" बात कहते-कहते वह मुसकरा दी, लजा गई, और वहां से भाग गई।

मुझे कुछ याद आ गया। हम सभी गैलरी में बैठे गप्पें लड़ा रहे थे कि पड़ोस की एक महिला से अपने छोटे बच्चे को यही कहते सुना, तो सब खिलखिला कर हंस पड़े थे।

बात करते समय वह मुझे सद्य-स्नाता उषा के समान पवित्र, आकर्षक लगी। अभी भी मेरे मन पर उसका चित्र था। उसने बात करते समय मुझ से नजरें चुरा ली थी। क्यों?

उसका चेहरा मेरी आंखों के आगे आ रहा था। मुझे ऐसा लगा कि कई दिनों बाद आज उसके चेहरे पर मुसकान आई हो। भरी बदली को प्रत्यूष ने अपने रंग से संवारा हो, सजाया हो, पर--पर जैसे बीच में ही कोई बड़ी सी काली बदली आ जाय...।

पलंग पर बैठा बैठा मैं बहुत कुछ सोचता रहा। राधे की बात, गंगा मां की बात, अपनी बात, अपनी जननी की बात। उफ़्! उस के कष्ट स्मृत होते ही मैं फफक-फफक कर रो उठा। मेरी आंखों के आगे उस की मृत्यु का दृश्य नाच उठा। कितना दारुण और करुण दृश्य था—उसे गधे पर बैठाना, काला मुंह करना, माथे पर गरम कर के पैसा चिपकाना, उस का चीखना, उसे मारते-पीटते शहर से निकालना—इसलिये कि लोग उसे 'डाइन' मानते थे। उस की वह दशा, आज पैंतीस वर्ष पूर्व की होने पर भी, वैसी ही स्मृत हो उठी। स्मृत होते ही मैं कांप उठता हूं, रो उठता हूं!

जब तक जिंदा रही मुझे कोसती रही, झिड़कती रही, घृणा करती रही और मुझ से दूर रहती रही। मैं सोचता रहा, मां कितनी बुरी है कि मुझ से प्रेम नहीं करती, मेरी शकल देखना तक पसन्द नहीं करती। किन्तु अब जाना था कि वह मुझ से दूर क्यों रहती थी। कितना कष्ट उसे होता होगा, जब वह मुझे झिड़कती थी! कितनी अभागिनी थी वह कि अपने बेटे को दुलरा नहीं सकती थी, इसलिये कि कहीं उस की छाप मुझ पर न पड़ जाय। और गंगा मां सुबह ही सुबह क्यों खड़ी थी? राधे मेरे आने पर

इतना अधिक खुश क्यों था ? और मालती भरी भरी, सहमी-सहमी, पीड़ा की प्रतिमूर्त्ति सी क्यों लगी ?

"अच्छा हुआ तुम आ गये, शशि" –राघे चला आ रहा था—"हां, देखना मां इधर आवे तो..." वह दबे पैर मालती के कमरे की ओर बढ़ रहा था।

इस घर का वातावरण इस तरह दम घुटा-सा क्यों ? ये सब अपने ही घर में चोर से क्यों ?

"उफ्, वह यहाँ भी नहीं। उस से मिलना था न। शशि, तुम बड़े मौके से आये। मैं बाहर जाता और यहां न जाने क्या घट जाता ? तुम्हीं कहो कितनी बुरी बात है ! माँ उसे कष्ट देती है, भूखा रखती है, मारती-पीटती है, उस जीने नहीं देती। माँ ऐसा करती कैसे है, मैं समझ नहीं पाता। मैं रोता हूं, घुटता हूं, पर अवश-सा कुछ कर नहीं पाता। सन्तान नहीं होती, इस में उस अकेली का ही तो दोष नहीं। मां कहती है दूसरी शादी कर लूँ। पर कैसे ? तुम्हीं कुछ मदद करो न, शशि !"

मैं गुमसुम बैठा सुन रहा था। वह चुप हो गया तो चुप्पी छा गई। वह खामोशी बड़ी अखरने वाली थी। कुछ देर बाद उस ने खाना खाने के लिये कहा। हम दोनों चुपचाप उठ कर चल दिये।

उस के जाने के बाद पूरे दिन और रात मैं सोचता रहा। गंगा माँ से कतराता रहा। उस से मिलता भी तो बहाना ढूंढ कतरा जाता। मेरे इस व्यवहार से गंगा मां दुखी मालूम हो रही थी।

दूसरे दिन शाम को एक हंगामा सुन कर मैं चौंक कर उठ बैठा। मां गालियां दे कर कोस रही थी :

"मेरे बेटे का जीवन बर्बाद किया चुड़ैल ने। यहाँ आ कर कुलच्छनी ने 'नपूतों' की छाप लगा दी। और तो और मेरे दूसरे बेटे पर भी न जाने क्या कर दिया ! क्या तबाह करने को मेरा ही घर था ?"

"माँ, तुम तो फजूल ही नाराज होती हो। तुम को हर बात में मेरी ही गलती दीखती है !"

"ज़बान लड़ाती है !"—और गंगा माँ ने एक ईंट उस की ओर फेंकी। उस के लगने से उस के माथे से रक्त बहने लगा।

"मां, यह क्या किया तुम ने !"—लपक कर मैं ने उसका माथा दबाया। मरहम–पट्टी करने के लिये मैं उसे कमरे की ओर ले चला। मैं सोच भी नहीं सकता था कि जिस मां ने मुझे इतना अधिक स्नेह दिया, वह ऐसी भी हो सकती है !

माँ ने उसे धकेल कर उस के कमरे में भेजा और बाहर से कुण्डी

चढ़ा दी ।

मैं वापस आ कर पलंग पर आ पड़ा । दिल में अन्धड़ चल रहा था । जो कुछ सोचता वह अन्त में मालती और गंगा मां पर आ कर रुक जाता । बढ़ती जनसंख्या, अकाल, माता-पिता का अपनी सन्तान को बेचना । पर मालती पर आ कर मेरी विचारधारा रुक जाती । मैं उस से मिलना चाहता, पर गँगा मां का डर था । पर इस डर पर मेरी इच्छा-शक्ति हावी हो गई । उठा और दबे पैरों उस के कमरे के पास पहुँचा । जब तेज चलती सांसों में साधारण गति आई, तो मैं ने धीरे से कुंडी खोली । खिड़की खुली थी । उस में से चांदनी आ कर फरश पर बिखर रही थी । पास ही मालती पड़ी-पड़ी सिसक रही थी । मुझे देखते ही कांप उठी । उस ने एकदम आंसू पोंछे और मुसकराने का प्रयत्न कर बोली—"तुम !"

मैं भी उस के पास जा बैठा । क्या कहूं ? शाम की घटना की याद दिला कर क्या मैं उस के घावों को नहीं कुरेदूँगा ? मैं ने उस के चेहरे की ओर देखा । वह भी मेरी ओर देखती रही । फिर नीचे देखने लगी । सोचता न सोचता मैं उस का हाथ सहलाने लगा । उस ने अपना हाथ नहीं खींचा । वह गुमसुम बैठी सोचती रही, सोचती रही । उस ने लम्बी सांस खींची और मेरे पैरों में लुढ़क गई ।

उफ़ ! वह रात बावरी...!

जब गंगा माँ के यहां से लौटा तो इस आकस्मिक घटना पर सोच नहीं पा रहा था । महाभारत की नियोग-कथा को अपनी ढाल बना रहा था । मन छोटा भी हो रहा था, पर यह भी सोच रहा था—कुछ गलती भी तो नहीं, दोष भी तो नहीं ।

सालेक बाद जब मैं गंगा मां के घर गया तो देखा कि गंगा मां बड़ी खुश है । राधे के चेहरे पर प्रफुल्लता है । मालती अपनी बच्ची को लिये खड़ी थी । मुझे देखा, तो मुसकरा उठी । शरमा कर नजरें नीची कर लीं और बच्ची को मेरी ओर बढ़ा दिया ।

मेरे मुंह से 'मालती' निकलते-निकलते रह गया और मैं बोला—"भाभी !"

बच्ची मेरी गोद में थी और मालती पलक मारते लोप हो गई थी ।

● ● ●

✶ मनोहर वर्मा

अपने तेईसवें वर्ष में चल रहे भाई मनोहर वर्मा स्वभाव से व्यस्त व संघर्षशील नवयुवक हैं---ऐसे व्यस्त कि जिन्हें व्यस्तता ही प्रिय है और संघर्ष ही जिन का प्रेरणा-स्रोत है। बाल-साहित्य में ही आप ने अधिक लिखा है और भविष्य में भी इसी ओर बढ़ने का विचार है। कविता और शायरी से भी शौक है। कविता लिखते भी हैं, मगर बहुत कम और वह भी जी बहलाने को। दफ्तर की बाबूगीरी करने के बाद जो समय बचता है वह कुछ रंगों को निखारने में व्यतीत होता है, क्यों कि---'रंग हैं और मेरे दिल के गुलिस्तां में अभी।'

इधर कुछ दिनों से आप पारिवारिक हास्य-कथाएं भी लिखने लगे हैं। आप की अन्य विशेष रुचियों में चित्रकारी, फोटोग्राफी, पत्रमित्रता, भ्रमण और सब से बढ़ कर पुस्तक-संग्रह आते हैं। दसवीं तक शिक्षा-प्राप्त भाई मनोहर वर्मा हमारी साहित्य-वाटिका के ऐसे माली हैं, जिन्हें अपने हाथों पौधे सींच कर उन की छांव तले खड़े होने की उद्दाम लालसा है।

प्रस्तुत कथा 'नया मेहमान' आप की सर्वप्रथम प्रकाशित रचना है। संघर्ष चाहे मानसिक हो, चाहे भौतिक, चाहे परिस्थितिजन्य हो, चाहे स्वेच्छाजन्य---किसी भी कहानी का मर्म होता है। बिना इस के कहानी नहीं बनती। वर्मा भाई की कहानी 'नया मेहमान' में एक मीठा संघर्ष है, मीठी उमंग है, मीठा परिहास है। एक सुखी परिवार की अछूती तसवीर इस में है। इस मीठेपन के कारण ही कहानी की चरमसीमा इतनी विनोदपूर्ण हो गई है कि आश्चर्य नहीं इस कहानी को पढ़ कर नए परिवार इसे अपने जीवन में दोहराना चाहें। इस संग्रह में यह कहानी एक नमूने के रूप में दी जा रही है। नई पीढ़ी के जिस कथाकार की पहली कहानी ऐसी हो, उस का लगाया पौधा भविष्य में महावट का रूप ले कर न जाने कितने महारथियों को छाया देगा... कम से कम हमें ऐसी आशा अवश्य रखनी चाहिए।

नव-कथाकारों के लिए श्री वर्मा की यह कहानी निःसंदेह एक प्रेरणा प्रस्तुत करेगी। हो सकता है यह पहला ही प्रयास हो, हो सकता है इसे लिखने से पहले लेखक ने बीसियों रचनाएं फाड़ी हों---किंतु 'नया मेहमान' का रूप बहुत उजला, सुन्दर और सलोना है।

---मदन निवास, तोपदड़ा, अजमेर।

● नया मेहमान

"न जाने मेरे बकसुए कहां रख दिये हैं तुम ने ! दस बज चुके हैं, आज फिर देर हो जाएगी," झल्लाते हुए शेखर बोला।

"कह तो रही हूं, ड्रेसिंग टेबिल की दराज में रखे हैं," रसोई में बैठी उर्मिला ने उत्तर दिया।

शेखर ने जल्दी से दराज खोली। दराज खुलते ही उस की आंखें एक जगह ही अटक गईं। वह भूल गया कि उसे कुछ ढूंढना है या दफ्तर को देर हो रही है। उस की आंखें लाल ऊनी मोजे पर ठहर गईं। छोटा-सा मोजा—एक पूरा बुना हुआ, दूसरा सलाई पर अधबुना। शेखर ने एक अजीब कुतूहल का आभास पाते हुए धीरे से मोजा उठा लिया। अपने सिर से ऊपर हाथ ले जा कर उस मोजे के नन्हे-नन्हे फुंदनों को पकड़ नचाता हुआ वह मुसकरा उठा। धीरे से होंठों की रेखा फैल गई। हृदय एक मीठी-सा गुदगुदी के आभास से पुलक उठा।

सोचने लगा : तो क्या मैं.. ऊंहूं मैं नहीं उर्मिल...तो क्या सचमुच अब इस आँगन में किलकारियां गूंजने वाली हैं? और वह मन ही मन किसी सुखद कल्पना में खो कर इस नए मेहमान के लिए भगवान को लाख लाख धन्यवाद दे उठा।

"अब देर नहीं हो रही आप को? कब से थाली परोसी हुई रखी है!" उर्मिल रसोई से ही फिर चिल्लाई। "क्या नहीं मिले बकसुए? मैं आऊं?"

और इस एक ही क्षण में शेखर यह सोच कि उर्मिल को अब अधिक परिश्रम नहीं करना चाहिए, जल्दी से बोल उठा, "नहीं, नहीं, उर्मिल, मिल गए।"

उर्मिल के चेहरे पर कुछ नवीनता पाने की उत्सुकता में बिना बकसुए ढूंढे ही वह रसोई में जा बैठा।

थाली परोसी रखी थी। उर्मिल गरम-गरम रोटी उतार कर दे रही थी। शेखर ने पहला कौर तोड़ने के साथ ही उर्मिल के चेहरे की ओर देखा। गुलाबी चेहरा, मुसकराते होंठ, बड़ी-बड़ी पलकों के नीचे सुन्दर आंखें। इस खिलते चेहरे पर श्रम की बूंदें गुलाब पर ओस सी लगीं। शेखर की नजरें उर्मिल के रेशमी बालों की लटों पर अटक गईं, जो निडरता से उस के कपोल और ललाट चूम रही थीं।

उर्मिल की नजर थाली पर गई। अभी तो पहली रोटी भी ज्यों की त्यों पड़ी है! उस ने शेखर की ओर देखा। वह उसी के चेहरे पर कुछ खोज रहा था। दो क्षण नयन मिले। उर्मिल लजा गई।

रोटी बेलते हुए बोली, "कौलिज की आदत गई नहीं अभी? क्या देख रहे हो? और कहते-कहते उस के रक्तिम होंठों पर हंसी आ गई हल्की सी।

शेखर भी मुसकराते हुए बोला, "तुम्हें काम अधिक करना पड़ता है। थक जाती हो यही देख रहा हूं।" कुछ देर ठहर कर फिर मजाक के लहजे में बोला, "अब तो तुम्हें अधिक परिश्रम नहीं करना चाहिये।" शेखर के कथन में शरारत थी, पर उर्मिल नहीं समझ पाई।

हंसती हुई व्यंग्य से बोली, "जी हां, बहुत परिश्रम करती हूं! कोई नौकर रख दो न, बाबू साहब।"

खाना खा कर शेखर उठते हुये बोला, "अच्छा, उर्मिल, बहुत जल्दी तुम्हारे लिये नौकरानी ला दूंगा।"

हाथ धुलाते हुए उर्मिल ने फिर मजाक किया, "क्या बहुत ज्यादा कमाने लगे हो?"

"हां!" छोटा सा उत्तर दे शेखर जीना उतर गया। उर्मिल ने मुसकराते हुये दरवाजा बन्द कर लिया।

उन का ब्याह हुए तीन वर्ष हो गये थे। उर्मिल को पा कर शेखर और शेखर को पा कर उर्मिल अपने आप को धन्य समझते थे। अपनी नन्ही सी दुनिया में दोनों स्वर्गिक आनन्द का अनुभव करते। सुखी थे दोनों।

शेखर को बी. ए. करने के बाद रेलवे मे नौकरी मिल गई थी।

उर्मिल भी शेखर के साथ इण्टर तक कौलिज में पढ़ी थी। तीन कमरे के उस छोटे से फ्लैट में वह था और उस की प्रिय उर्मिल। शेखर अपने पिता का इकलौता पुत्र था। मां-बाप दोनों पन्दरह दिन के अन्तर में ही शेखर के विवाह के बाद चल बसे थे।

उर्मिल का भी इस संसार में अपना कहने को केवल एक छोटी बहन थी—मधु। एक वर्ष पूर्व उर्मिल ने ही उस का विवाह किया था।

शेखर दफ्तर पहुंचा। देर हो चुकी थी। बड़े बाबू ने झिड़का भी। पर आज शेखर सब कुछ सह गया। दफ्तर में उस का मन आनन्दविभोर होता रहा। दिन भर अपने आने वाले नन्हे मेहमान के लिये कल्पनाएं करता रहा। नए डिजाइन का पालना, आधुनिक ढंग के खिलौने, नए नए कपड़े, सुन्दर सुन्दर गुड़िया। अगर लड़का हुआ तो तीन पहिए की साइकिल।

कभी वह हंसेगा, कभी रोएगा। जिद करेगा, मचलेगा। उर्मिल

काम में लगी होगी। मैं खिलाऊँगा, उसे चुप करूंगा। और ऐसी ही सुखद कल्पनाओं के हिंडोले में झूलते-झूलते सारा दिन बीत गया।

पांच बजे। शेखर घर की ओर चल पड़ा। अपनी ही धुन में मस्त।

उर्मिल बरतन मांज रही थी। उसे काम में व्यस्त देख शेखर को फिर ध्यान आया कि सचमुच उर्मिल को बहुत काम करना पड़ता है।

शेखर ने उर्मिल के समीप जा कर देखा। चेहरा थका-थका सा लगा। पास ही बैठ गया। उर्मिल ने देखा रेत और झूठन सब बिखरी पड़ी है और वहीं शेखर आ बैठा। उर्मिल झुंझला उठी, "दफ्तर में भी चैन पड़ा था या नहीं? देखते नहीं, गन्दगी बिखरी पड़ी है। बैठ गये आ कर!" कहते कहते उर्मिल मुसकरा उठी। लाल लाल होंठों के बीच दांतों की श्वेत मोती सी चमकती पंक्ति दिखाई दे गई।

शेखर ने उर्मिल की ठोड़ी पकड़ अपनी ओर करते हुये पूछा, "दिन में आराम किया था?"

"आखिर मेरे आराम की इतनी चिंता क्यों हो रही है आज? दिन भर तो सोती रही। तभी तो अब बरतनों से सिर फोड़ रही हूं।" उर्मिल के कथन में प्यार भरी झुंझलाहट थी।

"झूठी! किसी पड़ोसिन के कपड़े सिए होंगे दिन भर।"

"ऊँहुं!" प्यार और शरारत भरी नजरों से देखते हुए उर्मिल ने छोटा सा उत्तर दे दिया।

"अच्छा, जरा उठो तो," शेखर ने स्नेह भरे शब्दो में आज्ञा दी।

"क्यों?"

"मैं जो कहता हूं।"

"आखिर बात क्या है?"

"तुम उठो भी। बरतन मैं धो डालता हूं।"

"हाय, राम! यह भी कोई शौक है!" आश्चर्य से उर्मिल की आंखें गोल हो गईं।

शेखर ने उर्मिल की कमर में उंगलियों से गुदगुदी मचानी शुरू कर दी। उर्मिल गुदगुदी से बहुत घबराती थी। वह हंसती, बल खाती एकदम उठ गई।

"शैतान कहीं के!" सारा प्यार सिमट आया इन शब्दों में।

"अब कुछ भी कहो, उर्मिल, तुम हार गईं आज। जाओ, अब आराम करो।" अन्तिम वाक्य में स्नेह भरी आज्ञा थी। और शेखर नल के नीचे बरतन धोने लगा।

उर्मिल की हंसी नहीं रुक रही थी। पर साथ ही आश्चर्य भी हो

रहा था कि यह वही शेखर है जो अपना रूमाल और बनियान भी स्वयं नहीं धोता ! आज बरतन धो रहा है ! कभी घर का सामान भी खुद नहीं खरीद कर लाता, मुझे ही लाना पड़ता है। फिर आज क्या हो गया है इसे ? शेखर को देख देख उर्मिल का हृदय गर्व से भर गया। शेखर के प्रति उर्मिल का प्यार और आदर दोगुना हो उठा।

नारी के उस नन्हे से हृदय-मन्दिर में पति के प्रति श्रद्धा की घंटियां टुनटुना उठीं। होंठ न हिले, पर आंखों के भाव से लगा उर्मिल कह रही है : मेरे देवता, युग युग तक इसी तरह कृपा बनाए रखना। तुम्हारा प्यार ही मेरा संसार है। मुझे तुम्हारा प्यार चाहिए। फिर मैं सारे संसार की यातनाएँ अपनी झोली में भर लूँगी। अगर समय आया तो परवाने की तरह मिट जाऊंगी तुम्हारे लिए। तुम अपना प्रेम दो मुझे, मैं तुम पर सब कुछ निछावर कर दूंगी। फूली फूली फिरूंगी। मेरा अंग अंग मुसकरा कर तुम्हारे प्यार का स्वागत करेगा।

अब तक उर्मिल दूर खड़ी देखती रही। मन ही मन कामना करती रही कि इन सुखद घड़ियों की आयु युगों लम्बी हो जाए।

फिर आह्लाद से भरी, अपना सारा प्यार बटोर शेखर के समीप पहुँची। शेखर की आवारा और घुंघराली लटों को ऊपर उठाती हुई बोली, "देवता, यह दफ्तर के कपड़े तो उतार देते।"

शेखर ने देखा उर्मिल की बड़ी–बड़ी सुन्दर आंखें असीम प्यार से लबालब भरी हैं। ऐसी सुन्दरता उर्मिल के चेहरे पर पहले कभी नही देखी थी शेखर ने। आज उर्मिल की आंखों में उस ने मां की सी ममता और प्यार छिपा देखा।

दिन पंख फैला कर उड़ते चले गए। शेखर अपना काम स्वयं करने लगा। साथ ही उर्मिल की हर काम में मदद भी करता। कभी कभी उर्मिल परेशान हो उठती कि आखिर शेखर में अकस्मात परिवर्तन कैसे हो गया ! शेखर इतनी चिंता क्यों करता है उस की ? वह घड़ी घड़ी शीशा देखती। कुछ नहीं बदला। सब कुछ वही। फिर ? वह शेखर से पूछती, शेखर टाल देता।

कभी उर्मिल घुमाफिरा कर पूछती, "शेखर, तुम मुझे इतना प्यार क्यों करते हो ?"

"मैं स्वयं भी नहीं जानता, उर्मिल, तुम्हें क्या बताऊं !" और बात वहीं समाप्त हो जाती।

उर्मिल शेखर के परिवर्तन का कारण नहीं जान पाई। बहुत सोचा, पर उत्तर न पा सकी।

पहली तारीख थी। शेखर वेतन ले कर सीधे बाजार चला गया। घर लौटा तो हाथ में दो-तीन बंडल थे। उर्मिल नाराज हुई: "अकेले क्यों चले गये बाजार ?"

वही रटारटाया उत्तर मिला: "तुम्हें अधिक परिश्रम नहीं करना चाहिये।"

"मुझे हो क्या गया है जो दिन भर आराम, आराम, आराम !" झुंझलाते हुए उर्मिल ने कहा।

शेखर चुप रहा।

उर्मिल ने बंडल खोला—ऊन थी फालसाई रंग की। बहुत अच्छी लगी उर्मिल को। शेखर की ओर देख मुसकरा दी। दूसरे बंडल में जार्जट की साड़ी थी और एक नन्हा सा ऊनी सूट। उर्मिल को आश्चर्य हुआ। कुतूहल से शेखर की ओर देखा।

"क्यों, साड़ी पसन्द नहीं आई ?"

"साड़ी तो पसन्द है और मुझे खरीदनी भी थी। लेकिन यह नन्हा सा ऊनी सूट किस के लिए ?"

"जैसे तुम्हें कुछ खबर ही नहीं ! बड़ी भोली बनती हो !"

उर्मिल ने सोचा उस की छोटी बहन मधु के होने वाले बच्चे के लिए लाया होगा। वह प्रसन्न होती हुई बोली, "तो आप को भी चिंता है उस की ?"

अब तो शेखर की आंखें खिल उठीं, उस का सारा संशय दूर हो गया।

उस ने झट उर्मिल को समीप खींच लिया। बोला, "मैं ही चिंता न करूंगा तो भला और कौन करेगा, उर्मिल ? हां, यह तो बताओ, कब आ रहे हैं नए मेहमान ?"

"चार महीने बाद," उर्मिल साधारण तौर पर बिना झिझके कह गई।

शेखर का हृदय आज खुशी के बोझ से लदा हुआ था।

बांहों में से छूटती उर्मिल के रक्तिम कपोल पर शेखर ने हल्का सा...।

उर्मिल छूटते-छूटते शेखर के गाल पर धीरे से चपत मार गई। "अभी भी बचपन नहीं गया ! जब देखो तब मस्ती।" और दोनों हंस दिए।

उर्मिल बोली, "अभी मधु आने वाली है।"

मधु आई। तीनों खाना खाने बैठे, उर्मिल ने शेखर के वेतन का हिसाब लगाया। पन्दरह रुपए कम थे। बोली, "क्या हुआ इन पन्दरह का ?"

मधु बीच में ही बोल उठी, "बड़ी वह हो, दीदी ! पन्दरह रुपये खर्च करने की भी इजाजत नहीं ? इतना कमाते किस लिए हैं ?"

"फजूलखर्ची की आदत अच्छी नहीं, मधु ।" और होंठों पर मुसकराहट लिए शेखर की ओर देखती हुई वह बोली, "हां, तो हजरत ने इस बार पन्दरह रुपये की गड़बड़ कर ही दी ।"

"गड़बड़ नहीं की, उर्मिल, तुम्हारे ही काम में लगाये हैं ।"

"सुनूं तो कौन सा काम है वह ?"

"मधु से ही पूछ लो ।"

"मधु क्या जाने ? क्या मधु से सलाह ले कर काम किया है ?"

मधु आश्चर्य से दोनों के मुंह ताक रही थी ।

"क्यों ? मधु भी तो मौसी बनने वाली है ।" शेखर मुसकराते हुए बोला, "इसी के भानजे–भानजी के लिये पालने का आर्डर दिया है । पन्दरह रुपए पेशगी देने पड़े ।"

उर्मिल की समझ में कुछ नहीं आया । मधु समझ गई । शरारत से बोली, "क्यों, दीदी, मुझ से क्यों छिपाया तुम ने ? मैं कोई गैर हूं ?"

"मैं ने तो कुछ नहीं छिपाया, मधु । भला, तुम से क्या छिपाती !" कुछ देर ठहर आश्चर्य से पूछा, "बताओ तो क्या छिपाया ?"

"यही कि जीजाजी पापा बनने वाले हैं और तुम..."

"झूठ !" उर्मिल बीच ही में जोर से बोल उठी । "किस ने कहा ?"

"अभी जीजाजी ही तो कह रहे थे ।" मधु को आश्चर्य हो रहा था कि आखिर माजरा क्या है !

तब उर्मिल के पूछने पर शेखर ने बड़ी स्थिरता से उत्तर दिया, "ये नन्हे नन्हे मोजे और स्वेटर किस के लिये बने हैं ? और उस दिन मेरे पूछने पर तुम ने ही तो कहा था कि चार महीने बाकी हैं ।"

अब तो उर्मिल को हंसी पर काबू पाना मुश्किल हो गया । शेखर और मधु आश्चर्य में डूबे हुये उर्मिल को देख रहे थे ।

थोड़ी देर में अपनी हंसी पर काबू पाती हुई बोली, "मां मैं नहीं, मधु बनने वाली है । यह सब उसी के लिये तैयार कर रही हूं ।"

अब तो उर्मिल की हंसी में मधु ने भी साथ दिया । उर्मिल ने मधु को सब हाल बताया : "यह मुझे जरा भी काम नहीं करने देते थे । हमेशा कहते कि मुझे आराम करना चाहिए । और सब काम अपने आप करते ।"

हंसते हुए मधु बोली, "दीदी, आप को राज नहीं खोलना था । इस बहाने आराम तो मिलता ।" उन दोनों की हंसी के बीच शेखर झेंपा हुआ सा बैठा रहा ।

● ● ●

✯ भीष्मकुमार

भीष्मकुमार उत्साही और अथक अध्यवसाय के धनी हैं। बिजनौर से हाई स्कूल पास करने के बाद मेरठ कालिज से हिन्दी में एम० ए० किया। आप का साहित्यिक जीवन सन् '५३ में एम० ए० के पूर्वार्द्ध से आरंभ हुआ। कालिज से जो अवकाश मिल पाता उसी में कहानी, एकांकी, कविता, स्कैच, आलोचना व लेखादि सभी कुछ थोड़ा-थोड़ा लिखा। एम० ए० के बाद क्लर्क का जीवन भी अपनाया, किंतु उसमें अधिक टिक नहीं सके। दो वर्ष तक इंटरमीडिएट कालिज में त्रस्त, व्यस्त, लेकिन मस्त अध्यापक का जीवन बिताया। समय मिला, तो लिखा—यों महीनों कुछ न लिखा। और अब तृतीय योजना के फलीभूत होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं!

बाल-साहित्य में भी श्री भीष्मकुमार की अनेक कथाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। साहित्य-वाटिका में अनेक पुष्प आप के स्पर्श से खिले हैं। अनेक रचनाएं उच्च कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। स्वभाव से अत्यंत सरल व विनम्र स्वभाव के होने के कारण सरकारी आश्वासनों तक से धोखा खा जाते हैं। हृदय से मिलनसार और उदार भाई भीष्मकुमार मानो स्वयं ही वर्त्तमान समाज-सरिता के रिसते-उमड़ते जल के विरुद्ध बांध के पत्थर की तरह चपेट खा रहे हैं।

प्रस्तुत कथा 'बांध के पत्थर' अंधविश्वासों के विरुद्ध खुली और निर्लेप चुनौती है। इस कहानी की एक विशेषता यह भी है कि यद्यपि इस में प्रतीकों से काम नहीं लिया गया है, फिर भी इस की शैली मानो सीधे-सादे ग्रामीण के कथ्य का प्रतिनिधित्व करती हुई, सीधी बात करती हुई चलती है और एक सफल चित्र उपस्थित करती है—और यों सारी कहानी एक बहुत बड़ा प्रतीक बन गई है। हमारा समाज अंधविश्वासों के कारण कष्ट के सही कारणों की खोज नहीं कर पाता, निदान उस के उपचार भी औंधे ही होते हैं। ओले बरसते हैं तो वह पल्ला पसार कर भगवान से प्रार्थना करता है कि सूखा कर दे। 'भगवान' ओलों से ही उस की झोली भर देता है! और तब शंका होती है कि भगवान है भी या नहीं और अगर है, तो ग़रीबी के इस रिसते-उमड़ते घाव को भरता क्यों नहीं। यह घाव भी कैसे नदिया के उमड़ते पानी की तरह बह रहा है! इस पर बांध कैसे बने? और अंत में कहानी की नायिका और नायक की समझ में तरकीब आ जाती है। इस बांध के छिद्र में पत्थर भर दिए जाएं—और उन पत्थरों के रूप में उन आकारों को भी, जो हमारी जड़ता के प्रतीक हैं।

—निकट हरिहर मंदिर, बिजनौर (उ० प्र०)।

● बांध के पत्थर

"कल मुन्नी के घर वाले पर बिजली गिर पड़ी। बेचारा वहीं जल कर राख हो गया। हड्डियां तक कोयला हो गईं। पता नहीं गरीब मुन्नी का कौन-सा पाप उजागर हो गया कि भरी जवानी में रांड हो गई।"

सड़क पर से गुजरती हुई किसी स्त्री के कंठ से ऊपर की बात सुन कर राधा चौंक उठी। बरखा बेढब हो रही थी। सात दिन हो गये, पानी रुकने का नाम नहीं लेता। न जाने क्या होगा! मकान गिर रहे थे। लोग बेघरबार हुए जा रहे थे। ऐसी बरखा न कभी देखी थी, न सुनी थी। अगर दो दिन और इसी तरह पड़ती रही, तो सारा गांव खत्म...और... और फिर सहसा एक अन्य विचार राधा के छोटे से मस्तिष्क में कौंध गया। उसकी मुखमुद्रा गंभीर हो गई। इतनी बरखा में तो खेत भी बह जायगा और अगर कहीं नदी बफर उठी, तो एक भी पौधा न बचेगा।

वह चौंक कर उठ खड़ी हुई। बोली—"मुझे खेत को देखने के लिये जाना ही होगा। लेकिन बरखा तो रुकने का नाम ही नहीं लेती। मूसलाधार पानी पड़ रहा है। खेत भी एक कोस से कम नहीं। मगर गरमियों में मैंने उसे अपने खून-पसीने से सींचा था। इस तरह तो वह बरबाद हो जायेगा। नहीं, मैं उसे इस तरह नहीं जाने दूंगी। जब मैंने गरमियों में ही अपने हाड़मांस की परवा नहीं की, तो अब ही कौन इस में हीरे-मोती लग गये हैं...! और वह तेजी के साथ घर से बाहर भागी।

"राधा बेटी, कहां जा रही है?" अंधे बाप ने पूछा।

"बापू, खेत देखने..." और उसकी बाकी बात बरखा की रिमझिम में डूब गई।

"अरी पगली, इस बरखा में क्या खेत बच गया होगा? परलो आ गई है। जरा सुन तो, तनिक बरखा रुक जाने दे।...ओह, चली गई मालूम होती है। बड़ी जिद्दी लड़की है। किसी की अपने सामने सुनती ही नहीं।"

रामलाल मन-ही-मन हरि-भजन करने लगा। बारिश में खटिया पर उकड़ूं बैठे-बैठे रामलाल ने ये सात दिन बिता दिये थे। मुंह से राधा-गोबिंद का नाम ले रहा था और मन में दोनों की मूर्त्ति बैठा रखी थी। धीरे-धीरे कन्हैया की बराबर में स्थापित उसके मन के भीतर की राधा की प्रतिमा ने उसकी अपनी राधा का रूप ले लिया। बारह महीने बीत गए थे, जब

उसकी बेटी भरी जवानी में विधवा हो कर उसके घर आ गई थी। पति के मरने पर ससुराल वालों ने भी उसे चैन नहीं लेने दिया। बहुत दिनों से रामलाल भी मोतियाबिंद का रोगी था। इस साल भगवान् ने आंखें भी छीन लीं। राधा ही अकेली प्राण घर में रह गई थी, जो खेत की देखभाल कर सकती थी। कितनी ही बार रामलाल ने कोशिश भी की राधा को फिर से किसी के पल्ले बांध दें, मगर ऐसा करने पर गांव वाले उसका हुक्का-पानी बंद करने पर तुल गये ! अंधे रामलाल ने सबके सामने घुटने टेक दिए। पंच-परमेश्वर यदि राधा को विधवा के रूप में ही देखना चाहते थे, तो इसमें निरीह रामलाल कर ही क्या सकता था ?

चारों ओर पानी-ही-पानी भरा था। रास्ते पानी से भरे होने के कारण दिखाई नहीं पड़ रहे थे। राधा अन्धाधुन्ध खेत की ओर भागी जा रही थी। कई बार बिजली ने कड़क-कड़क कर उसकी दृढ़ता को भंग करना चाहा। उसने घर लौट जाने की सोची। खेत बचना होगा, तो अपने आप बच जायगा। लेकिन एक ही क्षण में उसके मस्तिष्क में दो माह पूर्व का पूरा जीवन घूम गया। उसके पांव आगे बढ़ रहे थे और उसके अन्तर्नेत्र दो माह पूर्व के दृश्य देख रहे थे। जेठ का महीना था। गरमी कड़ाके की पड़ रही थी। सारे किसान खाली हाथ पड़े थे और आंखें फाड़-फाड़ कर अपने अपने खेतों की ओर देख रहे थे। उनमें गरम वायु के प्रचण्ड वेग से बगूले उठते और उनसे जो धूल-भरी गरम हवा चलती, तो गात से लगते ही रोमांच हो आता था। तीन-तीन हाथ के गन्ने गर्मी से झुलस कर रह गये थे। नन्हें-नन्हें पौधों की तो बिसात ही क्या थी ? अषाढ़ की रिमझिम पर ही सारी आशाएं टिकी थीं।

किन्तु अषाढ़ भी सूखा रहा। जानवर प्यास से तड़प रहे थे। तालाब सूख गए थे। डोल कुओं की तली तक जा कर झन्न-से बोल उठते थे। पहले तो इस महीने जानवर जंगल की हरियाली से ही तृप्त हो जाते थे, पर इस साल चारे की कमी पड़ रही। जंगलों में हरियाली का स्थान धूल ने ले लिया था। रोज-रोज आदमी और जानवरों के मरने के समाचार फैलने लगे। अषाढ़ बीत गया था, पर कष्ट नहीं बीता था। मृत्यु अपना मुंह फाड़े गांवों के क्षत-विक्षत कलेवर को निगलने के लिये आगे बढ़ती जा रही थी।

चारों ओर से निराश दुर्बल-हृदय, सीधे-सादे ग्रामवासी गांव के पुरोहित के पास पहुंचे। "पुरोहित जी, देवता से कह कर वरखा कराईये। फसल पट हुई जा रही है। जानवर प्यासे मर रहे हैं। अब तो मनई की जान के भी लाले पड़ गए हैं।"

"शान्त रहो !" पुरोहित ने भौंह चढ़ा कर कहा—"यदि बरखा चाहते हो, तो उसके लिये देवता को प्रसन्न करना होगा। देवता राजी नहीं हैं, इसी लिये बरखा नहीं हुई। मुझे रात ही देवता ने सपने में सब-कुछ बता दिया है। देवता को भेंट दो, वह तुम्हें बरखा देगा।"

गांव के पास बहती हुई नदी के पक्के बांध पर देवता का एक भग्न मंदिर था, जो अब पत्थर-मात्र रह गया था। उन्हीं पत्थरों के ऊपर देवता विराजमान थे—एक छोटी-सी मूर्ति के रूप में। संध्या समय उसी मूर्ति के सामने एक मिमियाते हुए बकरे की गरदन पर गंडासे का भरपूर वार करके पुरोहित जी ने मूर्ति पर उसके रक्त के छींटे दिये और गांव वाले हर्ष से नाच उठे। अब बरखा होगी, देवता जागेगा, घर भर देगा! और फिर देवता जागा, बरखा हुई और उसने घर भर दिये—अनाज से नहीं, पानी से। देवता जरूरत से ज्यादा प्रसन्न हो गया! इतना दिया, इतना दिया कि लोग त्राहि-त्राहि कर उठे।

एकाएक बिजली कड़क उठी और राधा की विचार-तन्द्रा टूट गई। खेत पास ही आ गया था। बांध दिखाई पड़ रहा था। उसने देखा, बांध पर मोहन खड़ा है। वह और भी तेजी से भागी। मोहन उसे देख कर चिल्ला कर बोला "राधा, राधा, जल्दी आ...देख, बांध में और दरार पड़ गई है। पानी रिस रहा है।"

राधा ने देखा, नदी के पानी ने बाढ़ का रूप ले लिया था। रेला-का-रेला उछल कर आता और कगारों को तोड़ कर अपने गर्भ में समा लेता। बहुत-से जानवर और फसलें बही जा रही थीं। किनारे के पेड़ अररा कर टूटे पडते थे। कहीं से जानवरों के रंभाने की आवाज आ रही थी, तो कहीं से लोगों के चिल्लाने की। गांव की फसलों को नदी के असंयम से बचाने के लिये जो पत्थरों का बांध था, उसमें फुट-भर चौड़ी दरार पड़ गई थी।

"अब क्या होगा, मोहन ?" राधा घबरा कर बोली—"यह तो सारे खेतों को चौपट कर देगा !"

"एक काम हो सकता है," मोहन ने कहा, "अगर इस दरार में पत्थर भर दिए जाएं, तो पानी का जोर तो कम हो ही सकता है।"

"पर पत्थर कहां से आएंगे ?"

"क्यों ? इस टूटे हुए मन्दिर के पत्थर जो हैं।"

"हाय, राम !"—राधा सनाका खा गई—"मन्दिर के पत्थर ! गांववाले हमें जीता न छोड़ेंगे। याद नहीं अभी दो महीने पहले उन्होंने इस मंदिर के देवता को बकरे की बलि दी थी ?"

"हुंह !" मोहन ने कहा—"तो देवता ने क्या दिया ? कुएं से निकाल कर खाई में डाल दिया । क्या तू भी इन पत्थरों को देवता समझती है ? हमारे गांव का कुम्हार दिन में ऐसे दस देवता बना सकता है ।"

"नहीं, नहीं, ऐसा हवन किस काम का, जिसे करते हाथ जलें ? गांववाले मार ही डालेंगे । कुछ और तरकीब सोचो ।"

"और कोई तरकीब नहीं है," मोहन ने सिर हिला कर कहा—"ऐसे वक्त भी आते हैं, जब घहराती हुई मुसीबत को रोकने के लिए मनुष्य को अपने सारे विश्वास होम देने पड़ते हैं । देखती नहीं, पानी से पौधों की क्या दशा होती जा रही है ? राधा, पागल न बन, काम में हाथ बंटा । जिन पौधों को तू ने अपनी काया निचोड़ कर सींचा है, उन्हें इस तरह डूबने से बचाने में मेरी मदद कर ।"

राधा ने देखा, दरार से पानी की तेज धार खेत मे जा रही थी । पौधे उखड़े चले जा रहे थे । वे पौधे, जिन में राधा और मोहन ने अपना संयुक्त श्रम लगाया था, रह-रह कर खड़े होने की चेष्टा कर रहे थे और जब हो नहीं पाते थे, तो सहसा ढह कर बाढ़ के पानी के साथ बहने लग जाते थे । राधा को लग रहा था, जैसे उस का सारा सुख, श्रद्धा, विश्वास और आशायें बहे चले जा रहे हैं । उसे याद आया, जिस समय बरखा बुलाने के लिए गांव-वाले निरीह बकरे की गरदन पर गंडासा चला रहे थे, वह अपने खेत में अपने कुएँ के बचेखुचे पानी से खेत को सींचने का प्रयत्न कर रही थी । उसे मालूम भी नहीं था कि कब से मोहन अपनी बैलगाड़ी हांकता वहां आ खड़ा हुआ था और उस ने कहा था—"राधा, इस तरह कब तक सिर मारती रहेगी ? अब इस कुयें में पानी ही कितना रह गया है ?" और राधा ने उत्तर दिया था—"जब तक जान है, तब तक अपने खेत को मरने नहीं दूंगी । तू नहीं गया देवता को भेंट चढ़ाने ?"

मोहन हंस पड़ा । "जो देवता रक्त चाटता है, वह पानी क्या देगा ? अरे, यह सब ढकोसले हैं । हत्या करने से बरखा हुई होती, तो तैमूर लंगड़े के राज्य में सूखा न पड़ता । ला, मैं भी बंटा दूं तेरा हाथ...।"

"नहीं, तू जा, अपना काम कर । यहां तो रोज़ का ही मरना है ।" और जब मोहन बैलों को हांकने के लिए तत्पर हो गया था, तो राधा ने सवाल कर दिया था—"भला रे, यह तैमूर लँगड़ा कौन था ?"

"क्या जाने कम्बख्त कौन था ? मैं ने तो दरजा चार की किताबों में पढ़ा था," मोहन ने उत्तर दिया था—"कहते हैं कि एक लाख आदमियों को मौत के घाट उतार दिया था । अरी, तुझे अकड़ बहुत है ! सारे दिन काम में पिली रहेगी, मगर मोहन का हाथ नहीं लगवाएगी ! क्या तू समझती

है कि मैं फालतू हूं, जो काम में हाथ बंटाने के लिये कह रहा हूं ? अब भी मेरे खेत के कुएं में दो-चार चुल्लू पानी बच रहा होगा। मैं जा कर उसी को पौधों के ऊपर छिड़के देता हूं। देवता के प्रसन्न होने का इन्तजार करते रहे, तो सारा साल पेट पर पट्टी बांधे बीतेगा।"

"तू तो बुरा मान गया !" राधा ने कहा—"मैं क्या मना करती हूं ? जिसे मदद करनी होती है, वह कोई पूछता थोड़े ही है ?"

तब मोहन ने और उसने मिल कर कुएँ को और गहरा खोदा था। यहां तक कि उस में पानी निकल आया था और वे कम-से-कम तीन दिन तक निश्चित हो गए थे। इस के बाद राधा और मोहन ने मिल कर मोहन के खेतों को इसी प्रकार सींचा था। क्या गांववाले भी ऐसा नहीं कर सकते थे ? मगर वे तो देवता के ऊपर रक्त उडेलने में लगे हुए थे। देवता प्रसन्न भी हुआ, तो ऐसा कि उस की प्रसन्नता ही एक भारी समस्या बन गई थी !

"राधा !" मोहन ने पुकारा, "क्या सोच रही है ? देख, दरार और ज्यादा फूटने लगी है। अब भी अगर चुप खड़े रहे, तो दरार बड़ते बढ़ते बांध को ही ले डूबेगी।"

राधा की आंखों में आंसू आ गए। एक ओर गांववालों का डर, तो दूसरी ओर उस के प्यारे पौधे और मोहन के प्रति विश्वास। सहसा उस ने कुछ निश्चय किया और उस की मुखमुद्रा गम्भीर हो गई। उस ने आंखें मींच कर एक पत्थर उठाया और दरार में डाल दिया। मानो अपनी आंखें मींच लेने से सब गाँववालों की आंखें भी बन्द हो जायेंगी।

इतने में ही गांववालों का शोर सुनाई पड़ा। वे नदी की ओर ही आ रहे थे। आगे-आगे पुजारी जी थे। वह शायद देवता की मिन्नत-खुशामद करने के लिए आ रहे थे। राधा सकते में आ खड़ी हो गई कि मोहन चिल्लाया—"राधा, इन लोगों के आने से पहले जितने पत्थर दरार में पड़ जायेंगे, वे काम आयेंगे। अपने काम में लगी रह।"

राधा ने अपने हाथ और भी तेज किए और मोहन तो जैसे मशीन ही बन गया था। गांववाले उन्हें देख कर चिल्लाए। सब से ऊपर पुरोहित की आवाज सुनाई पड़ रही थी—"अरे दुष्टों, अब तुम इस पाप पर भी उतर आए ! जो देवता बरखा लाया, जिस ने गांववालों को हर मुसीबत से बचाया, वही इस तरह नष्ट हो रहा है ! उस का घर उजाड़ा जा रहा है !"

राधा को पत्थर फेंकते रहने का निर्देश कर के मोहन सीधा खड़ा हो गया। उस ने चिल्ला कर कहा—"बड़ी अच्छी बरखा लाया है तेरा देवता

कि सारा गांव डूबा जा रहा है ! अगर उसे मुसीबत से बचाना था, तो मुसीबत लाता ही क्यों है ? उसे आने से पहले रोकता क्यों नहीं ?"

पुरोहित क्रोध से बेहाल हो गया। उस की लाठी थरथराने लगी। बीच में बाढ़ का पानी था, नहीं तो शायद वह दौड़ कर एक लाठी मोहन के सिर पर जमा ही देता। उस ने कहा—"अरे पापियों, तुम दोनों के पाप से ही गांव पर यह मुसीबत आई है। क्या गांववाले तुम्हें जानते नहीं ? अब तो अपने इस पाप को रोक दो, नहीं तो देवता तुम्हें भस्म कर डालेंगे !"

मोहन ने छाती तान कर कहा—"तेरा देवता बड़ा न्यायी है कि दो प्राणियों के पाप का बदला सारे गांव से चुका रहा है ! हम तो चाहते हैं कि इस पानी की झड़ी को रोक कर देवता ऐसी आग पैदा करे, जिस में हम भस्म हो जायें और गांववालों को बरखा से छुटकारा मिले। अगर तेरे देवता में इतना बल है, तो कर दिखाए न अपनी-सी।"

पुरोहित गांववालों की ओर मुड़ा। उस के विश्वास-भाजन वे ही थे। वह उत्तेजित हो कर बोला—"रे मूर्खों, देखते क्या हो ? इन पापियों की बातों को क्या सुन रहे हो ? अगर देवता का मन्दिर नष्ट हो गया, तो समझ लो कि इस बाढ़ को और कोई नहीं रोक सकेगा।"

गांववाले आगे बढ़े। मोहन चिल्लाया—"भाइयों, अपने खेत और खलिहान के साथ जुआ न खेलो। इस बांध में एक फुट चौड़ी दरार है। जब तक यह पत्थरों से भरी नहीं जायगी, कोई गांव को नहीं बचा सकेगा। तुम धरती-माता के किसान हो। धरती को छोड़ कर ऊपर आसमान की ओर न ताको। यह पुरोहित तुम्हें आसमान की ओर ताकने को कहता है, मैं तुम्हें धरती-माता की ओर ताकने को कहता हूं। इस बांध को बनाए रखो, तो तुम लोग बाढ़ से बचे रहोगे। नहीं तो यह पुरोहित और इस का देवता खुद तो डूबेंगे ही, तुम्हें भी ले डूबेंगे। तुम ने इन पौधों को अपने हाथों से लगाया है, अपने रक्त की बूंदों से सींचा है। आज देखो, ये सब पानी के सामने बेबस हुए बहे जा रहे हैं। इनकी ओर देखो। ये अपने नन्हे नन्हे तिनकों को डूबते हुए आदमी के हाथों की तरह तुम्हारी ओर उठा रहे हैं। इन्हें बचाओ। इस दरार में सब मिल कर इस मन्दिर के पत्थरों को भर दो...।"

किसान सब से ज्यादा व्यावहारिक मनुष्य होता है। उन की आंखें अपनी डूबती-उतराती फसलों की ओर गईं कि पुजारी जी चिल्ला उठे—"अरे पापियों, पाप की बातें सुन-सुन कर क्यों नरक का द्वार खोल रहे हो ? अगर मन्दिर के इन पत्थरों को हाथ लगाया, तो इन दो पापियों की तरह तुम भी

रौरव नरक में जा कर गिरोगे।"

मोहन अपने समस्त जोर से चिल्लाया—"भाइयों, जब सारा गांव बाढ़ में बह जायगा, तब भी तुम्हारे लिये रौरव नरक खुल जायगा। इस जन्म के रौरव नरक से अगले जन्म का रौरव नरक अच्छा है। देखो, देखो, राधा के भरे हुए पत्थरों से बाढ़ का पानी कुछ रुकने लगा है। अगर यह दरार पूरी भर गई, तो हम बाढ़ से बच जायेंगे। अगर यह पुरोहित तुम्हें रोकता है, तो इस की मूर्त्ति के साथ इसे भी इस दरार में फेंक दो...!"

हाथ कंगन को आरसी क्या! सचमुच दरार से आते पानी का वेग बहुत कम हो गया था और राधा को सिवा उसमें पत्थर भरने के कुछ और सूझ नहीं थी। सारे गांववाले चित्रलिखित से खड़े थे। किसी मे आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं थी। वे कभी पुजारी का मुंह ताकते, तो कभी मोहन का।

मोहन ने जब यह देखा, तो बोला—"अगर तुम लोग अपनी सन्तान को भी अपने देवता पर वार सकते हो, तो वारो! मैं तुम्हें दिखाता हूं कि किस तरह बाढ़ रुक सकती है...?"

मोहन अपने काम में फिर जुट गया। गांववाले खड़े देखते रहे। पुरोहित उन्हें बार-बार उकसा रहा था! किन्तु व्यवहार में गांववाले कुछ और ही देख रहे थे। उन के सामने दरार भरती जा रही थी और पानी का वेग कम होता जा रहा था। यहाँ तक कि जब पुरोहित ने देखा कि उस का सारा प्रयत्न असफल जा रहा है, तो वह चिल्लाया—"अच्छा, अगर यह छोकरा इस बाढ़ को रोक दे, तो मुझे इस देवता पर बलि चढ़ा देना, और अगर यह न रोक सके, तो इन दोनों पापियों को देवता के आगे बलि चढ़ाना होगा!"

इस से पहले कि गांववाले कुछ बोल सकें, मोहन चिल्लाया—"मंजूर है।"

पुजारी को हर्ष हुआ। दरार बहुत लम्बी-चौड़ी थी। पानी का वेग बहुत तीव्र था। दो प्राणी उसे रोक सकें, यह लगभग असम्भव ही था।

गांववाले तमाशा देख रहे थे। राधा और मोहन तेजी के साथ पत्थरों को दरार में भरते जा रहे थे। अन्त में जितने पत्थर वहां पड़े थे, वे सब समाप्त हो गये, फिर भी नल के पानी की तरह एक इञ्च की धारा दरार में से निकल ही रही थी। राधा और मोहन ने असहाय हो कर इधर-उधर देखा। पुरोहित चिल्लाया—"देखा, ये पापी धारा को नहीं रोक सके। देवता अब भी अपना प्रकोप दिखा रहा है। मैं कहता हूं कि अब वह इन

दोनों नराधमों की बलि से ही प्रसन्न होगा।...अरे, अरे, पापियों! यह क्या करते हो ..!"

सब के देखते-देखते मोहन ने उस अन्तिम पत्थर—देवता की मूर्त्ति को उठाया और बांध की उस ओर उतर गया, जिधर दरार में पत्थर फेंके गए थे। राधा चिल्लाई, "मोहन, यह क्या कर रहा हैं? वहाँ बहुत फिसलन है। काई जमी हुई है। पैर रपट जायगा...हाय, राम!"

मोहन सचमुच रपट गया था, मगर सौभाग्य से वह सीधा दरार में जा कर गिरा। उस ने देवता की मूर्त्ति को कस कर पकड़ रखा था। उस ने एक पत्थर पास से उठाया और उस मूर्त्ति को उस सूराख में कस कर ठोंक दिया, जहां से पानी की पतली धारा बही आ रही थी। फिर ठोकने वाले पत्थर को यथास्थान लगा कर वह अन्य पत्थरों को ठीक करने लगा।

गांववाले इस चमत्कार को देखने के लिये बाढ़ के पानी को लांघ-लांघ कर किनारे पर आ गए थे। दरार में से आता पानी बिल्कुल बन्द हो गया था। मोहन दरार के किनारे पर खड़ा हुआ चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा था—"भाइयों, देखा? देवता ने हमारे बांध की रक्षा की है। देखो, इस तरह के देवता का वह उपयोग नहीं, जो आप करते रहे थे। इस का उपयोग यही है।"

पुजारी ने कहा—"रे मूर्खों, भगवान जब सहायता करता है, तो अपनी पीठ अड़ा देता है। हमारे देवता ने भी स्वयं अपना शरीर लगा कर दरार को बन्द कर दिया है। मोहन तो निमित्त-मात्र है।"

मोहन यह बात सुन कर विस्मित रह गया। अर्थ का अनर्थ होता देख कर उस का माथा चकरा गया। उस ने केवल इतना ही कहा—"भाईयों, तुम सब किसान हो। बीज डालते हो, तो फल पैदा होता है। किसी देवता के कहने मात्र से नहीं हो जाता। अब अपने आप फ़ैसला करो...।"

और गांववालों ने बहुत शीघ्र निर्णय किया। सहसा हरखू पहलवान उन की पंक्ति में से आगे बढ़ा और उस ने पुरोहित जी को अपनी दोनों बाहुओं पर उठा लिया। पुरोहित जी गिड़गिड़ाते ही रह गये, मगर किसानों में जोश उमड़ आया था। उन्हों ने अपनी आंखों से देख लिया था कि जो देवता मोहन के हाथों में आ कर एक बेबस पत्थर-मात्र सिद्ध हुआ, वह भी झूठा है और उस का पुजारी भी।

हरखू ने एक पल तक गांववालों की ओर से संभावित विरोध की प्रतीक्षा की और इस के बाद चिल्लाते हुए पुरोहित जी को बहती हुई नदी की

भेंट कर दिया।

गांववालों ने मोहन को धोतियों की मदद से ऊपर खींचा। ऊपर पहुंचने पर राधा समस्त लोकलज्जा को तिलांजलि दे कर उस से लिपट गई। हरखू पहलवान ने कहा—"राधा और मोहन की साक्षात् जोड़ी है।"

जब अन्धे रामलाल को गांव के चौधरी ने यह समाचार सुनाया कि अब राधा का ब्याह होगा, तो उस बेचारे ने प्रसन्नता के मारे दम छोड़ दिया।

● ● ●

खंड तीन

•

प्रणय कथाएं

✶ राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित'

तृषित जी व्यस्त पत्रकार हैं। आप 'नवभारत' दैनिक, नागपुर, जबलपुर, भोपाल के साहित्य-सँपादक हैं। आप न केवल स्वयं नई पीढ़ी के अलम्बरदारों में हैं, बल्कि उस के प्रति आप का विश्वास अडिग है।

जन्म २५ जनवरी १९२९ को जबलपुर में हुआ और बी० ए०, साहित्यरत्न तक शिक्षा पाई। जब पढ़ते थे तभी लिखते थे। सब से पहली दो कहानियां अ० भा० कहानी-प्रतियोगिताओं में पुरस्कृत हुईं। पहला कहानी-संग्रह 'मकड़ी के जाले' अब दूसरे संस्करण में आया है। आदिवासियों के जीवन पर आधारित आप की अनेकों कहानियां भारत की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी हैं और अब उन का सग्रह 'महुआ आम के जंगल' छप रहा है। आप का एक अन्य कथा-संग्रह 'गगा की लहरें' भी प्रकाश में आ चुका है। 'सूरज किरन की छांव' शीर्षक एक आंचलिक उपन्यास धारावाही रूप से 'राष्ट्र भारती' में आ चुका है और पुस्तकाकार आने वाला है। हिंदी की प्रासारिक गतिविधि में आप का प्रमुख हाथ रहता है।

प्रस्तुत कहानी 'लमसेना' पहलेपहल 'सरिता' में प्रकाशित हुई थी। आदिवासियों के जीवन पर, उसी की पृष्ठभूमि से लिए गए पात्रों की आंतरिक मनोव्यथा को चित्रित करने वाली यह कहानी एक जीती-जागती व सहानुभूति-पूर्ण प्रणय-कथा प्रस्तुत करती है। आदिवासियों में लमसेना रखने की प्रथा है। यही लमसेना प्रस्तुत कथा में खलनायक का काम करता है। कथा के दृश्य प्रायः चित्रपट की भांति आंखों के सामने से गुजरते चले जाते हैं। अंतर यह है कि जहां चित्रपट के कथा-लेखक आदिवासियों के नाम पर प्रत्येक मूर्खतापूर्ण कुरीति को संगत समझते हैं और प्रायः उन की कथाएं दो कबीलों के भेदभाव पर आधारित होती है, वहां 'तृषित' जी ने एक यथार्थ और सबल आधार लिया है और संपूर्ण कथा इस वास्तविक कुरीति पर करारी चोट करती है। यह सामान्य प्रणय-कथाओं से भिन्न प्रणय-कथा है।

प्रचलित प्रणय-कथाओं की भांति इस कथा में नायक और नायिका का न ही मिलन होता, न ही वे कहीं कुएं-झेरे में डूब मरते। वही होता है, जो समाज चाहता है और करता आया है। यही वास्तविकता है, यही यथार्थ है और यही वास्तविक प्रणय का प्रतिफल है। कथा का यह अंत भले ही सुखान्त न हो—किंतु ग़रीबी के प्रति एक तीखी सहानुभूति इस से उद्भूत होती है। कहानी अपने विषय की अनुपम है।

—४०४, मोहन नगर, नागपुर।

● लमसेना

सरसों सी फूली और उजली दुपहरी ढल कर स्याह पड़ गयी थी। मगरू कन्धे पर हल रखे और हाथों में बैलों की डोर थामे गांव के गेंवड़े की ओर बढ़ा आ रहा था। फुलिया हाथ में गुलेल लिए आंगन में खड़ी थी। कभी वह खाली गुलेल चारों ओर हिलाती, तो कभी उसमें पत्थर लगा कर बांसों के झुरमुट में दे मारती। संध्या की हवा जैसे बांसों के झुरमुट में छिपी गीत गा रही थी। फुलिया का पत्थर उसमें वेदना भर देता और सारा झुरमुट एकदम कराह उठता। पर इस कराहट की फुलिया को चिन्ता कहां। वह एक नादान बच्चे की भांति गुलेल और पत्थर के साथ खेल रही थी। अभी उसके दिन ही खेलने के थे। उमर कोई सोलह वर्ष से अधिक नहीं होगी। धुएं की हल्की परत की तरह सांवले, गठे और ठिगने बदन में बच्चों जैसी अल्हड़ता और चपला जैसी चपलता भरी थी। घुटने तक वह धोती पहने थी। सीने पर ओढ़नी का बचा छोटा सा छोर पड़ा था, जिसमें से एक स्तन तो एकदम खुला और दूसरा आधा ढंका था। किन्तु इस खुले और ढके का भेद फुलिया क्या जाने? यह भेदभाव तो किसी शहर की लड़की में ही देखने को मिलता है। गांव की खुली हवा में पली फुलिया तन-मन दोनों से साफ थी।

वह आंगन में खड़ी गुलेल के साथ खेलती रही। पक्षियों के झुंड के झुंड आए, उसके सिर से उड़ कर चले गए, पर उसका खेल खतम नहीं हुआ। उसे यह भी पता नहीं था कि मगरू ने बैलों की डोर छोड़ दी है, और वह कांधे पर हल रखे गेंवड़े के पास पगडंडी पर खड़ा उसे घूर रहा है। मगरू आत्मविस्मृत था। खिरका पहले ही निकल चुका था। चरवाहों की भीड़ भी पीछे से निकल गयी, पर वह खड़ा रहा। अब की बार फुलिया ने फिर गुलेल में पत्थर रख कर बांस के झुरमुट का निशाना लगाया, पर वह मगरू के माथे से जा टकराया। मगरू का तन-मन कांप गया और मुंह से एक हल्की सी चीख निकल गयी।

इस चीख ने फुलिया की मुद्रा भंग कर दी। उसका मुंह खुला और थोड़ी देर खुला ही रहा। अंगों में जाड़े जैसी सिहरन उठी, पर वह अपनी जगह से नहीं हटी। मगरू ने कपाल पर हाथ फेरा और हथेली को जोर से चूम लिया।

"क्यों रे, यहां खड़ा-खड़ा क्या देख रहा है?" फुलिया को इस

चुम्बन से जैसे जलन हुयी।

"वाह री, बुलबुल! सड़क पर बैठ कर आंख दिखाना इसी को कहते हैं। पत्थर मार दिया मेरे माथे पर—कहीं भाग फूट जाते तो?"

"तेरे भाग और क्या फूटते रे, मगरू, वैसे ही फूटे है। दिन-रात पतंगे की तरह मेरे चक्कर काटा करता है। गांव वालों को खबर लग जायगी तो किरकिरी मेरी होगी। तुझे क्या है, लोग कहेंगे...।"

"कि फुलिया मगरू से आंख लड़ा रही है—यही न?" उसके मुंह के शब्द छीन कर मगरू ने पूरे कर दिए—"पर इसमें डर काहे का है? सब जानते हैं कि तेरी-मेरी लगी है।" मगरू ने कंधे से हल नीचे उतार दिया और दो कदम आगे आ कर खड़ा हो गया। "तू मेरे दिल का दर्द क्या जाने, फुलिया! मैंने सुना है कि औरत बड़े नरम दिल की होती है—तू कैसी औरत है, री!"

"देख रे, मगरू, दिल और दर्द का किस्सा किसी और को जा कर सुना। तूने सुनी होगी औरत के नरम दिल वाली बात, पर अब मैं दिखाए देती हूं कि औरत का दिल पत्थर होता है। तू जाता है यहां से या नहीं?" फुलिया ने आगे बढ़ कर जो दांत पीसे तो मगरू दो कदम पीछे हट गया।

"काहे को आंखें तरेरती है, छोकरी? तू खाद पड़े खेत में पके गेहूं की पकी बाल है, फुलिया। न जाने किस दिन कहां से हवा का एक झोंका आए और तुझे उड़ा कर ले जाए। तू तो जानती है, मेरे बाप की बहन की मंझली लड़की तेरे भाई के साथ ब्याही है। तू सीधे-सीधे मुझ से ब्याह करने की हामी भर दे, वरना पंचायत भराऊंगा और दूध लौटाने[1] की बात करूंगा। दो बरस तेरे घर रह कर घास थोड़े ही छीली है। जाने उस कलूटे चैतू में क्या धरा है, जो तू उस पर मरी जाती है!"

अब की बार फुलिया अपने गुस्से को नहीं संभाल सकी। उसने एक बड़ा सा पत्थर उठाया और बोली—"भागता है कि मारूं? हरामखोर, तू कहां का दूध का धुला आ गया है!" फुलिया मनमानी गालियां देती रही।

---

१. भारत के अनेक आदिवासियों में यह प्रथा है कि यदि एक परिवार की लड़की दूसरे परिवार को दी गयी है, तो लड़की देने वाले परिवार को अधिकार है कि वह उस दूसरे परिवार की किसी लड़की से शादी कर ले—मरजी से नहीं तो जबरन ही। इस प्रथा को 'दूध लौटाना कहते हैं।

मगरू दांत पीसता वहां से चला गया--"देखूंगा, आखिर घोटुल[1] छोड़ कर जायगी कहां ?"

आधी रात को फुलिया की नींद खुली। उसने बाहर एक हल्की सी थपथपाहट सुनी, जैसे किसी ने दरवाज़ा खटखटाया हो। उसने उठ कर दरवाज़ा खोला तो चैतू आंगन में खड़ा था। रात अंधेरी थी, आसमान की छाती पर अनगिनत तारे चमक रहे थे और सामने झुरमुट के आसपास चमगादड़ों के झुण्ड के झुण्ड चक्कर काट रहे थे।

"इत्ती रात को ?"--फुलिया ने चैतू का हाथ थामा और उससे लिपट कर खड़ी हो गयी।

"हां, फुलिया, चैन नहीं पड़ा तो चला आया अपनी गोरी से मिलने।"

फुलिया शरमा गयी। बोली--"इत्ती रात को भी कोई बाहर निकलता है ! तू जानता है न, चैतू, कल नाले के पास बाघ पटेल के लड़के को उठा ले गया था।"

"मुझे भी उठा ले जाता तो कित्ता अच्छा रहता, फुलिया !"

फुलिया ने अपनी हथेली चैतू के मुंह पर रख दी--"ऐसा मत कह। तुझे बाघ ले गया तो मेरा क्या होगा ?"

"तू तो मगरू के साथ जायगी।"

"क्या कहा ? मगरू के साथ ? उस कजमुंहे का नाम न ले, चैतू। आज संझा को आया था। बड़ी देर खड़ा-खड़ा मुझे घूरता रहा। कहता था मेरे साथ ब्याह कर ले—दईमारा कहीं का !"

"ठीक तो कहता था, फुलिया। तू उसकी धरोहर जो ठहरी। मेरे यहां भी आया था वह और पंचायत भराने की धमकी देता था। कहता था फुलिया का ख्याल छोड़ दे, नहीं तो... ।"

"नहीं तो क्या ?" फुलिया ने व्यग्रता से पूछा।

"कहता था पंचायत भराएगा और दूध लौटाने की बात तेरे बाप से करेगा। फिर वह तेरे यहां लमसेना भी तो रहा है। कहता था, दो बरस तक छाती मार कर दिन-रात काम किया है और बाद में एक दिन तेरे बाप ने डंडा मार कर उसे निकाल दिया।"

"निकाल न देता तो क्या उसका अचार बना कर रखता ?

---

१. घोटुल--अर्थात् जहां गांव के कुमार युवक और युवतियां रात को विश्राम करते हैं--बस्तर, बिहार और उड़ीसा के गांवों में घोटुल में सोने का आम रिवाज है।

हरामजादा बाजार गया, तो बैलों की जोड़ी बेच आया। मैंने कहा था मेरे लिए एक धोती और कंठी ले आना, तो कुछ लाना-वाना तो दूर रहा, शराब पी कर लौटा और लगा मुझे मारने, जैसे मैं उसकी रखैल होऊं! मेरा खाता था और मुझे ही मारता था। जब अपनी कमाई खिलाएगा तब तो शायद मेरे शरीर के ही टुकड़े-टुकड़े कर डाले!'" फुलिया ने अपनी दाईं मुट्ठी बायें हाथ की हथेली से दबा कर दांत पीसे--"नास हो जाय कलमुंहे का। मैं तो उसकी सूरत भी नहीं देखना चाहती।"

"नहीं, फुलिया, गांव के पंच उसका साथ देंगे। दो साल काम ले कर निकाल देना सहज नहीं है।"

"सहज क्यों नहीं है? देखा नहीं, पटेल ने चार बरस के लमसेना को लोहे की गरम-गरम सलाखों से पिटवा कर निकाल दिया।"

"उसकी बात छोड़, फुलिया। हम गरीब आदमी हैं। पटेल जैसे समरथ होते, तो...।"

"तो क्या तू भी उसकी धमकियों में आ गया? दिल तो गरीब-अमीर का एक सा ही होता है न? भरोसा न हो तो एक दिन मेरे साथ चल--छोटे पटेल का दिल तुझे दिखाऊंगी। वह मुझे बहन जो मानता है।"

"तू भी पागलों जैसी बातें करती है। हम दिल देखने चलेंगे?"

"तुझे भरोसा तो हो किसी तरह।"

"भरोसा क्या करूं? एक दिन कह रहा था कि पंचों ने भी यदि ठीक फैसला नहीं दिया, तो नाले के किनारे मुझे और तेरे बाप को जिन्दा गड़वा देगा।"

फुलिया ने कानों पर हाथ लगा लिए। "ऐसा मत कह, चैतू। तू भी तो पिछले साल शेर से लड़ा था; और हां, कितना भारी सुअर था वह जिसे तू ने अभी-अभी जंगल में पछाड़ दिया! अपनी भुजाओं पर भरोसा रख और यदि तुझे ऐसा ही डर है तो घोटुल का मुंशी कहाँ चला गया? कल हम उस से कह देंगे कि ब्याह करना चाहते हैं। बस, फिर क्या है, हमारा ब्याह हो जायगा।"

"कल मत कहियो, फुलिया। मैं तो अपनी काकी के यहां जाने का बहाना बना कर आज रात घोटुल नहीं गया।"

उस की बात पर फुलिया ने कोई आश्चर्य नहीं दिखाया; बोली—"सो तो मुझे पता था। इसी से मैं भी घोटुल नहीं गई। वहां मगरू जो मिलता—पर मेरा करता क्या?" उस ने भूखी शेरनी की तरह अपने दांत पीसे, जैसे मगरू को सामने पा ले तो कच्चा खा जाय।

"अच्छा, फुलिया, मैं तो अब जाता हूं। भुनसारा होने आया है, सीधे खेत चला जाऊँगा।"

फुलिया ने उसे रोका—"अभी तो अंधेरा है, चैतू।"

"नहीं, फुलिया, नाले में मुंह-हाथ धोने तक उजाला हो जायगा।"

चैतू चला गया और फुलिया लौट कर खटिया पर लेट गई, पर उसे नींद नहीं आई। उसे वह दिन याद आ गया जब वह दादर गांव के मालगुजार का खेत काटने गयी थी।

बरस भर पहले की बात है। मगरू तब उस के यहां लमसेना था। वह उस पर मरा जाता था। शुरू-शुरू में फुलिया ने भी उस की खूब आवभगत की। दोनों में बड़ा प्रेम रहा, पर एक दिन बाजार से लौट कर जब उस ने फुलिया को मारा तो फुलिया का मन फटे दूध जैसा हो गया। अब फुलिया मगरू को देखते ही नाक-भौंह सिकोड़ने लगी। मगरू उसे लगातार मनाता रहा, पर फुलिया न मानी। इस बार खेत काटने वह दादर गांव गई, तो साथ में मगरू को नहीं ले गयी।

गंगासागर बांध गेहूं की पकी बालियों से लदा था। हवा का झोंका जब उस भारी बांध से गुजरता तो समुद्र की तरह सारे खेत में एक लहर-सी उठ जाती और लगता जैसे किसी ने सोने की चादर हिला दी हो। तब फुलिया का कलेजा कसक उठता था। उस की हिरन की तरह खेलती-खाती जिन्दगी जैसे कराह उठती थी। वह खेत की चारों ओर नजर डालती। झुंड के झुंड औरत और मरद उसे दिखाई देते, पर आंखों की प्यास न बुझती।

एक दिन चैत की धूप उस सोने के खेत में अचेत पड़ी सो रही थी और हंसिए की पैनी धार गेहूं के पौधों को जमीन पर सुला रही थी। फुलिया भी एक हाथ से पौधों को थामती और दूसरे हाथ का हंसिया कसाई की तरह उन पौधों पर चला देती। गीतों की धुन से सारा खेत गूंज रहा था। एक गीत खतम होता तो कोई खड़ा हो कर दूसरा शुरू कर देता, इसलिए कि गीत उनकी जिन्दगी है और धूप तथा मेहनत से उन्हें बचाता है। फुलिया के मन में भी उमंग उठी। हंसिया हाथ में ले कर वह खड़ी हो गई। पुरवाई के झोंकों से उसका आंचल डोल उठा। उस के हृदय के तार जैसे किसी ने छेड़ दिए। वह लचक-लचक कर करमा की धुन में गा उठी :

"ओ हो ! हाय रे हाय !
"भोला पथरी के साध,
"लय दे, हीरा रुनझुन बाजै रे।"

गीत को सारे साथियों ने दुहराया। इसी बीच मेंड पर खेत काटते एक युवक पर फुलिया की नजर पड़ी। वह पसीने से लथपथ था और जब सब लोग गीत गा रहे थे तो वह चुपचाप फसल काटने में लगा था। फुलिया के उमंग भरे मन ने यह सहन नहीं किया। उसे लगा, जैसे वह युवक उस के गीत के साथ विद्रोह कर रहा है। उस ने मिट्टी का ढेला उठा कर उस की ओर फेंका और फिर अपनी कमर पर लचक दे कर हवा के साथ झूलती हुई आगे गाने लगी। अब की बार उस किसान युवक का मन भी डांवाडोल हो गया। भर्राई-सी आवाज में उस ने भी उत्तर के स्वर छेड़ दिए :

"पयरी के तोरा साध गोरी,
"हीरा मोर रुनझुन बाजै रे।"

गीत सुन कर फुलिया का तन-मन सूरजमुखी की तरह खिल उठा और इसी खुशी में उसने करमा की कई धुनें छेड़ीं, जिन का उस युवक ने बराबर जवाब दिया। यह रफ्तार चलती ही रहती यदि फुलिया मालिक के लड़के को आते न देखती। उसे आते देख कर वह बैठ गई और फिर तेजी से फसल काटने लगी, पर मन उस का उस बांके युवक ने हर लिया था। बार-बार वह उस पर नजर डालती और वह युवक भी नीची नजरों से उसे घूरता रहा।

फुलिया ने फसल काटने की दिशा बदल दी और उस की ओर बढ़ी। जब वे दोनों काफी पास आ गए, तो फुलिया ने बड़ी चपलता से पूछा—"तुझे तो खूब करमा आवे है रे!"

"क्यों नहीं! तेरी सूरत देख कर कौन न गा उठेगा?"

"सच!" फुलिया खरगोश के बच्चे की तरह उचकी। "मेरी सूरत पसन्द है न?"

उत्तर में मुंह बना कर चैतू ऐसा हंसा कि उस की हँसी फुलिया के कलेजे में तीर की तरह जा चुभी। वह एक हाथ आगे सरक कर बोली—"तेरा नाम?"

"फुलिया—और तेरा?"

"चैतू," वह बोला।

"इसी चैत में हुआ था?"

चैतू ने उस की शरारत भांप ली। "हां, अभी घन्टे भर पहले। कहां रहती है?"

"कोटरवाही—और तू?"

"कोटरवाही! वहीं तो मैं भी रहता हूं। किस की लड़की है?"

"नरसू मेरा बाप है। तू कभी घोटुल नहीं आता ?" फिर फुलिया ने चुटकी ली : "हां, समझी—मिहरिया होगी घर में। मारती है कभी ?"

चैतू ने उस के जूड़े को पकड़ कर घुमा दिया। फुलिया कांख उठी। "देखा नहीं, अभी मिट्टी का ढेला उठा कर मारा था उस चुलबुली मिहरिया ने !"

फुलिया के सांवले गाल शरम के मारे गेहूं जैसे लाल हो गए। शरारत भरी आंखें नीचे झुक गईं। "देख लेगी तो सिर के बाल न बचेंगे। पराई लड़की से आंखें लड़ाता है।"

"देख लेने दे—तेरी बला से," चैतू ने कहा।

फुलिया थोड़ा पास सरकी। "सच बता रे, चैतू, मिहरिया है ?"

"कहा तो—हां, है। अभी मिट्टी का ढेला मार रही थी। शायद वह नहीं जानती कि चैतू भी पत्थर है।"

"चैत का पत्थर किस काम का ? पैर रखो तो जल जाए। उसे तो पानी चाहिये, चैतू।"

"पर पानी देने वाली हो तब न।"

चैतू की इस बात से फुलिया का रास्ता जैसे साफ हो गया। "समझी।" उसे जैसे किसी पहेली का सही हल मिल गया। "पर तू घोटुल क्यों नहीं आता ? लमसेना है कहीं ?"

"मुझ गरीब को कौन लमसेना रखेगा, फुलिया ?" चैतू ने लम्बी सांस ली। "बाप तो छोटे में परलोक सिधार गया, मां अपने रखैल के साथ रहती है। अकेला हूं घर में। सब कामधाम अकेले करना पड़ता है। घोटुल जाने की फुरसत ही नहीं मिलती। पर मुंशी के रजिस्टर में नाम लिखा है मेरा।"

"सच ! तो मैं तुझे फुरसत दूंगी। रोज घोटुल आया कर।"

फुलिया और चैतू का यह प्रथम परिचय क्रमशः खूब बढ़ा और फिर यह हालत हुई कि फुलिया अपने लमसेना मगरू के लिये नागिन बन गई। अपने बाप से उलटीसीधी चुगली खा कर वह दिन में दो-एक बार उसे पिटवा दिया करती, पर मगरू ने फुलिया का पीछा नहीं छोड़ा।

शाम को गले में घुंघची की माला, चांदी के सिक्कों का हार, हाथ में, लाल-पीली चूड़ियां, रंगबिरंगी लाखें तथा चांदी के चूरा और पैर में गिलट की पायल डाले और कौड़ियों के गुच्छों से सजी, हवा में नागिन की तरह झूलती बेनी लटकाए फुलिया घोटुल की ओर इस चाल से चली कि जो उसे देखे एक बार मन पर सांप लोट जाए।

घोटुल में उस का आज आखिरी दिन था। वह अपने मंगेतर को

चुनेगी और फिर कल से घोटुल का प्रवेश-द्वार उस के लिए सदा को बन्द हो जाएगा। पथरी की उस की साध पूरी होगी। यह एक ऐसा दिन होता है जो कुमारी के जीवन का इतिहास बदल देता है, उस की जिन्दगी की गाड़ी में बैल लग जाते हैं, तब उस की चाल बढ़ जाती है।

घोटुल में सखियों ने फुलिया का दिल खोल कर स्वागत किया। छैलछबीले और बनेठने नौजवान लड़कों ने भी फुलिया के हाथ चूमे। घोटुल के मुंशी ने उस को आशीर्वाद दिया और फिर सब लोग आग की धूनी को घेर कर बैठ गए! फुलिया ने देखा चैतू एक कोने में बैठा हंस रहा है। वह खुशी से फूल गई।

मुंशी की मरजी के अनुसार पहले एक–दो करमा की धुनें हुईं और सारी सखियों ने मोटियारी (घोटुल की वह युवती जो वर चुनने के लिए शृंगार कर के आती है) के बालों में लकड़ी की कंघियां खोंसीं। जब यह सब चल रहा था तो मगरू भी वहां आ धमका और धूनी के पास बैठ गया। मगरू को देख कर मोटियारी का कलेजा कांपा, चैतू भी घबराया, पर किसी ने कुछ पता नहीं लगने दिया।

अंत में आशा और उमंग से हाथ में कौड़ियों की माला लिए फुलिया उठ कर खड़ी हो गई। सारे चेलिकों (घोटुल के कुमार सदस्यों) के मन में जैसे काँटा गड़ने लगा। वह सब को तम्बाकू बांटेगी, और जिसे तम्बाकू नहीं देगी वही उस का मंगेतर समझा जायेगा। इसी से सारे चेलिकों की आंखें फुलिया पर गड़ी थीं। मगरू को भरोसा था कि फुलिया उस के साथ चाहे जैसा व्यवहार करे, पर फिदा वह उसी पर है। उसी को वह माला पहनाएगी। उस ने अपने सारे मित्रों को दावत दे रखी थी। जो थोड़ा सा संशय उस के मन में था, उस की दवा भी मगरू कर चुका था। आखिर दो साल फुलिया के साथ उस ने काटे हैं, वह सहज ही उसे कैसे छोड़ देता! उस ने गांव की पंचायत के पंचों से भी बातचीत कर ली थी।

फुलिया ने तम्बाकू बांटना शुरू किया। सब को तम्बाकू बाँटते–बांटते जब वह मगरू को भी देने लगी तो उस की सुप्त हिंसा जाग उठी। क्रोध से वह तमतमा उठा। उस ने फुलिया का हाथ पकड़ कर सारी तम्बाकू छीन कर फेंक दी।

घोटुल में हंगामा मच गया। मुंशी ने फुलिया और मगरू को अलग अलग किया और कहा, "भाई, इस में झगड़े की क्या बात है? वह चैतू को चाहती है तो तू क्यों बीच में आता है?"

मगरू लाल-पीला हो रहा था। "यह नहीं हो सकता, मैं ने पंचायत बुलाई है। फैसला पंचायत करेगी।" बहुत चें-चें, मैं-मैं हुई, पर मगरू

अपने साथ पलटन जो लाया था—फुलिया चैतू को माला न पहना सकी और मुंशी ने पंचफैसला होने तक समारोह स्थगित कर दिया।

गांववालों के लिये पंच परमेश्वर होते हैं। उन का न्याय भला-बुरा चाहे जैसा हो, सभी को सिरमाथे चढ़ाना पड़ता है। इसी लिए फुलिया, चैतू और मगरू आंख लगाए पंचों की ओर देख रहे थे। पंचों ने फुलिया के बयान सुने और फिर मगरू की बारी आई। मगरू ने पहले दूध लौटाने की बात कह कर अपना रोब गालिब किया, पर फुलिया के बाप ने इस हक को स्वीकार नहीं किया। तब मगरू ने लमसेना की बात उठाई। दो साल लमसेना रखने का हरजाना माँगा। फुलिया, उस के बाप नरसू और चैतू सभी ने अपनी सफाई पेश की।

फुलिया का बाप दुबिधा में पड़ा था। उस के सामने विकट उलझन थी। मगरू उस के यहां दो साल लमसेना रहा, पर दो सालों में दोनों के बीच खाई पड़ चुकी थी। मगरू ने उस का बड़ा नुकसान किया था और अपने चरित्र से उस का मन खट्टा कर दिया था। नरसू अपनी इकलौती बेटी की मरजी को भी नजरअंदाज नहीं करना चाहता था। चैतू गरीब परिवार का, सीधासादा, मेहनती नवयुवक था। फुलिया और चैतू प्यार के धागे में बँध चुके थे।

समस्या यहीं खतम नहीं हो जाती। यदि मगरू को उस ने फुलिया नहीं दी तो उसे हरजाना देना पड़ेगा और हरजाना भी पंच न जाने कितना लगायें। उतना पैसा देने की सामर्थ्य उस में होगी? क्या चैतू हरजाना दे सकेगा?

अंत में जिस की आशंका थी हुआ भी वही। पंचफैसला सुनाया गया। पंचों ने राय दी कि फुलिया चैतू से ब्याह कर सकती है, पर फुलिया के बाप को मगरू के लमसेना का हरजाना देना पड़ेगा और दूध लौटाने की या तो कीमत चुकानी पड़ेगी अथवा किसी दूसरी लड़की का ब्याह मगरू से या उस के किसी भाई से करना पड़ेगा।

यह फैसला फुलिया के बाप के लिए बड़ा कड़ा था। फुलिया उस की इकलौती बेटी थी, और कोई लड़की होती तो नरसू वह भी कर देता। पंचों ने लमसेना की कीमत दस रुपये महीने के हिसाब से दो सौ चालीस आंकी थी। दूध न लौटाने की स्थिति में उसे जात वालों को भोज देने और बड़े महादेव की पूजा का विधान बताया था। उस का सिर चक्कर खाने लगा।

फुलिया की आँखें जैसे पथरा गई थीं। वह एकटक चैतू को देख रही थी। वह सोचती पंचों को क्या अधिकार है कि वे उस का प्रेमी छीनें! पर कहने की सामर्थ्य उस में नहीं थी। शायद वह जानती थी कि कहने से

क्या होगा। समाज की अंध-मान्यताओं में सारा गांव जकड़ा है। फिर उस में अकेले विद्रोह करने की शक्ति ही कहां है। सच तो यह है कि विद्रोह की भावना न तो फुलिया के मन में और न चैतू के ही मन में थी। युगों से चले आ रहे बंधनों में जकड़े हुए ये भोलेभाले युवा हृदय भला विद्रोह क्या जानें। वे सिर्फ पंचों को ईश्वर जानते थे और उन की व्यवस्था को ईश्वर का न्याय मानते थे। इस न्याय को पलटने की हिम्मत वे नहीं कर सकते थे।

फुलिया घबरा रही थी—उस का चैतू आज उस से छिन रहा था। बीते जमाने की स्मृतियां उस की आंखों के सामने नाच रही थीं। चैतू सिर नीचा किए चुपचाप बैठा था। वह सोच रहा था क्या करे। इतना रुपया कहां से लाए? घरद्वार होता तो वह उसे भी बेच देता, पर एक टूटी सी झोंपड़ी का मोल पचास रुपये से अधिक क्या होगा। और मगरू? वह विजेता की तरह सीना ताने हंस रहा था। उस की आंखें उस शिकारी की भांति चमक रही थी, जिस के हाथ मनचाहा शिकार लग गया हो। उसे विश्वास था कि पंचफैसले की पूर्ति करना उन के लिए असंभव है।

नरसू ने अपनी हताश दृष्टि चैतू पर डाली, तो चैतू की आंखों में आंसू आ गए। वह वहां से उठ कर चला गया। फुलिया फफक-फफक कर रो पड़ी।

तभी घोटुल के मुंशी ने घोषणा की कि शाम को फुलिया और मगरू का घोटुल से संबन्ध विच्छेद होने की खुशी में एक भारी समारोह होगा।

✯ मनमोहन 'सरल'

सरल जी बस उपनाम से ही 'सरल' हैं, कल्पना में बड़ी ऊँची उड़ान लेते हैं। हास्य हो या व्यंग्य, रहस्य हो या रोमांच, विशुद्ध पत्रमेधा साहित्य हो या सरल काव्य—सभी में आप मुक्त हस्त से लिखते हैं। देखने में हंसमुख, तो भावों में गंभीर। मेरठ कालिज से बी. एससी. किया और वहीं से एम. ए. की उपाधि ली। कहानी, कविता, लेख, नाटक आदि साहित्य की सभी विधाओं में आप को समान गति है। थोड़े से मस्त हैं, तो थोड़े से फिकरमन्द, यद्यपि अभी अविवाहित हैं! जिन बातों को याद रखना नहीं चाहते उन्हें आसानी से भूल जाने में सिद्धहस्त हैं। हमेशा टिपटौप काम पसन्द करते हैं।

२३ वर्षों का सांसारिक अनुभव-प्राप्त सरल जी का व्यक्तित्व बहुत प्यारा व्यक्तित्व है और छोटे भाई के रूप में जल्दी ही आप बड़ों का स्नेह पा लेते हैं। आप की साहित्य-साधना चुपचाप और अविराम गति से चल रही है। हाल ही में आप का एक कथा-संग्रह 'प्यास एक : रूप दो' प्रेस से आउट हुआ है, जिस में आप की श्रेष्ठ कथाएँ संग्रहीत है। पत्र-पत्रिकाओं में प्राय: ही आप की लेखनी के फल चखने को मिलते हैं। आजकल आप गाजियाबाद के महानन्द मिशन कालिज में लेक्चरर के पद पर कार्य कर रहे हैं।

सरल जी की प्रस्तुत कथा 'एक हज़ार वर्ष बाद : प्रयोगशाला में प्रणय' न केवल हास्योत्पादक है, बल्कि सुगठित व कुतूहलपूर्ण भी है। स्पुतनिकों व चन्द्र-राकिटों के इस युग में इस तरह की कल्पना यद्यपि दुरूह नहीं है, किंतु ऐसी कल्पनाएँ उसी कथाकार के मस्तिष्क में उठ सकती हैं, जो आध्यात्मिक अंध-विश्वासों से मुक्त हो और विज्ञान के महत्त्व को न केवल सिद्धांत-रूप में, बल्कि व्यवहार-रूप में भी समझता हो। इस के लिए बी. एससी. कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि विज्ञान की गूढ़ फिलासफी का स्वाध्याय भी आवश्यक है और सरल जी उस ओर से विमुख नहीं रहे हैं। कहानी की दृष्टि से कथा का उतार-चढ़ाव समयानुकूल और अवसरानुकूल हुआ है और चरम-सीमा का ट्रम्प-कार्ड कथाकार ने आस्तीन के नीचे बहुत होशियारी से छिपाए रखा है। वैज्ञानिक आवरण में प्रस्तुत, ब्रह्मदेव जी की कहानी 'गतिरोध' जहां एक तीखा व्यंग्य उभारती है, वहां प्रणय को प्रयोगशाला में रख कर वास्तव में सरल जी ने उन नवयुवक मजनुओं का बहुत भला किया है, जिन के सामने हर खूबसूरत लड़की को देखते ही मौत और जिन्दगी का सवाल पैदा हो जाता है! सरल जी की यह कहानी कम से कम एक हज़ार साल तक मरने वाली नहीं—यह निश्चय है। (पारिजात प्रकाशन, मवाना, से साभार प्राप्त।

—१३ राजपूत क्वार्टर्स, शाहपीर गेट, मेरठ।

● प्रयोगशाला में प्रणय

जब से अणुजित् अजायबघर से लौटा था, परेशान था। दिन खाली था, इसलिए वह अजायबघर चला गया था। वहां तरह-तरह की चीजें देख कर उस का मन बहल गया था। हजारों वर्ष पूर्व की अनेक चीजें देख कर उसे बहुत आश्चर्य हुआ था। तब के मनुष्य और उन के रहन-सहन से सम्बन्धित अनेक बातें जान कर उसे सहसा विश्वास नहीं हुआ था कि मनुष्य कभी इतना अज्ञानी, इतना विवश और निरीह भी हो सकता है। वह मनुष्य जो आज प्रकृति और सृष्टि दोनों का नियन्ता है, कभी अनदेखे और अनजाने, संदिग्ध शक्ति-स्रोतों से पराभूत भी रहा होगा यह वह सोच भी न सकता था।

उस ने वहां बहुत सी ऐसी विचित्र चीजें देखीं जिन की आवश्यकता आज के युग में अनुभव भी न होती थी। पता नहीं, तब के लोग क्यों व्यर्थ ही उन सब में संलिप्त रहते थे। उन में कैलेन्डर और घड़ियां थीं, जो समय और वर्षों का हिसाब रखने के काम आती थीं। भला समय का हिसाब रखने की क्या आवश्यकता थी? कुछ भी बजे, और कोई सा भी सन् हो, किसी को उस से क्या लेना-देना? लेकिन तब लोग मरते भी थे। मर कर बेकार हो जाते थे। फिर न वे सांस ले सकते थे, न बोल पाते थे और न कुछ कर पाते थे। कैसा डरावना समय था तब! मरने से भी भयानक और अनेक बातें थीं: बीमारियां, बुढ़ापा और न जाने क्या क्या नाम होते थे उन के। अणुजित् को याद आया कि इन के बारे में तो उसके एक मित्र ने भी बताया था। वह मित्र डाक्टर था। उस ने यह भी बताया था कि किस तरह मनुष्य ने जाना कि बुढ़ापा भी एक बीमारी है, और उस के भी कीटाणु होते हैं, जो एक विशिष्ट वातावरण, तथा शारीरिक अवयवों की शिथिलता पर बढ़ जाते हैं। फिर इस का इलाज निकाला गया और अब तो मौत पर भी विजय प्राप्त की जा चुकी है।

अजायबघर के एक भाग में लायब्रेरी थी, जिस में पुस्तक नाम की बहुत सी चीजें रखी थीं। उस जमाने में विद्या और ज्ञान के लिये इन की जरूरत पड़ती थी। तब आज की तरह प्रत्येक विद्या के इन्जेक्शन और ऑपरेशन नहीं चले थे। जिन्दगी का आधा भाग पढ़ने में लगाना पड़ता था, स्कूल और कालिज में बंधना पड़ता था, मास्टर और प्रोफेसर नाम के आदमियों का डर बना रहता था, और उस के बाद भी परीक्षा पीछा न

छोड़ती थी। और आज कितनी आसानी है! डाक्टर के पास जाओ, और अपने मस्तिष्क का आपरेशन करा के उस में मनचाही विद्या भरवा लो। न कुछ समय लगे और न कोई परेशानी हो।

तब का मनुष्य कितना मूर्ख था! यह भी नहीं जानता था कि शिक्षा शल्य-क्रिया द्वारा हो सकती है! व्यर्थ में वही सब बात धीरे-धीरे, इतना समय लगा कर क्यों की जाय? मस्तिष्क का विकास तब बहुत लम्बी और कष्टदायक पद्धति से किया जाता था। कानों में से विद्या प्रविष्ट कराई जाती थी। उफ्! कितनी कष्टप्रद प्रणाली थी!—अणुजित् सोचने लगा।

जब अणुजित् ने लायब्रेरी की पुस्तकें देखीं तो उस का मन उन्हें पढ़ने को हुआ। यों तो वह व्यावहारिक अणुशास्त्र में ही शल्यित था, किन्तु उस ने अपने पेट में कुछ अतिरिक्त विद्यायें भी भरवा ली थीं। आसान और साधारण विद्यायें अकसर पेट में भरवा ली जाती थीं। पुराने जमाने की तरह पेट खाना पचाने के काम तो तभी आता, जब मनुष्य को भोजन की आवश्यकता हुआ करती। किन्तु अब भूख पर भी विजय प्राप्त कर ली गई थी। इसलिये पेट का उपयोग भी इस प्रकार किया जाता था। ये अतिरिक्त विधाएं जिस डाक्टर ने भरी थीं वह बेईमान था। उस ने मिलावट का पदार्थ भर दिया था। मिलावट इतिहास जैसे निरर्थक और पुराने विषय की थीं। इसलिए अणुजित् का बहुधा पुरानी बातें जानने का मन कर आता था।

जब उस ने पुस्तकें पल्टीं तो उसे लगा कि वह उनमें से बहुत सी बातें नहीं जानता। उन्हीं किताबों में उसने एक प्रेम-कहानी पढ़ी, तो वह चंचल हो उठा। फिर तो उसने लायब्रेरी की सारी किताबें टटोल डालीं। आधी से अधिक में प्रेम का वर्णन था।

'प्रेम' उसके लिये बिलकुल नया शब्द था। प्रेम क्या होता है, यह तो वह इतना पढ़ने पर जान गया। किन्तु आज के युग में उस का कहीं जिक्र न देख कर उसकी आवश्यकता स्वीकार करने को तैयार न हुआ। प्रायः सभी पुस्तकों में प्रेम का वर्णन कर के उसे श्रेष्ठ बनाया गया था। इसलिये वह सोचने लगा कि अवश्य ही प्रेम करने में बहुत आनन्द आता होगा। उसे भी प्रेम करना चाहिये। आखिर एक बार प्रेम कर के देखा तो जाय कैसा लगता है। उस का मन मचलने लगा।

लेकिन किस तरह? अणुजित् के सामने प्रथम बार प्रश्न-चिह्न उपस्थित हुआ था। प्रत्येक शक्ति और प्रत्येक व्यापार का अधिकारी आज का मानव पुराने जमाने के निरीह मनुष्यों की किसी साधारण बात का ढंग

न जानता हो, यह वह कैसे सह सकता था ?

लेकिन प्रेम करने की प्रक्रिया वह नहीं समझ पाया। यह किसी किताब में भी उसे नहीं लिखा मिला कि प्रेम इस तरह किया जाता है।

आखिर उसने आपरेशन करने वाले डाक्टर से सलाह लेना ही ठीक समझा। डाक्टर भी इसका कोई ठीक उत्तर न दे सका। वह बोला—"प्रेम करने का कोई इन्जेक्शन अब तक तो बना नहीं है। मैं यह नहीं मान सकता कि प्राचीन काल का मनुष्य हमसे अधिक ज्ञानी था, जो उसे प्रेम करने की प्रणाली ज्ञात थी।"

"लेकिन," अणुजित् बोला, "मैंने तो सभी किताबों में प्रेम का जिक्र पढ़ा है। कोरी कल्पना होती तो लोग प्रेम के बारे में इतना अधिक कैसे लिख सकते थे ? नहीं, डाक्टर साहब, यह कुछ न कुछ होता अवश्य है।"

"इसी तरह का वर्णन तो भगवान का भी किया जाता था, लेकिन वह भी तो कुछ नहीं निकला। फिर भी हो सकता है कि प्रेम भी कुछ होता हो।"

"नहीं साहब," अणुजित् बोला, "मैंने पढ़ा है, कि प्रेम की कई तरह की किस्में होती थीं। हृदय पर उसका सीधा प्रभाव पड़ता था। प्रेम से प्रभावित मनुष्य का रक्तचाप बढ़ जाता था। उसकी आंखों से किसी विशेष प्रकार की किरणें निकलने लगती थीं, और उनकी शक्ति एक-पक्षीय हो जाती थी। प्रेम का अंत दो तरह से होता था, या तो उन्माद, पागलपन और उसके बाद मृत्यु अथवा विवाह, पत्नी, और बच्चे।"

"विवाह और बच्चे ? यह दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित किस तरह हो सकते हैं ? विवाह क्या बला होती है मैं नहीं जानता। किन्तु बच्चों के बारे में तो, मि० अणुजित्, तुम भी काफी जानते होगे। बच्चे होने से प्रेम का क्या सम्बन्ध ? बच्चे तो रासायनिक प्रक्रिया के परिणाम हैं। क्या तुम्हें कॉस्मिक स्ट्रीट (ब्रह्मांड-पथ) की विशाल प्रजनन-शाला का स्मरण नहीं है ?"

"क्यों नहीं, डाक्टर साहब ? मैं वहां कई बार जा भी चुका हूं। मैंने बच्चे बनते हुए देखे हैं—किस तरह विभिन्न टैस्ट-ट्यूबों के पदार्थों को एक बड़े जार में डाल कर मांस का लोथड़ा बनाया जाता है, मैंने देखा है। फिर उसमें कई गैसों से रंग दिया जाता है। आणुविक किरणों से स्पंदन पैदा किया जाता है, आदि, आदि। ये सारी प्रक्रियाएं मेरी देखी हुई हैं।"

"अच्छा, मि० अणुजित्, इस समय तो मुझे एक नया आपरेशन करना है। मैं इस विषय पर पूरी खोज करके फिर बताऊंगा। मैंने तुम्हारी सब बातें ध्यान से सुनी हैं और मेरे मन में भी शंका उठी है कि प्रेम कुछ

हो सकता है। इस चर्चा को सुन कर मेरे हृदय में अजीब सा दर्द उठने लगा है। ऐसा दर्द जिसे मानो युगों पहले जबरदस्ती भुला दिया गया हो।"

अणुजित् उठ कर चलने को हुआ तो डाक्टर ने फिर कहा, "हां, तब तक तुम एक काम करना, किस तरह का प्रेम करना चाहते हो, निश्चित कर लेना, और किस से प्रेम करना है यह भी चुन लेना।"

किस से प्रेम किया जाय? अणुजित् के सामने यह समस्या बड़ी विकट थी। उसने इसके लिए एक लड़की का जरूरी होना पढ़ा था। कौन लड़की इसके लिए चुनी जाय, वह सोचने लगा। मानसिक यौन-वैभिन्य समाप्त हो चुका था। अधिकारों की समानता के लिए संघर्ष करती करती स्त्रियां पुरुषों के इतनी बराबर आ गयी थीं कि दोनों में कोई विभेद ही नहीं रह गया था। प्रेम, विवाह, मैथुन आदि की संज्ञाएं विलुप्त हो गयी थीं। बच्चे बनाने के कारखाने थे। स्त्रियों के बच्चे न होने के कारण स्तनों का उपयोग नहीं होता था, इसलिए वे भी संवेदनहीन हो गये थे। शरीर के प्रजनन-अंगों का कोई उपयोग नहीं रह गया था। ये सब व्यवस्थाएं प्रजनन की घिनौनी और पीड़ा देने वाली प्रणालियों के कारण की गयी थीं। समय के बीतने के साथ-साथ ये सब व्यापार इस तरह भूले जा चुके थे कि किसी को इनके भूतकालीन अस्तित्व की कल्पना भी न होती थी।

तभी उसे हीलियमदत्ता की याद आयी। हीलियमदत्ता इजीनियरिंग में शल्यित थी। अणुशास्त्री होने के कारण उस से हीलियमदत्ता को काम पड़ता रहता था। तो हीलियमदत्ता को ही प्रेम के लिए क्यों न चुना जाय? उसने लायब्रेरी की पुस्तकों में प्रेमिका के रूप का वर्णन पढ़ा था। वैसे रूप का तो आज के युग में कोई महत्त्व ही नहीं रह गया, किन्तु फिर भी हीलियमदत्ता का सर्वांग सुन्दर था। वह पुस्तकों में वर्णित नायिकाओं की तरह नाजुक और आकर्षक तो अवश्य थी, किन्तु अन्य सब बातों में पुरुषों जैसी ही थी।

प्रेमिका का निश्चय हो जाने पर अणुजित् के सामने एक ही प्रश्न शेष रह गया था: किस तरह का प्रेम किया जाय? प्रेम के जिन दो सीमान्तों के बारे में उसने पढ़ा था, वह उनमें से कोई भी ठीक नहीं समझ रहा था। मरने का भय तो उसे नहीं था, लेकिन वह पागल होना भी नहीं चाहता था। विवाह पता नहीं क्या होगा? एक नयी बात करना निरापद नहीं था। फिर वह क्या करे? लेकिन प्रेम करना भी तो नयी बात है। फिर एक नयी बात और सही। साहस करके ही तो अनुभव किया जा सकता है।

डाक्टर ने प्रेम को ले कर शोध-कार्य पूरा कर लिया। वह उसकी

गहराई तक पहुँच गया। कॉस्मिक किरणों से भी कहीं अधिक प्रभावशाली प्रेम-किरणों का परिणाम ही प्रेम होता है। इन किरणों का उद्गम हृदय होता है, किन्तु यह शरीर के प्रत्येक अवयव से विभिन्न चेष्टाओं के माध्यम से बाहर निकलती हैं। आँखों का इसमें विशेष योग होता है। ये किरणें जब विपरीत सेक्स के प्राणी पर टकराती हैं तो उसके हृदय में एक खलबली सी मच जाती है। उसका सारा शरीर कांप उठता है। सहसा ही उसको सारी संज्ञा भूल जाती है। यदि किरणों का प्रभाव कुछ अधिक हुआ तो पसीना तक छूट जाता है। कभी-कभी मूर्च्छा भी आ जाती है। इन किरणों का प्रभाव स्थायी होता है, जो प्रभावित हृदय में एक अजीब सा दर्द छोड़ जाता है, जिसका इलाज कठिन है।

लेकिन आज के मनुष्य की शारीरिक रचना प्रेम के अनुरूप नहीं है। वह इस दशा में प्रेम-किरणों का शिकार नहीं हो सकता। डाक्टर ने इस प्रकार के इन्जेक्शन भी तैयार कर लिये, जिनसे मनुष्य की प्रेम-किरणों के प्रभावानुकूल बनाया जा सकता है। साथ ही ऐसे भी जिनके लगाने से प्रेम-किरणों का प्रभाव कभी किसी भी दशा में नहीं पड़ सकता।

डाक्टर की यह विस्तृत रिपोर्ट जब प्रकाशित हुई तो संसार भर में खलबली मच गयी। सभी प्रेम के विषय में अधिकाधिक जानने को उत्सुक होने लगे। लड़कियों ने इसमें विशेष रुचि ली।

एक दिन अणुजित् डाक्टर के पास आया। डाक्टर ने उसके प्रेम का इन्जेक्शन लगा दिया और प्रेम करने के लिए आवश्यक निर्देश दे दिये। उसने यह भी बताया कि प्रेम की शुरुआत एकदम ही नहीं करनी चाहिये। यह उसे कई स्टेजों में करना पड़ेगा। अपने शिकार पर प्रेम-किरणों का का प्रभाव डालने से पहले उसकी शारीरिक तथा आन्तरिक रचना प्रभावानुकूल बनानी पड़ेगी। इसके लिए भी डाक्टर ने आवश्यक प्रसाधन उसे दिये थे।

कुछ दिन बाद ही सहसा अणुजित् डाक्टर के सामने फिर उपस्थित हुआ। उस का चेहरा कुम्हलाया हुआ था और वह बहुत निराश था।

जाते ही डाक्टर से बोला, "डाक्टर साहब, आपके इन्जेक्शन तो बेकार साबित हुए। इनसे तो कुछ नहीं हुआ।"

"क्यों, क्या हुआ ?" डाक्टर ने आश्चर्य से कहा।

"मैं प्रेम करने में सफल ही नहीं हुआ।"

"नहीं, यह नहीं हो सकता। यह तो 'ऐक्स्ट्रा पावरफुल' हैं। जरूर तुम ने कहीं कोई गलती की होगी।"

"नहीं, डाक्टर साहब, मैंने पूरी कोशिश की। आप के बताये प्रत्येक निर्देश का पालन किया, किन्तु उस लड़की की तरफ से कोई उत्तर ही नहीं

मिला। आप के इन्जेक्शन के कारण जो प्रेम-किरणें निकली, वे उस के शरीर में प्रवेश ही न कर सकीं। आश्चर्य तो मुझे तब हुआ जब कि वह 'रिफ्लेक्ट' हो कर लौट आईं।"

"लौट आईं!" डाक्टर ने आश्चर्य से कहा।

"हां।"

"क्या तुम ने प्रेम के लिए किसी लड़की को ही चुना था ?"

"जी, हां।"

"क्या तुम ने उस लड़की के वक्ष पर पहले आणविक स्प्रे कर दिया था ?"

"जी, हां।"

"तुम ने अपनी आंखें उस की आंखों से मिलाई थीं ?"

"हां।"

"तुम्हारा और उस का फासला दो फीट से ज्यादा तो नहीं था ?"

"जी, नहीं। मैं उस से सट कर खड़ा था।"

"तो क्या उस पर कोई भी प्रभाव नहीं मालूम दिया ?"

"पहली बार तो मुझे लगा कि जैसे वह कुछ प्रभावित हुई है। किन्तु दूसरी बार प्रयत्न करने पर पहले का प्रभाव भी नष्ट हो गया और फिर तो मेरी सारी चेष्टायें बेकार होती गईं।"

'नहीं, यह नहीं हो सकता। मेरा प्रयोग कभी असफल नहीं हो सकता। जरूर तुम झूठ बोलते हो।" डाक्टर सहसा बौखला-सा गया और हड़बड़ा कर इस तरह बोलने लगा जैसे उसका सब-कुछ लूट लिया गया हो।

उस की यह दशा देख कर अणुजित् को भी आश्चर्य हुआ। वह सहसा डर-सा गया। किन्तु वह तो सचमुच असफल हुआ था, इसलिए फिर बोला, "नहीं, डाक्टर साहब, यदि आप को विश्वास न हो तो हीलियमदत्ता से पूछ लीजिये, जिस पर मैंने यह सब प्रयोग किया था।"

डाक्टर सिर पर हाथ रखे शान्त बैठा कुछ सोच रहा था। सहसा यह बात सुन कर चौंक कर बोला, "तो क्या तुम हीलियमदत्ता से प्रेम करने गये थे ?"

"हां, क्यों ? क्या वह लड़की नही है ?"

"लड़की तो है, किन्तु वह तो कल मेरे पास आई थी और..."

"और क्या, डाक्टर साहब ?" बात काट कर अणुजित् बोला।

"वह तो मुझ से प्रेम-निरोधक इन्जेक्शन लगवा कर गई है। वह भी ऐक्स्ट्रा पावरफुल है। उस पर किसी भी तरह की प्रेम-किरणों का किसी भी

दशा में कभी असर नहीं हो सकता।"

अणुजित् सुन कर सन्न रह गया। उस की चेतना ही मानो लुप्त होने लगी।

डाक्टर कहता रहा, "वह मेरे पास आ कर बोली थी कि एक युवक मेरे सामने बहुत विचित्र सी हरकतें कर रहा है। वे हरकतें उसे मेरे प्रकाशित वक्तव्य के अनुरूप लगी थीं, तो उसे प्रेम-किरणों का शक हुआ था। लेकिन वह प्रेम के पचड़े में पड़ना नही चाहती थी। उसे विवाह और बच्चों से डर लगता था। इसलिये उस ने मुझ से प्रेम-निरोधक इन्जेक्शन लगवा लिये थे।"

लेकिन यह सब सुनने योग्य चेतना अणुजित् में शेष ही नहीं रह गई थी!

● ● ●

खंड चार

व्यंग्य कथाएं

★ ब्रह्मदेव

अंगरेजी में एक शब्द है 'रीजन' और दूसरा है 'एडवेंचर'। एक के माने हैं तर्क और दूसरे के साहस। मगर अनुवाद में वह बात कहां! भाई ब्रह्मदेव हैं रीजनेबिल एडवेंचरर यानी तर्कशील साहसिक—अब चाहे तर्क और साहस का एक दूसरे से कितना ही आंतरिक विरोध हो! उदाहरण के लिए, एक बार भाई ब्रह्मदेव यदि यह तय कर लें कि अमुक व्यक्ति पर स्नेह रखना चाहिए, तो एक सगे बड़े भाई का काम देते रहेंगे—अब वह छोटा भाई चाहे कितना ही शैतान क्यों न हो! दूसरा उदाहरण यह कि भाईजान अच्छी तरह जानते हैं कि भारत के अध्यात्मवादी पाठक वैज्ञानिक कहानी के नाम पर छींकते हैं। किंतु इन्हें धुन है कि मौलिक वैज्ञानिक कहानी हिंदी के पाठक को पढ़ा कर रहेंगे, और इस ओर इन का प्रयत्न चल रहा है।

दो सौ से ऊपर कहानियां, स्केच, 'व्यंग्य-लेख आदि लिखने के बाद भी, और दूसरों को कहानी लिखना सिखाने की क्षमता रखते हुए भी आप का यह एक एडवेंचर ही है कि अन्य दो-तीन साथियों के साथ मिल कर एक प्रयोगवादी रचना कर डालें। प्रस्तुत कहानी 'गतिरोध' आप के इस तरह के एडवेंचर्स का एक नमूना है। रचना जहां वैज्ञानिक पुट लिये हैं, वहां सहयोगातत्मक प्रयोग भी है।

मुझ से चार वर्ष बड़े भाई ब्रह्मदेव जी की कला मूलतः एक 'इँटेलेक्चुअल' की कला है। बुद्धिवादी लेखक की कला का एक स्वरूप यह होता है कि वह भावनाओं में कम बहता है और जो कुछ लिखता है उस पर उसका एक विशिष्ट बौद्धिक अधिकार रहता है। ऐसे रचनाकार की कला समाज की असंगतियों पर हंसने के साथ साथ उन असंगतियों के पोषकों पर हास्य-मूलक व्यंग्य कसती है. और कस कर छोड़ देती है! कृष्णचंदर के शब्दों में : 'रखा, बांधा, ताना, खींचा, और छोड़ दिया—जाओ, लटके रहो, बेटा!'

प्रस्तुत कहानी 'गतिरोध' आधुनिक युग से भी कहीं आगे की कहानी है, किन्तु वर्तमान आलोचना के क्षेत्र में कट्टर मठाधीशों पर एक तीखा और सार्थक व्यंग्य करती है। आलोचना के क्षेत्र में जो गाली-गुफ्तार आज चल रही है उस से साहसी लेखक को कितना घबराने की जरूरत है और कितना नहीं यह आप शशधर के उदाहरण से ही भलीभांति समझ सकते हैं। रचना पहले 'धर्मयुग' में प्रकाशित हो चुकी है और अब इस संग्रह में विशेष रूप से संकलित की गई है। बस, जरा समझ-समझ कर पढ़िये—ऐसी कोई बात नहीं।

—पोस्ट बाक्स नंबर ६६, देहरादून उ० प्र०।

● गतिरोध

"नहीं, नहीं, मुझे हार्दिक खेद है कि आप की यह रचदा वर्गीकरण के दायरे में नहीं आती। यह निश्चय ही हीन कोटि की रचना है—स्तर से एकदम नीची। मैं इस पर प्रमाणपत्र नहीं दे सकता।" आलोचक के कंठ में दृढ़ता थी।

उस विशाल आलोचना-भवन तथा अद्भुत टेलीवर्गी यन्त्र को देख कर आगन्तुक के मुख पर जो आश्चर्य की रेखायें उभर आई थीं, वे निराशा तथा शोक की छाया में और भी अधिक गहरी हो उठीं। उस ने तनिक पीड़ित स्वर में कहा—"मैं जानता हूं कि आप मेरे साथ हंसी कर रहे हैं, किन्तु शायद आप को यह ज्ञात नहीं कि आप की यह हंसी मेरे किंचित् भी अनुकूल नहीं है। यह मेरा बहुत बड़ा अनिष्ट कर सकती है, महाराज।"

"हंसी!" आलोचक के झुर्रीदार चेहरे पर कुछ नवीन मलवटें पड़ गईं। "नहीं, नहीं, युवक, मैं सर्वथा सत्य कह रहा हूं। विश्वास करो, गम्भीर विषयों में हंसी-ठट्ठा करने का मेरा स्वभाव नहीं है। यह रचना सचमुच ही मेरे कांटे पर पूरी नहीं उतरी है। यह केवल निम्न स्तर की ही नहीं बल्कि टेलीवर्गी यन्त्र में पढ़ने योग्य ही नहीं। देखते नहीं इस जलते हुए लाल बल्ब को?" इतना कह कर आलोचक महोदय और भी गम्भीर हो गए।

आगन्तुक की आवाज जैसे पीड़ा में घुल गई थी। व्यथा के भार को जैसे एक ओर ठेलता हुआ वह बोला—"नहीं, नहीं, ऐसा नहीं कर सकते आप, ऐसा नहीं कर सकते।" फिर थोड़ा सांस ले कर बोला, "भगवन्, शायद आप नहीं जानते कि इस कहानी की पूर्णाहुति में मैंने अपना सर्वस्व होम दिया है। अपने जीवन की सारी अनुभूति, अपने हृदय की समस्त पीड़ा, मानवता की सारी आशा को मैंने अपनी इस रचना में निचोड़ दिया है। आप विश्वास नहीं करेंगे किन्तु अनातोले फ्रांस की नोबल-पुरस्कार-विजेत्री कथा 'थायस' की भांति इस कहानी की भी तीन सौ पाण्डुलिपियां मेरे पास हैं। मैंने अपने जीवन के छः अमूल्य वर्ष लगा दिये हैं इस पर। और आप कहते हैं कि यह आप के कांटे पर खरी नहीं उतरी!"

वृद्ध आलोचक युवक लेखक की इस भावुकतापूर्ण वकालत को निराशा का प्रलाप मान कर मौन बैठे थे। युवक के शान्त होने पर उन्हों ने धीर-गम्भीर वाणी में कहा—"वत्स शशधर, मेरे हृदय में तुम्हारी वेदना के लिए

सहानुभूति है और तुम्हारी साधना के लिए श्रद्धा। मुझे तुम्हारी अपराजित लगन तथा अडिग विश्वास से भी स्नेह है, किन्तु मैं कर कुछ नहीं सकता—विवश हूं। आज जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में मानव की कम चलती है और मशीन की ज्यादा, उसी प्रकार आलोचना-क्षेत्र में भी मुझ से अधिक मेरे यन्त्र की चलती है। कांटे की अस्वीकृति को मैं स्वीकृति में नहीं बदल सकता।"

शशधर ने विनय-विह्वल हो कर कहा —"भगवन्, आप की अखण्ड योग्यता की धाक सम्पूर्ण भूमण्डल में व्याप्त है। आप के प्रमाणपत्र के अभाव में कोई भी प्रकाशक इसे प्रकाशित करने को तैयार नहीं है, और यह भी हो सकता है कि कोई पाठक इसे पढ़ने को भी तैयार न हो। इसी हेतु मैं दो मास पूर्व भी सैकड़ों कोसों की यात्रा कर के आप के चरणों में उपस्थित हुआ था। तब आप ने यही आश्वासन दिला कर यह रख ली थी कि दो माह के अन्दर इस का कुछ न कुछ अवश्य कर देंगे। किन्तु देखता हूं कि इतने विलम्ब के उपरान्त भी इसका कुछ नहीं हो रहा है।"

आलोचक महोदय ने अपनी भूरी भौंहों में किंचित् बल डाल कर कहा—"आप का यह कथन प्रामाणिक है कि मेरे प्रमाणपत्र के बिना यह रचना दीमक का आहार तो भले ही बन सकती है, किन्तु अन्य किसी अर्थ की नहीं रह सकती. क्यों कि आलोचना के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित करने वाला यह टेलीवर्गी यन्त्र विकसित करने में केवल मैं ही सफल हो सका हूं। इसलिए मेरी टिप्पणी के बिना कोई भी रचना प्रकाशन का पूर्ण लाभ नहीं उठा सकती। परन्तु मेरे इस यन्त्र ने मुझे सिरदर्द भी कम नहीं दिया है।" फिर तनिक रुक कर वह बोले, "यह तो आप अपना सौभाग्य ही समझिये कि संयोगवश आप की रचना का नम्बर आ गया। अन्यथा यहां तो रचनाओं की बारी आने में वर्षों लग जाते हैं। खैर, यह तो हुई भिन्न बात। परन्तु मैं आप को एक बार फिर विश्वास दिलाता हूं कि जिस रचना के विषय में मेरा यन्त्र मौन हो जाय, उस का वर्गीकरण सर्वथा असम्भव है। हां, कुछ दान-दणा ले-दे कर जाली प्रमाणपत्र मैं न दे सकूंगा, यह आप गांठ बांध लीजिएगा।" और अपनी बात पर वह स्वयं ही मुसकरा दिए।

"फिर आप ही बताइये, महाराज, अब मैं इस रचना का क्या करूं?" शशधर ने उत्तेजित हो कर उच्च स्वर में पूछा, "क्या आप का आशय यह है कि आप के यन्त्र की चुप्पी एक साधक की सफलता पर फौलाद का फाटक है? क्या आप का आशय यह है कि आप के यन्त्र की चुप्पी किसी के जीवन के विकास पर पुष्ट अर्गला है? क्या आप का आशय यह है कि आप के.. ?"

"अन्दर आ सकता हू ?" किसी ने बीच ही में यन्त्रशाला के द्वार से झांकते हुये पूछा।

आलोचक महोदय, जो दत्तचित्त हो कर अभी तक उस तरुण के जोश की प्रदर्शिनी देख रहे थे, चैतन्य हो कर बोले : "आओ, आओ, विनायक, अन्दर आ जाओ।" और उन्होंने कुर्सी से उठने का सा अभिनय किया।

और विनायक अन्दर आ कर शशधर की बगल में पड़ी एक खाली कुर्सी पर जम गया।

"किस विषय पर वार्त्ता चल रही थी, भगवन् ?" विनायक ने मुसकरा कर पूछा, "शायद वीर-रस का काव्य था कोई ?"

"नहीं, जरा यों ही यह सज्जन आवेश में आ गये थे," आलोचक ने उत्तर दिया।

विनायक ने दांत निपोरते हुए पूछा :

"जानने की धृष्टता कर सकता हूं ?"

"हां, हां, इस में धृष्टता की कौन सी बात है ? मैं तो तुम्हें स्वयं ही बताने वाला था।" फिर शशधर की ओर संकेत करते हुये बोले, "तुम्हारी बगल में जो सज्जन बैठे हैं इनका नाम है शशधर सिन्हा। दो महीने पूर्व अपनी एक कहानी यहां छोड़ गये थे वर्गीकरण के लिए। आज उसी का प्रमाणपत्र लेने आए हैं। अब तुम्हीं कहो, विनायक," आलोचक महोदय ने थोड़ा ताव खा कर कहा, "जब इन की पाण्डुलिपि मेरे कांटे को स्पन्दित नहीं कर पाती तो मैं इस का वर्गीकरण कैसे करूं ?" फिर शशधर की ओर मुड़ते हुए बोले, "यह भारत की सब से विशाल तथा प्रसिद्ध प्रकाशन संस्था 'आकाश प्रकाशन' के व्यवस्थापक हैं।"

विनायक ने शशधर की ओर मुसकरा कर देखा और बोले, "श्रीमान जी, शुक्ल जी का वचन अक्षरशः सत्य है। यहां किसी रचना का वर्गीकरण तभी सम्भव है जब कि कांटे की सूई हिल कर उसकी स्वीकृति की सूचना दे दे। मैं तो स्वयं सैंकड़ों रचनायें इन्हीं के चरणों में डाल गया हूं। मूल्यांकन के पश्चात् वे कैसे हाथों-हाथ बिकीं, यह मुझे ही मालूम है।"

पण्डित उमाशङ्कर शुक्ल के पास इस बीच में बीसों ही फोन आ चुके थे, जिन में विभिन्न लोगों ने अपनी रचनाओं के वर्गीकरण के विषय में पूछताछ की थी तथा जिन के सन्देश टेलीफोन के चोंगे के पास पड़ी हुई एक पेंसिल आप से आप लिखती जा रही थी। इस बार जब चोंगे के शरीर में नीली सी रोशनी जल उठी, तो आलोचक महोदय ने स्वयं ही फोन उठाते हुए कहा, "यह रोशनी इस बात की द्योतक है कि कोई फिल्म जगत् का व्यक्ति मुझ से बात करना चाहता है।"

फोन पर सचमुच ही कोई निर्देशक बोल रहा था, जो शुक्ल जी के यहां पड़ी हुई अपनी कहानी के विषय में पूछताछ कर रहा था। वह उस से निबट चुके तो शशधर ने गिरे स्वर में कहा :

"अच्छा, भगवन्, यदि मेरी कहानी का वर्गीकरण नहीं हो सकता तो कृपा कर के अपने इस अद्भुत यन्त्र का परिचय तो दीजिए, जिस के द्वारा आप यांत्रिक आलोचना का उद्भव करने में सफल हुए।"

"हां, इस में मुझे कोई आपत्ति नहीं है," आलोचक महोदय ने कुर्सी से उठते हुए कहा।

उठते हुए विनायक बोल उठा :

"भगवन्, यद्यपि वर्गीकरण की क्रिया मैं अनेक बार देख चुका हूं, किंतु वह है इतनी मजेदार कि देखते ही बनता है। क्यों न किसी पुस्तक का वर्गीकरण करें ? इन की पूरी उत्सुकता शान्त हो जाएगी।"

"अच्छा, यदि आप दोनों की ही यह इच्छा है तो मैं इसका क्रियात्मक रूप दिखाए देता हूं।"

सामने शेल्फ पर पड़ी स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद की प्रसिद्ध पुस्तक 'कामायनी' को उन्हों ने उठा कर भौतिक तुला पर रख दिया, जिस के साथ ही सूई बड़े जोर से हिल उठी और हरा बल्ब भी जल उठा। साथ ही वह बताते भी गए, "अगर हरा बल्ब न जले, केवल भौतिक तुला हिले, तो इसका अर्थ होता है कि रचना का वर्गीकरण तो हो जाएगा, परन्तु होगी निम्न स्तर की। लाल बल्ब जलने पर रचना निम्न कोटि की होगी और ऐसी जिसे टेली-वर्गी यन्त्र व्यर्थ अथवा बेकार की मानता है और जो वर्गीकरण में कहीं नहीं बैठती; और जो टेलीवर्गी यन्त्र मानता है उसे साहित्यिक संसार मानता है यह तो आप जानते ही हैं।" इसके उपरान्त उस पुस्तक को उठा कर सामने पारदर्शक मेज पर रख दिया गया।

"सामने यह सिलिन्डर है। इस का गर्भ मटके की तरह गोल है। जब कोई रचना कांटे पर सफल उतर आती है तो प्लास्टीनियम का पाऊडर सिलिन्डर में भर दिया जाता है। इस के उपरांत उस मेज पर पांडुलिपि रख कर बिजली के सहारे यह 'बीम' उस पर टिका दी जाती है। इसके द्वारा विशाल से विशाल रचना भी कुछ ही मिनिटों में स्वयं ही पढ़ ली जाती है। यह 'बीम' के ऊपर लगा लाल रंग का बल्ब इस बात का द्योतक है कि रचना पढ़ी जा चुकी या नहीं। इस बीच सिलिन्डर में पड़ा प्लास्टीनियम का पाऊडर उस रचना के प्रकार के अनुसार कोई न कोई आकार धारण कर लेता है तथा यह बटन दबाने पर नीचे ट्रे में आ गिरता है।"

शशधर फटी आंखों से देख रहा था कि यन्त्र में लगी अनेक रंगबिरंगी

बत्तियां जलबुझ रही हैं। सिलोल्यूड की ट्यूबों में भिन्न-भिन्न रंगों की रोशनी की रेखायें तेजी से इधर-उधर दौड़ रही हैं। यन्त्र की चारों ओर फैले चांदी के अनगिनत तार एक-दूसरे से टकरा रहे हैं तथा सारा आलोचना-भवन एक अजीब सी आवाज़ से गूंज रहा है।

फिर और आगे बढ़ते हुए वह बोले, "ये जो लोहे की सी दीवार में आप भिन्न-भिन्न आकारों के सैंकड़ों सूराख देखते हैं, ये वर्गीकरण के मुख्य सांचे हैं। ये सांचे साहित्य के छहों विभागों में विभाजित हैं; वैसे यह नाटक का विभाग है और यह काव्य का। इसी प्रकार अन्य यन्त्रों के भी विभाग हैं। इन्हीं विभागों के फिर उपविभाग हैं—उदाहरण के लिए, काव्य के बाद जांचने के लिए एक बिल्कुल ही स्वतन्त्र उपविभाग है, जिस में अनेक दराज हैं। इसी प्रकार यह कहानी का विभाग है। इस के कई उपविभाग है, जैसे पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, जासूसी, स्टन्ट आदि। इन उपविभागों के और भी लघु उपविभाग हो गये हैं, जैसे सेक्स, प्रेम, सेवा, बलिदान आदि। जो प्लास्टीनियम का आकार सिलिन्डर में से निकलता है उसे यह यन्त्र स्वयं इन में से किसी एक न एक दराज में फिट कर देता है और रचना का वर्गीकरण हो जाता है।"

कोई छः मिनिट के अन्दर ही बीम के ऊपर लगा वह लाल बल्ब जल उठा तथा स्विच ऑफ करते ही बीम ऊपर उठ गई और एक अजीब तरह का आकार सिलिन्डर से निकल कर नीचे ट्रे में गिर पड़ा।

आलोचक महोदय ने एक लम्बा प्लग फिट किया और उसके साथ ही ट्रे में पड़े हुए आकार में जान सी आ गई तथा हवाई जहाज की भांति उड़ कर वह काव्य के विभाग वाले सांचे के ऊपर मंडराने लगा तथा देखते ही देखते एक सांचे में फिट हो गया। उस सांचे के ऊपर बारीक अक्षरों में कुछ लिखा था, जिसे शशधर ने आगे बढ़ कर सरलता से पढ़ ही लिया : 'छायावाद'।

"यह निश्चय ही छायावादी रचना है," आलोचक महोदय ने कुरसी पर बैठते हुये कहा।

"चलते समय शशधर ने आलोचक से पूछा :

"महाराज, इन आकारों का फिर क्या होता है?"

"कुछ नहीं," आलोचक ने हंसते हुए कहा, "यह जो यन्त्र के दूसरी ओर काले रंग का बड़ा सिलिन्डर है, यह मशीन के द्वारा उसी में पहुंचा दिया जाता है। वहां यह फिर पाऊडर में परिवर्तित हो जाता है तथा आवश्यकतानुसार बीच वाली ट्यूब में से हो कर फिर पहले वाले सिलिन्डर में भर जाता है।"

शशधर के जाने के उपरान्त शुक्ल जी काफी समय तक विनायक से बातें करते रहे। अन्त में हंसते हुए बोले :

"यही तो बात है, विनायक, आजकल साहित्य में कुछ ऐसा गतिरोध आ गया है कि कोई भी स्तर की रचना आती ही नहीं। वर्गीकरण के दायरे में आ जाना कोई हंसी–खेल है ?" फिर तनिक गम्भीर हो कर बोले, "लेकिन यह सचमुच चिन्ता का विषय है कि प्रसाद के बाद काव्य की इतिश्री हो गई है और प्रेमचन्द जी के बाद कथा–साहित्य की। कुछ समझ में नहीं आता कि क्या बनेगा हिन्दी साहित्य का !"

●

आलोचक महोदय ने यन्त्रशाला का द्वार खोला तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्हों ने देखा कि यन्त्र चालू है तथा बीच में रखी हुई कोई पाण्डुलिपि पढ़ी जा रही है। पास ही चुपचाप शशधर खड़ा है।

"यह क्या किया आप ने ?" शुक्ल जी ने झांकते हुए पूछा, "यन्त्र क्यों चला दिया मेरी अनुपस्थिति में ?"

शशधर ने हाथ जोड़ कर कहा :

"भगवन्, मैं बहुत जल्दी में था, आप यहां थे नहीं। मैंने टेलीवर्गी का शुल्क पहले ही ऊपर रख दिया है। यह कहना भी सरल नहीं था कि आप कितने समय पश्चात् लौटतें, इसी लिए मुझ से यह धृष्टता हो गई। क्षमा कर दीजिए।"

"आप ने यह पांडुलिपि भौतिक तुला पर तोल ली थी न ?" आलोचक ने उसी घबराहट से पूछा।

"जी, महाराज, तोल ली थी," थूक से शुष्क कंठ को तर करता हुआ वह बोला।

इसी बीच रचना का पठन समाप्त हो गया तथा बीच की चोटी पर लाल बत्ती जल कर समाप्ति की सूचना देने लगी।

आलोचक ने आगे बढ़ कर बटन दबा दिया।

किन्तु यह क्या ?

बटन दबाते ही हाल में इतने जोर का धड़ाका हुआ, जैसे कोई बड़ा भारी बम फूटा हो। उमाशंकर और शशधर दोनों ही अपने प्राण ले कर भागे। कुछ समय उपरांत जब वे डरते–कांपते फिर यन्त्रशाला में घुसे, तो क्या देखते हैं कि सम्पूर्ण यन्त्र टूट-फूट गया है तथा उस के विकृत अंश फर्श पर इधर-उधर

लुढ़के पड़े हैं। उसके टूटे–बिखरे बल्ब किसी ऐश्वर्यशाली नगरी के खंडहरों का चित्र बना रहे थे।

आलोचक महोदय ने अपने यन्त्र की यह दशा देखी तो वह क्रोध से अंधे हो गये, शोक से बावले हो गए; अपने स्वर की अन्तिम ऊँचाई पर चीख कर बोले, "यह तुम ने क्या किया, शशधर ! मेरे जीवन भर के आविष्कार को नष्ट कर डाला तुम ने !" फिर कुछ ठहर कर बोले, "क्या तुम ने सचमुच अपनी रचना कांटे पर तोल ली थी ?"

शशधर अत्यन्त विनीत भाव से बोला :

"भगवन्, मेरा अपराध क्षमा हो। मैं श्रीमान से असत्य बोला था। पांडुलिपि भौतिक तुला पर तोली नही थी।"

"लेकिन तुम ने ऐसी मूर्खता की ही क्यों ?" शुक्ल जी फिर जोर मे गरज उठे।

"महाराज, अपराध क्षमा हो, किन्तु यह मेरी वही रचना थी, जो मैं पिछले वर्ष आप के पास लाया था तथा जिस पर आप ने वर्गीकरण का प्रमाण-पत्र देने से इनकार कर दिया था। वास्तव में मेरी इस कहानी ने विश्व–प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया है। जिस रचना को आप ने हीन-कोटि को बता कर मेरा तिरस्कार किया था वही मेरे लिए सम्मान अर्जित कर लाई।" फिर जरा सांस ले कर वह बोला, "मेरे हृदय में इस बात की बड़ी उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो गई थी कि उस कहानी की टेलीवर्गी यन्त्र से अवश्य परीक्षा कर लूं। अगर इसे सम्पादक, प्रकाशक, पाठक सब ने सराहा है तो अवश्य ही आप के यन्त्र पर यह सही उतरनी चाहिये। पहले तो यह आप की भौतिक तुला पर ही खरी नहीं उतरी थी !"

आलोचक के कुछ न बोलने पर फिर शशधर ने ही कहा :

"भगवन्, इस हतभागी दुर्घटना से कहीं ऐसा निष्कर्ष तो नहीं निकलता कि साहित्य की धारा इतनी आगे बढ़ गई हो कि आलोचना की बालू उस से पीछे छूट जाए। कहीं आज वर्गीकरण प्रणाली, जिसे आप यांत्रिक आलोचना का जामा पहना कर प्रगति के पथ पर चालू रखने का ढोंग रचते हैं, अब केवल भूत काल की वस्तु मात्र तो नहीं रह गई ?"

किन्तु आलोचक मौन था; वह शायद अब भी गतिरोध की ही बात सोच रहा था।

● ● ●

✶ आनंदप्रकाश जैन

इस आदमी के बारे में एक खास बात यह है कि यह 'अल्ट्रा-वायलेट' है—हिंदी में ही समझने की कसम खायें, तो समझ लीजिए कि आवश्यकता से अधिक उष्ण है ! ऐसे आदमियों का दिमाग सदा गरमतर रहता है और ये लोग ऊपर से बहुत व्यावहारिक दिखाई देते हुए भी हर मामले में किसी कदर सनकी होते हैं । एक हस्तरेखा विशेषज्ञ के कथनानुसार यह शख्स जिस से प्रेम करता है उस से इस बीसवीं सदी में भी उस का प्रतिदान चाहता है—और यह जरा खतरनाक मामला है ! इसलिए भावुकता में बह कर इस से स्नेह जता बैठना ठीक नहीं—गले पड़ जाएगा, आदान-प्रदान का सिलसिला बंध जाएगा और आजकल के जमाने में किस के बस का यह खटराग है । तो फिर एक-न-एक दिन खटक ही जाएगी ।

खैर, हाई स्कूल के सार्टिफिकेट में इस आदमी की जन्म-तिथि १५ अगस्त १९२७ ई० हैं और ऐसा मालूम होता है कि इस में जरूर कोई गड़बड़ है, क्यों कि 'दंत-कथाओं' के आधार पर इस का जन्म संवत् १९८३ के चैत्र मास की कोई बदी या सुदी होनी चाहिए । मगर १५ अगस्त का ठप्पा जिस पर लग गया वह क्यों बदले इसे ?—और इस क्रांतिकारी तिथि में उत्पन्न हुए सभी लोग 'अल्ट्रा-वायलेट' होते हैं । यही कारण है कि इस ने ऐतिहासिक कथा-साहित्य में नाम पाया । अब तक चार ऐतिहासिक कथा-संग्रह, दो हास्य-कथा-संग्रह, एक सामाजिक उपन्यास, दो ऐतिहासिक उपन्यास, दस-दस खन्डों के दो वैज्ञानिक उपन्यास, चार-पांच अनुवादित ग्रन्थ और लगभग १२५ प्रौढ़ शिक्षा विषयक पुस्तकें लिख कर छपवा चुका है और तीन ऐतिहासिक उपन्यासों की घोषणा कर चुका है । लिखने में भी यह 'अल्ट्रा-वायलेट' निकला !

प्रस्तुत कहानी 'शहंशाह अकबर की विरासत' का शीर्षक 'ज्ञानोदय-सम्पादक' की भूतपूर्व कुरसी पर आसीन बड़े भाई जगदीश जी की सूझ है । शीर्षक मिल जाने पर जो औघड़ सूझ इस लेखक को आई, उस का नमूना यहां हाजिर है । अब समझ में यह नहीं आता कि इस कहानी को ऐतिहासिक कहा जाए, सामाजिक कहा जाए, हास्य कहा जाए या और कुछ—क्यों कि प्रयोग-वादी तो यह है नहीं; हालांकि जिसे कुछ न कहा जाए उसे इस श्रेणी में रख देने का आम रिवाज है । असल में यह कहानी लेखक के अप्रकाशित कथा-संग्रह 'चौथी डाईमेंशन' का एक नमूना है ।

—१९७ स्वामीपाड़ा, मेरठ ।

● शहंशाह अकबर की विरासत

एक दिन अतीत के एक पुस्तकालय में बैठा था। एक पुस्तक में बुरी तरह उलझा हुआ था। आसपास किसी के होने का भान नहीं था। कुछ देर बाद एक पृष्ठ को पलटते समय चौथी डाईमेन्शन में एक नारी के पास में ही उपस्थित होने का आभास हुआ।

व्यक्तिगत रूप से मैं सार्वजनिक स्थानों में रमणियों की निकटता पसंद नहीं करता। इन को ग़लतफ़हमियों की पुड़िया समझिए। अगर इन में कोई खूबसूरत भी हो, और उस ने बनावसिंगार भी आवश्यकता से अधिक कर रखा हो, तो आप के पास सिवा इस के कोई चारा नहीं कि उस की ओर देखिए। इस दृष्टिनिक्षेप के बाद घटनाओं के तेजी से घटित होने की संभावनाए बढ़ जाती है। उस पर तुर्रा यह कि पहली ही नजर में मुझे कुछ ऐसा लगा कि मैं उसे पहचान सकता हूं या उसे कहीं देखा है।

वह रमणी मनोयोग से एक आधुनिक पुस्तक के पन्ने उलट रही थी। इस से मुझे कुछ ज्यादा देर तक उस की ओर देखने का मौका मिल गया। मगर शायद यही मेरी भूल थी। सहसा ही मैं क्या देखता हूं कि उस अशिष्ट रमणी ने अपनी चिबुक ऊपर को उठाई, मेरी ओर कनखियों से देखा और एक आंख दबा कर मुसकरा दी! यह तथ्य लिखने में मुझे कितनी लज्जा अनुभव हो रही है, क्या बताऊं!

इस कनखुए को ऐतिहासिक दुर्घटनाओं का स्विच समझिए। इस के दबने से बड़े-बड़े शहंशाहों के तख्ते उलट गए। मेरे तो हाथपांव फूल गए। जैसे भरी सभा में किसी ने चोर की दाढ़ी में कंघा मार दिया हो!

शायद मेरी ही ग़लतफ़हमी हो। बेवकूफ की तरह आखें फाड़ कर उस की ओर देखने लगा। मगर जब उस ने फिर वही हरकत दोहराई, तो यक़ीन हो गया कि अतीत के इस पुस्तकालय से सदा के लिए अपना पत्ता गोल है। ऐसे अवसरों पर पुरुष भी रमणियों का पक्ष ले कर अपनी नाइट-हुड सिद्ध करते हैं।

लेकिन लेखक हूं, कोई दिल्लगी नहीं। यह नहीं हो सकता कि जो चाहे फूंक मार कर उड़ा दे। दिल के अंदर मनों रोशनाई का पंपिंग रात-दिन होता रहता है। अहंवादी हूं, प्रति क्षण अहं का प्रसरण करता हूं, और नारी में वैसे ही 'रिलेटिव डेंजिटी' कम होती है।

अपने स्थान से उठ कर मैं उस के निकट वाली कुरसी पर जा बैठा

और विनम्र तथा भद्रोचित वाणी में बोला : "क्षमा कीजिए, यदि आप कष्ट अनुभव न करें, तो क्या मैं आप का शुभ-नाम जानने की धृष्टता कर सकता हूं ?"

इस बार उस ने अपनी चिबुक तनिक भी ऊपर को नहीं उठाई। (बहुत मक्कार थी !) लज्जा का प्रदर्शन करती हुई वह बोली, "जी, मेरा नाम ? मेरा निजी कोई नाम नहीं। मैं तो किसी की विरासत हूं।"

मैंने दांत दिखाने की चेष्टा करते हुए कहा, "ओह ! बड़ी खुशी की बात है। आप बहुत बुद्धिमती है। मगर यों तो हर लड़की अपने बाप की विरासत होती है। आप किन महाशय की विरासत है, जानने की धृष्टता ...?"

"जी, हूं हूं !" वह चपलता से विहंसते हुए बोली, "मैं ? मैं शहंशाहे-आलम, जहांपनाह, जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर की नाचीज विरासत हूं। आप भी तो अपना परिचय दीजिए।"

"ओह ! आप तो बहुत बड़ी हस्ती की विरासत हैं," मैं अचकचा कर बोला। "मैं...यानी कि बज़ात खुद मैं तो एक बहुत छोटा सा...यानी कि लेखक हूं और अकसर गुज़री हुई हस्तियों की छोड़ी हुई विरासतों का लेखाजोखा किया करता हूं।"

"यानी कि आप क्या काम करते हैं ?...कनीज़ कुछ समझी नहीं," उस ने एकदम बड़ी-बड़ी आंखें मेरे चेहरे की ओर कर के पूछा।

"देखिए," मैंने उसे समझाने की ग़लती करते हुए कहा, "आप यों समझिए कि मैं एक दावानवीस हूं और आज के जमाने पर गुज़रे हुए जमाने के दावे लिखा करता हूं। अब ऐसा न कहिए कि आप समझी नहीं।"

मोती से दांतों की लड़ी चमकाते हुए वह हंस पड़ी और उसी मुद्रा में बोली, समझ गई, "समझ गई, यानी कि आप पेशे से मुहर्रिर हैं !"

मैंने कुछ देर तक आंखें मिचमिचा कर उसकी ओर देखा; फिर बोला, "शायद आप ही सच कहती हों। अभी मैंने अपनी रचनाओं का मुरब्बा नहीं डाला। ताजे फलों का पैकार हूं। हमारे यहां इन ताजे फलों के पैकारों में और अचारमुरब्बे वालों में बड़ी कशमकश है।"

इधर-उधर देख कर वह रमणी हौले से बोली, "आप अपने जमाने से बड़े बेज़ार मालूम पड़ते हैं। हमारे यहां आप की समस्याओं का उत्तर एक ही आदमी दे सकता है और वह हैं खुद शहंशाहे-आलम। अगर आप चाहें, तो मैं आप को उन से मिला सकती हूं।"

"ऐं !" मैं चौंका। "आप ? यानी कि आप शहंशाह अकबर से मेरी भेंट करा सकती हैं ?"

"हूं !" भौंहें ऊँचे चढ़ाते हुये वह बोली। "आईए, चलिए।"

वह चपलता के साथ मुड़ी। पीछे-पीछे मैं चल दिया। शहंशाह अकबर से मिलने में एक मसलहत थी। वह भारत के एक स्वर्ण-युग का निर्माता था। इस कागज-युग के लिए उस से बहुत से गुर हाथ लगने की संभावना थी।

समय की परतें आगरा के किले के फाटकों की तरह एक के बाद एक खुलती चली गई। सैंकड़ों दरबान, कनीजें, खोजासरा, नाजबरदार, पहरेदार उन परतों में से निकल कर सामने आ गये। हर एक उस रमणी के मुखमंडल की शोभा को एक क्षण टिक कर निरखता और आदर से गरदन झुका देता।

एक लम्बी और जालीदार बुर्जी में सीधीसादी मसनद पर शहंशाहे–आलम आसीन थे। कोई सजावट नहीं, कोई टीमटाम नहीं। सब कुछ शांत और निस्तब्ध। मसनद की बराबर में थे एक सोने की नक्काशीदार सुराही, एक छोटा सा जाम, जो किसी गहरे लाल रंग के तरल पदार्थ से आधा भरा हुआ था, उसी के साथ एक सोने की डिबिया, जिस में पान की गिलौरियां होंगी, दूर एक बड़ा गंगासागर, तो पास एक मंझला गंगाजमनी डिब्बा, जिस में अवश्य ही शहंशाह अकबर की वे खट्टीमीठी गोलियां होंगी, जिनके बारे में कहा जाता है कि वे दो तरह की होती थीं...यों सब रंगबिरंगी, एक सा स्वाद, एक सी शक्ल, एक से खाने—पर एक तरह की वे, जिन में शहंशाह की खुशियां छिपी रहती थीं; दूसरी वे, जिन में उस की नाराजगी छिपी होती थी। अकबर हर रोज उस के खाने बदल देता था और शायद ही कोई दिन ऐसा बीतता था, जब वह दो चार खुशकिस्मतों या बदकिस्मतों को अपने उस विचित्र डिब्बे से गोलियां पेश न करता हो। किसी के लिए शहंशाह की पेश की हुई गोली कल्पवटी सिद्ध होती थी; उसे कोई बड़ा मंसब मिलता था और खिलअतों से उस का सम्मान होता था—दूसरे के लिए ऐसी ही दूसरी गोली भयानक साबित होती थी; घर पहुंचते न पहुँचते, रास्ते में ही उस के गले में खुश्की पैदा कर देती थी, गले में और पेट में मानो बड़े बड़े कांटे खड़े हो जाते थे। कोई भी उपचार किया जाता मगर व्यर्थ... वे कांटे वक्त की रफ्तार के साथ बड़े और बड़े...और बड़े होते जाते। वह आदमी अपना गला और पेट फाड़ने लगता और तड़प तड़प कर प्राण दे देता। यही विचित्र डिब्बा मेरे सामने रखा था। मगर मुझे उस से डरने की कोई जरूरत नहीं थी।

उस रमणी ने शहंशाह अकबर से मेरी तारीफों के पुल बांधने शुरू किए। शहंशाहे–आलम को मैं जितना ही देखता जाता उतना ही रोब खाता जाता। क्या शख्सियत थी! क्या जलाल पाया था! मैं ने नज़रें नीचे

से ऊपर उठाने की हिम्मत की। घुटनों से ऊपर सिकुड़ा हुआ शाही अंगरखा, गले में शायद दुनिया के सब से बड़े मोतियों की माला, चौड़े नथुने, छोटी नाक, बायें नथुने के नीचे एक छोटा-सा मस्सा, रोबदार मूंछें, चेहरे पर चंगेजी और तैमूरी खून—अकबर अकबर था !

भेंट करने के लिये किसी चीज की तलाश में मैं बदहवास हो कर अपनी जेबें टटोलने लगा। मामूली बात थी। अपने पास क्या धरा था ! मेरी एक जेब में एक दो पन्नों की चिट्ठी पड़ी थी। उस में एक आलपिन लगा हुआ था। अचानक मेरी समस्या हल हो गई। मैं ने वही आलपिन निकाला और दोनों हथेलियों पर रख कर उसे शहंशाहे-आलम की नजर किया।

इस के बजाए कि शहंशाहे आलम बीसवीं सदी के इस नायाब तोहफे को कबूल करने के लिए अपनी जबान-मुबारक से कुछ फरमाते, उन्हों ने नीचे ही नीचे एक नजर उस पिन की तरफ डाली। फिर होंठों पर मुसकराहट ले कर हौले से अपनी आंखें तिरछे तिरछे मेरे मुंह की ओर उठाई...और बाईं आंख दबा दी !

अपने तो मर गए ! यह तो आवे-का-आवा ही बेढब है ! यह आंख दबाने का लफंगा मर्ज एक शहंशाह में ! ला हौल बिला कूवत ! पीछे मुड़ कर मैं ने उस रमणी की तरफ देखा, जो अपने को शहंशाह अकबर की विरासत कहती थी। कम्बख्त शोख खड़ी खड़ी मुसकरा रही थी ! उसी वक्त शहंशाहे-आलम ने फरमाया :

"यह क्या है ?"

"यह आलपिन है, आलमपनाह," मैं ने हथेलियों को और आगे बढ़ाते हुए उत्तर दिया। "बीसवीं सदी का कोई इनसान जहांपनाह को इस से बढ़िया तोहफा नजर नहीं कर सकता।"

"इधर लाओ," शहंशाहे-आलम ने हुक्म दिया।

मेरे हाथ बढ़ाने पर उन्हों ने उस आलपिन को अपने हाथ की मोटी चुटकी से उठा लिया और उसे गौर के साथ देखा। फिर उसे हथेली पर रख कर तौला और पूछने लगे, "क्या किसी बेशकीमत धातु का बना है ?"

"जी नहीं, आलमपनाह," मैंने कहा। "यह आम तौर से लोहे का ही बनाया जाता है। इसे मामूली चीज न समझिए, जहांपनाह। इस छोटी सी चीज के भीतर हमारे जमाने की सारी सभ्यता, सारी तहजीब, सारा अखलाक, सारी नैतिकता छिपी हुई है। जहांपनाह के जमाने और हमारे जमाने के बीच सिर्फ इतना सा फरक हैं, शहंशाहे-आलम, कि हमारे जमाने में यह आलपिन है और जहांपनाह के जमाने में नहीं है।"

"हूं ! एक खफ़ीफ़ सा भाला है," शहंशाहे–आलम ने फ़रमाया। "इस से आदमी मर सकता है ?"

"जी, आलमपनाह, रूह समेत," मैं ने अर्ज किया।

"हूं," कह कर शहंशाह ने अपने पास से बड़ा गंगाजमनी डिब्बा उठाया और उस का ढकना खोल कर बोले, "लो, चूसो।"

मेरा दम खुश्क हो गया; कहा, "आलमपनाह की इनायत है। बंदा इसे चूसे बिना ही खुश–व–खुर्रम है।"

"डरते हो ?" उन्हों ने पूछा।

"डर से ही दूरंदेशी पैदा हुई है, जहांपनाह।"

शहंशाहे–आलम ने डिब्बा बन्द कर के रख दिया और फिर उस आलपिन की तरफ ध्यान दिया। "अज़ीज़मन," वह बोले, "इस चीज से तुम लोग क्या क्या काम लेते हो ?"

"जहांपनाह. इस पिन से हम बहुत सी चीजों को जोड़ कर एक जगह रख देने का काम लेते हैं। बिखरी हुई चीजों का केन्द्रीकरण कर देना ही इस पिन का काम है।"

शहंशाहे–आलम ने फिर एक बार हैरत से उस पिन को चुटकी में घुमा कर देखा और पूछा, "इस से क्या जुड़ती हैं—चीजें ?"

"जी हां, चीजें या चीजों की योजनायें—एक ही बात है। योजनायें कागज पर होती हैं और इस से कागजों को अस्थायी, स्थायी, जिस रूप में चाहें नत्थी कर सकते हैं। आप के यहां इस काम के लिये सूई–धागा काम में आता है, जिस से या तो आपसी सम्बन्ध स्थायी रूप से जुड़ जाते हैं या जुड़ते-जुड़ते आलस्य के कारण रह जाते हैं। वे धागे की तरह कच्चे भी होते हैं—किसी दिन धागा जर्जर हो गया, तो सम्बन्ध टूट भी जाता है और टूटा ही पड़ा रहता है। हमारे आलपिन–युग की विशेषता यह है कि क्षण भर में सम्बन्ध लोहे के तार से जुड़ गया और क्षण भर में ऐसा टूट गया, जैसे था ही नहीं। आलपिन की बदौलत योजनाओं के बनने-बिगड़ने में बड़ी सहूलियत हो गई है...और ये बातें सभी क्षेत्रों में लागू होती हैं, मसलन् उद्योग–धन्धे, धर्म-ईमान, सेक्स–सौन्दर्य, राजनीति–विज्ञान, और जीवन–मरण...जहांपनाह, एक लम्बा सिलसिला है, जिस में यह आलपिन काम देता है।"

"हमारे जमाने में आलपिन नहीं है, तो क्या हमारी सारी हकूमत तितरबितर है ?" शहंशाहे–आलम ने मानो मुझे धमकाते हुए पूछा।

ओह ! शहंशाह अकबर को मैं ये बारीक बातें किस तरह समझाऊँ ? फिर भी मैं ने कोशिश की, "देखिए, जहापनाह, आप के जमाने से हमारा जमाना, यानी कि, साढ़े तीन सौ साल आगे बढ़ गया है...।"

"तो इस से क्या हुआ ?" शहंशाहे–आलम ने फरमाया ।

"इस से यह हुआ, जहांपनाह, कि हमारे जमाने में बहुत सी बातें ऐसी पैदा हो गई हैं, जो जहांपनाह के जमाने में नहीं हैं, जैसे कि बीसवीं सदी में मीना बाजार नहीं लगते, जहांपनाह ।"

"वे तो लगेंगे ही नहीं—माबदौलत ने उन्हें खुद ही बन्द करा दिया था," शहशाहे-आलम ने कहा ।

"आप के जमाने में दरबारी जबान फारसी थी, जहांपनाह, जब कि हमारे यहां सिद्धांत-रूप में राजभाषा हिन्दी हो गई है और व्यवहार-रूप में अंगरेजी चल रही है...।"

शहंशाह ने मुझे वहीं टोक दिया, "यह क्या बदतमीज़ी है ! सिद्धांत-रूप, व्यवहार-रूप, ये क्या चीज़ें हैं ?

"ये बीसवीं सदी के ज्ञान की टांगें हैं, जहांपनाह । हमारे जमाने की राजनीति के ये जुड़वां बाप हैं, आलमपनाह । पहले राजनीति सिद्धांत-रूप में आगे खिसकती है, फिर व्यवहार–रूप में चलने की कोशिश करती है, और तब तक सिद्धांत-रूप और आगे खिसक जाता है । आप के जमाने में यह बात नहीं है...।"

"नौजवान," शहंशाहे–आलम ने फरमाया, "हमारे जमाने के अखलाक (नैतिकता) के बारे में तुम्हें बहुत मुग़ालता है ।"

"जी, आलमपनाह," मैं ने अर्ज किया, "इस की ऐन गुंजाईश है ।"

"हम ने बहुत संजीदगी से यह महसूस किया है कि तुम लोगों को हकूमत करनी नहीं आती क्यों कि तुम लोग हमारी विरासत की कतई कद्र नहीं करते ।"

"जहांपनाह, अगर नाचीज़ को जवाब में कोई नाखुशगवार बात अर्ज़ करने की माफी अता फ़रमाई जावे, तो बंदा कुछ अर्ज़ करे ।"

"कहो, तुम्हें एक खून माफ़ ।"

"जी, जहाँपनाह, अर्ज यह है कि नाचीज़ किसी कदर घबरा गया है. क्यों कि नाचीज़ को कतई यह उम्मीद नहीं थी कि हमारे ज़माने के हर खास-व-आम में जो एक मर्ज़ बुरी तरह पेवस्त मिलता है वह शहंशाहे–आलम की विरासत का ज़हूर (प्रकाश) है ।"

"क्या ?" जहांपनाह गोली चूसते हुए बोले ।

"जी, यही आंख दबा कर बात करना ।"

इस पर शहंशाह अकबर ने एक जोरदार ठहाका लगाया । इतने जबरदस्त फेफड़ों का मालिक—खुदा की पनाह ! थोड़ा थम कर वह बोले, "नौजवान, तू इस चीज़ को नहीं समझ सकता । यह हकूमत करने का एक

लासानी फ़न है।"

"जी!" मैं आश्चर्य से आंखें फाड़ कर बोला, "यह फ़न है, जहांपनाह ?"

"एक लासानी और लाजवाब फ़न," शहंशाह अकबर ने फरमाया। "क्या तुम फ़न यानी कला की कोई ऐसी तशरीह यानी व्याख्या कर सकते हो, जो तुम्हारे जमाने के लिहाज़ से लाजवाब हो ?"

"जी, आर्ट इज़ इन द कन्सीलमेंट ऑव आर्ट, जहांपनाह।"

"बकवास मत करो!" शहंशाहे आलम गुर्रा कर बोले, "माअदौलत की विरासत जो ज़बान बोलती है वही बोलो।"

"जो हुक्म जहांपनाह। नाचीज़ का मतलब था कि फ़न वही है, जिस में फ़न पोशीदा हो, कला मालूम न हो, बनावट महसूस न हो।"

"तुम भी यही समझती हो?" शहंशाह ने अपनी विरासत की तरफ मुख़ातिब हो कर पूछा।

"जहांपनाह, यह हज़रत मुहर्रिर ज़रा कच्चे हैं। जो आप ज़ाहिर करना चाहें उसे छिपाने में ही कला है, जहांपनाह।"

"खूब!" शहंशाह अकबर खुश हो कर बोले। फिर मेरी तरफ़ रुख किया। "समझे, नौजवान? वक्त के हाकिम को अपने फ़न का माहिर होना चाहिए। वह क्या कह रहा है, क्या कर रहा है, क्या होने में मदद दे रहा है, यह सब अगर ज़ाहिर करने की कोशिश में ज़ाहिर हो जाए, तो उस के ज़माने का सारा अख़्लाक़ उलटपुलट हो जाएगा। लोग उसके आदर्शों का मखौल उड़ायेंगे और सारा आदर्शवाद एक मज़ाहिया चीज़ बन कर रह जाएगा।"

"मगर यह कैसे हो सकता है, जहांपनाह!" मैं ने कहा, "हमारी बीसवीं सदी में तो शासक के इरादों को समझने के लिए लोग खार खाए बैठे रहते हैं। शासक के मुकाबले में एकजुट हो कर वे लोग अपना एक मज़बूत विरोधी-दल बना लेते हैं, जिसे संविधान और कानून की मान्यता प्राप्त रहती है।"

"हम ने यही फ़रमाया था," शहंशाहे–आलम ने कहा, "तुम लोगों के हाकिमों को आंख दबाने की कला नहीं आती। विरोधी को अपने विश्वास में लेने के लिये यह फ़न बहुत कारगर है। खैर, हमारी सलाह है कि तुम लोगों को अपना अखलाक ऊँचा उठाना चाहिए और इस के लिए अपने यहां खोजासरा रखने चाहियें।"

मैं मानो आसमान से गिरा। आंखें फाड़ कर बोला, "यह आप क्या फरमा रहे हैं, यौर मैजेस्टी! इन लोगों को तो 'हा, हां, रे लला— जियो, जियो, रे लउा' के सिवा कुछ आता ही नहीं। रातदिन हथेलियां

पटखाया करेंगे !"

"तुम बेवकूफ हो !" शहंशाह-आलम नवीन अनुसंधान प्रस्तुत करते हुए बोले, "मुल्क की भलाई के लिये यह बहुत जरूरी है कि मर्द को यह गुमान रहे कि वह मर्द है और औरत को यह घमन्ड रहे कि वह औरत है। जिस निजाम (राज्य-व्यवस्था) में ऐसा नहीं होता उस का खुदा ही मालिक है। दोनों को सही सही गुमान रहे इस के लिए यह बहुत जरूरी है कि बीच में खोजासराओं की एक जमात रहे। क्या समझे ?"

"शहंशाहे-आलम की बात नाचीज समझ सके यह गुस्ताखी होगी, जहांपनाह," मैं ने कहा और अपनी अज्ञानता प्रदर्शित करते हुए जल्दी जल्दी पलकें झपकाने लगा। मैं जानता था कि शहशाह अकबर निरे निरक्षर भट्टाचार्य हैं और इन भट्टाचार्यों की यह एक विशेषता होती है कि जब कोई इन की बात को नहीं समझता, तो इन्हें बड़ी खुशी होती है। उन्हों ने भी प्रसन्न हो कर कहा :

"हम समझाएंगे। देखो, शासकों के इर्दगिर्द कुछ ऐसे लोगों का रहना निहायत जरूरी है, जो न शासक हों, न शासित। अगर ये लोग नहीं होंगे, तो हाकिम रात-दिन परेशान रहेगा और रिआया बगावत की तरफ रुजू हो जाएगी..." और यह कहते हुए शहंशाहे-आलम ने फिर अपनी बाईं आंख दबा दी।

मैं यह दावा करता हूं कि मैं शहंशाह अकबर की इस कनखवी को समझ गया। मैं ने कहा, "जहांपनाह, हमारे यहां शासक और शासित के बीच में नौकरशाही का एक अलग सजबूत पाया है। हमें खोजासराओं की ज़रूरत फिलहाल नहीं है।"

शहशाह लोग पिटे हुए मोहरे की तरफ ध्यान नहीं देते। फौरन उन्हों ने कहा, "अच्छा, तुम्हारे यहां नौरतन प्रणाली नहीं है।"

मैं ने गुद्दी खुजाई और बोला, "मिनिस्ट्री प्रणाली और नौरतन प्रणाली में भेद ही क्या है, आलमपनाह ? आप के यहां अब्बुलफजल थे, हमारे यहां अब्बुलकलाम थे; आप के यहां फैजी थे, हमारे यहां डाक्टर राधाकृष्णन हैं। मौलाना अब्बुलकलाम आजाद ने हमारे यहां तालीम के दायरे में जो ढलवां पर धान बोए थे वह कमाल आप के अब्बुलफजल साहब नहीं कर सकते थे और डाक्टर राधाकृष्णन ने राजनीतिक अध्यात्मवाद का जो पिटारा खोला है वह आप के दीने-इलाही से कहीं ज्यादा बढ़िया है।"

शहंशाह सलामत ने फिर कनखवी दबाई और बोले, "अच्छा, भला राजा साहब बीरवल की कमी कौन पूरी करता है ?"

मैं बगलें झाँकने लगा। किसे बता दूं ? यहां तो हर मिनिस्टर

बीरबल से दो कदम आगे हैं । उसी समय शहंशाहे-आलम ने फिर कहा, "बताओ न चुटकुलों का महकमा किस की सरपरस्ती में है ?"

मैं ने कहा, "जी, सिद्धांत-रूप मे या व्यवहार-रूप में !"

एक ज़ोरदार ठहाका फिर शहंशाह की जानिब से तूफान की तरह आया । फिर सहसा ही चुप हो कर उन्हों ने आंख दबाई । मेरे पास कोई चारा नहीं था । मैं ने भी एक दबा दी । उन्हों ने फिर दबाई—मैं ने भी दबाई !

आखिर शहंशाह ने कहा, "नौजवान, हम तुम से बहुत खुश है । हमारा एकांत मजे में कट गया है । हम तुम्हें आखिरी बार सिर्फ एक सवाल पूछने की इजाजत बख्शते है ।"

"जहांपनाह की इनायत का लाख-लाख शुक्रिया," मैं ने कहा । "अगर इतना ही करम है, तो इस नाचीज को यह बताने की तकलीफ गवारा करें कि इस एक आंख को दबाने से अगर 'विरोधी दल' के किसी व्यक्ति के मन में कोई गलतफहमी पैदा हो जाए, तो ऐसे मौके पर क्या करना चाहिए ?"

"इस बात का जवाब हमारे यहां सिर्फ राजा बीरबल दे सकते हैं, क्यों कि यह नुस्खा उन्हीं के दिमाग की पैदाईश है...ऐ खोजासरा !"

बाहर अर्दली में खड़ा खोजासरा फौरन लपक कर भीतर आया और तीन बार कोरनिश झुकाते हुए बोला, "हुक्म, जां'पनाह !"

शहंशाह ने हुक्म दिया, "जाओ, राजा बीरबल जहां भी हों उन्हें खोज कर फौरन इस सवाल का जवाब लाओ कि एक आंख दबाने से अगर मुखालिफ के दिल में गड़बड़ पैदा हो, तो ऐसे मौके पर क्या करना चाहिए। यह भी देख कर आना कि इस वक्त राजा साहब क्या कर रहे हैं ।"

"जो हुक्म," कह कर खोजासरा फुर्र से उड़ गया । जब तक वह वापस आया, तब तक शहंशाहे-आलम पेंच में कश लगाते रहे और बार-बार उस पिन को चुटकियों में घुमा कर देखते रहे, जो मैं ने पेश किया था ।

दो मिनिट बाद ही खोजा वापस आ गया और बोला, "जान की अमान चाहता हूं, जहांपनाह। राजा बीरबल इस वक्त बीच बाजार रूहानियत और साइंस (अध्यात्मवाद और विज्ञान) की खिचड़ी पका रहे हैं। कहते हैं खास बीसवीं सदी के हिन्दुस्तान से 'कुकिंग' सीख कर वापस लौटे हैं। गरीब-परवर, बीस हाथ ऊंचे बांस पर खिचड़ी की हंडिया लटका रखी है, और, जहांपनाह, लगन का यह हाल है कि आग में फूंक मारते-मारते राजा साहब की आंखों से शबनम की झड़ी लग रही है !"

"ओह !" शहंशाह को मानो अफसोस हुआ । "राजा बीरबल की इन बातों से हम बड़े परेशान हो गए हैं। खैर, सवाल पूछा ?"

"जी, आलमपनाह, पूछा था। कहने लगे कि जो तरीक़ा जहांपनाह ने मीनाबाज़ार में अख्तियार किया था वही बता दें।"

"तुम जाओ," शहंशाहे-आलम ने खोजा को हुक्म दिया। उस के चले जाने पर उन्हों ने कहा, "नौजवान, अगर एक आँख दबाने पर मुखालिफ (विरोधी) ग़लतफहमी में पड़ता दिखाई दे, तो फौरन् दोनों दबा लेनी चाहियें।"

मैं चकित रह गया। वाक़ई राजा बीरबल के बारे में जो सुन रखा था वह उस से कहीं बढ़-चढ़ कर निकले। लेकिन मैं एक ऐसी ग़लती उसी वक्त कर बैठा, जिस से सारा खेल बिगड़ गया। मैं पूछ बैठा, "जहांपनाह, यह मीनाबाजार वाली घटना वही तो नहीं, जो कवि पृथ्वीराज की राजपूत पत्नी और जहांपनाह के बीच दरपेश आई थी !"

बस, इतना ही कह पाया था कि शहंशाह एकदम आगबबूला हो गए। आंखें अंगार की तरह जलने लगीं। नथुने फूल गए। मुँह लाल सुर्ख हो गया। चिल्ला कर बोले, "चुप रह, छोकरे !...खोजासरा !"

खोजासरा फौरन् हाज़िर हो गया, "हुक्म, जां'पनाह !"

"इस गुस्ताख नौजवान को इसी वक्त हाथ-पैर बांध कर बुर्जी से नीचे गिरा दो और इस की लाश को चीलकौवों की खूराक के लिए छोड़ दो।"

सुनते ही मेरे हाथ-पैरों की सारी जान निकल गई। घबरा कर, कांपते हुए, मैं ने उस सुन्दर रमणी की ओर देखा। उस ने चुपके से मुसकरा कर, जहांपनाह की नज़र बचा कर, फिर पहले की तरह कनखवी दबाई। मैं कुछ नहीं समझा। घबराहट और बढ़ गई। यह सब मक्कारी मालूम हुई। जब दूसरे का गला रेता जा रहा हो तब भी इस हकूमत में आंख दबाने का रिवाज था, और इस की विरासत में यह रोग बढ़ा ही है, कम नहीं हुआ है।

खोजासरा ने भारी और रोबदार आवाज़ में, आंखें निकाल कर कहा, "चलिये, जनाब, तशरीफ ले चलिए।"

मैं बेहोश हो गया था यह इसी से प्रकट हुआ कि मुझे बार-बार कंधा हिला कर जगाने की चेष्टा की जा रही थी और जब सामने की पुस्तक पर सिमटे हुए अपने हाथों पर से मैं ने सिर ऊपर उठाया, तो सामने टिक टिक करती घड़ी ग्यारह बजा रही थी। लायब्रेरियन ने फिर एक बार मुझे हिला कर कहा, "चलिये, जनाब, तशरीफ ले चलिये। लायब्रेरी बन्द होने जा रही है।"

मुझे ताज्जुब था कि मैं उस बुर्जी से गिराया गया या नहीं ! लायब्रेरियन को एक हाथ से रोक कर मैं ने पुस्तक पर निगाह डाली। जहां

छोड़ी थी उस से आगे की इबारत इस तरह थी :

'अकबर का स्वभाव अत्यन्त क्रोधी था। अपने इस दुर्गुण को वह अच्छी तरह जानता था। यही कारण था कि उस ने आज्ञा दे रखी थी कि उस के द्वारा दिए गए किसी भी मृत्युदंड का उस समय तक पालन न किया जाए, जब तक उस पर दोबारा शहंशाहे-आलम की मंजूरी न ले ली जाए।'

यह स्पष्ट ही था कि मुझे दिए गए दंड को फिर दोबारा शहंशाहे-आलम ने मंजूर न किया होगा। जान बची लाखों पाए...!

पुस्तकालय से निकल कर मैं ने एक अंगड़ाई ली और इधर-उधर नजर पसार कर उस खूबसूरत विरासत को खोजने की कोशिश करने लगा, जिस ने अंतिम बार आंख मार कर मानो मुझे अभयदान देना चाहा था। वह साकार कहीं नहीं मिली, मगर मुझे लगा कि इस मुल्क की आजाद हवा में वह हर जगह निराकार रूप में मौजूद है—उतनी ही शोख, उतनी ही चंचल, उतनी ही मक्कार ! मुझे लगता है कि वह अब भी बार-बार आँख दबा कर मुसकरा देती है।

● ● ●

खंड पांच

हास्य कथाएं

✶ रामकृष्ण शर्मा

भाई रामकृष्ण शर्मा अध्यवसायी युवक हैं, जिंदादिल हैं, मिलनसार व सेवा-भावी हैं। समाज-सेवा के कार्यों में आप की दिलचस्पी पर्याप्त रही है। बचपन से ही आप के पैरों में कल लगी रही, जिस के कारण घर से भाग कर बम्बई पहुंचे, जहां विभिन्न अभिनेताओं और समाज के अन्य अनेक उल्लेखनीय चरित्रों से आप का संपर्क रहा। कई मास के अपने उस अनुभव का आप ने सुन्दर औपन्यासिक शैली में अपने 'बहके कदम' नामक उपन्यास में विस्तार के साथ वर्णन किया है। संसार की लम्बी-चौड़ी, फैली हुई पाठशाला ही आप का विद्यालय रही है। घरेलू व आर्थिक परिस्थितियों ने आप को आजकल के खर्च-तलब विद्यालयों में अधिक ज्ञान-लाभ का अवसर नहीं दिया। आजकल आप पुस्तक-व्यवसाय में फंसे हुए हैं और विवाहित हो जाने पर भी पैरों की कल अभी तक अलग नहीं हो पाई।

श्री रामकृष्ण शर्मा ने सैंकड़ों लोक-कथाओं का अनुवाद किया, जो दिल्ली के एक प्रकाशक की लोक-कथा-माला के अंतर्गत प्रकाशित हुई। आप की लगभग पचास कहानियां देश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आ चुकी हैं, और आती रहती हैं।

प्रस्तुत कथा 'छप्पर फट गया था' पहलेपहल धर्मयुग में प्रकाशित हुई थी। हास्य-रस की दृष्टि से यह कथा अपना एक विशेष महत्व रखती है। इस के प्रत्येक खंडांश से कलाकार का संपूर्ण कौशल झांकता है। कथा का प्रारम्भ मरने के निश्चय से होता है और इसी निश्चय पर कथा समाप्त होती है, लेकिन इस महत्त्वपूर्ण निश्चय को कार्य-रूप देने में जो दिक्कतें हैं वे नितांत वास्तविक हैं—उस समय तो मरना एकदम मुश्किल ही हो जाता है जब नीली छतरी वाला इतने जोर से कूदे कि छप्पर ही फट जाए !

किसी सफल कथा का यह एक अनिवार्य गुण है कि उस का प्रारम्भ जितना चुस्त हो, अंत भी उतना ही गठा हुआ हो। अंत प्रत्याशित रहे या अप्रत्याशित इस के विषय में तो स्वयं कलाकारों में ही मतभेद हो गए हैं। आधुनिक कहानी-कला चमत्कारी अंत पर विशेष जोर नहीं देती। पर चमत्कारी अंत को यदि लेखक ने कहानी के कलेवर में कुशलता के साथ समोया हो, तो ऐसी कहानी अपने उद्देश्य के विचार से पाठक को पूर्ण संतुष्टि देने में अधिक सफल रहती है। इस विचार से भी 'छप्पर फट गया था' एक पूर्ण-और सफल हास्य-कथा है तथा लेखक इस के लिए बधाई का पात्र है।

—११ डालमपाड़ा, मेरठ।

● छप्पर फट गया था

उस दिन इन्टरव्यू दे कर लौटा तो मैंने निश्चय कर लिया कि आज अवश्य आत्महत्या कर लूंगा। निर्णय इस बात का करना था कि मरने में कम से कम कष्ट होना चाहिए। गहरे पानी में डूब कर मरा जा सकता था, लेकिन मुसीबत यह थी कि जाड़े के दिन थे। रस्सी के फन्दे से भी आत्महत्या की जा सकती थी, परन्तु गले की सहन-शक्ति तो एकदम सीमित थी और यदि अफ़ीम खाने के लिए पैसे होते तो आत्महत्या की आवश्यकता ही न पड़ती। भुक्तभोगियों का कहना है कि अफ़ीम खाने से दम घुटने लगता है और मैं घुट-घुट कर मरना कभी पसन्द नहीं करता। यही कारण था कि उस समय मैं एक अहसान-फरामोश मित्र के पास जा रहा था।

मेरा यह मित्र कुछ दिनों पहले ही सब-इन्सपेक्टर-पुलिस हुआ था। वह भरा हुआ एक रिवाल्वर हर समय अपने पास रखता था। मेरी योजना थी कि शीघ्रता से उसकी पिस्तौल उठा कर घोड़ा दबाऊंगा और मित्र महोदय भौचक्के से देखते रह जायेंगे।

उसी समय सड़क पर 'खुल गया! खुल गया!' का शोर मचाने वाले एक लड़के ने मुझे अखबार थमा दिया। "पैसे नहीं हैं," कह कर जैसे ही मैं आगे बढ़ा तो लड़का बोला, "फिर दे देना!"

"आगे भी नहीं होंगे।"

"मत देना!"

मैंने एक बार लड़के को गौर से देखा। फिर उसके हाथ से अखबार ले कर पढ़ने लगा। ऊपर मोटे अक्षरों में लिखा था :

'कल्याणकारी संघ'

'भाइयों और बहनों,

'अब आप किसी तरह निराश न हों। देश में फैली हुई अराजकता, भुखमरी, अशान्ति, बेरोजगारी आदि समस्याओं का अन्त करने के लिए हमने 'कल्याणकारी संघ' की स्थापना आपके शहर में की है। यदि आपको सूखी रोटी भी नसीब न होती हो, तो आपको सुबह-ही-सुबह बादाम का हलवा, गरमागरम चाय, खस्ता-खस्ता नमकीन, टोस्ट, मक्खन आदि जो आप चाहेंगे मिलने लगेगा। दोपहर और शाम के भोजन की नियमित व्यवस्था की जायेगी। लीजिये, आपकी पहली समस्या हल हुई।

'यदि आप के मकान की हालत बहुत खस्ता हो गई है या आपको

मकान-मालिक आये-दिन किराये के लिए तंग करता रहता है तो आपके लिए तुरन्त उम्दा मकान, या हो सका तो कोठी का प्रबन्ध किया जायेगा, जिसमें रहने के लिए आपको जल एवं विद्युत् की सुविधाएं प्रदान की जायेंगी। आपकी सेवा के लिये नौकर भी मिलेंगे।

'यदि आप बेकार हैं तो आपको नौकरी दी जायगी और ऊंचे अधिकारी के पद पर भी नियुक्त किया जा सकेगा; और यदि हम आपको नौकरी नहीं दिला पाये तो आपको आवश्यकतानुसार तनख्वाह घर बैठे ही दे दी जायेगी।

'यदि आप नेता हैं और आपको चुनाव में बार-बार मुंह की खानी पड़ती है तो हम आपको आश्वासन दिलाते हैं कि निकट भविष्य में ही आप हमारी सहायता से 'प्राइम मिनिस्टर' या 'प्रेसीडेण्ट' तक बन सकते हैं। यदि आप लेखक हैं तो १९५६ का नोबल पुरस्कार आप ही को मिल सकता है। यदि आप वकील हैं तो सारी दुनिया के बड़े-बड़े मुकदमे आप की कदम-बोसी करने लगेंगे। यदि आप डाक्टर हैं तो असाध्य से असाध्य रोगी आप के पास पहुंचेंगे और आप उन्हें स्वस्थ करने की शक्ति अनुभव करेंगे।

'भाइयो, आपको शायद विश्वास न हो, लेकिन हम आपसे आग्रह-पूर्वक कहना चाहेंगे कि यदि आपने हमें दर्शन न दिये तो आप हमेशा दुखी रहेंगे। स्थानाभाव से पूरा विवरण यहां नहीं दिया जा सकता। लेकिन आपके लिए 'कल्याणकारी संघ' का द्वार हमेशा खुला है। आप पधारें, हम आपकी हर सेवा करने के लिए सदा तत्पर रहेंगे।

'भवदीय :'
'रामलुभावनलाल'
'जनरल सेक्रेटरी,
'१२, साऊथ हाईवे (मेरठ कैंट)।

अखबार पढ़ कर मुझे लगा कि चलते-चलते किसी कल्प-वृक्ष के नीचे आ खड़ा हुआ हूं। वीरान सी सड़क पर रंगीनियां मानो चहल-कदमी कर रही थीं। मैं कल्पना करने लगा कि आज से मैं उस बदबूदार गली की अंधेरी कोठरी को छोड़ कर किसी आलीशान कोठी में रहने लगा हूं। सुबह के नाश्ते में बासी पानी के स्थान पर अब बादाम का हलवा और गरम-गरम चाय मानों मेरे सामने रखे हैं और एक श्वेत वस्त्रावृत्त नवयौवना मेरे बाल सहला रही है। अब मैं सब-इन्सपेक्टर की ओर भला क्यों जाने लगा था! सहसा ही मेरे पैर 'कल्याणकारी संघ' की ओर मुड़ गये।

'१२, साऊथ हाईवे' पर पहुंच कर मैंने देखा कि कोठी के आगे सैंकड़ों व्यक्तियों की भीड़ लगी हुई है। उनके कपड़े मैले और फटे हुए हैं, किन्तु चेहरे पर उल्लास बरस रहा है। मैं वहां जा कर चुपचाप खड़ा हो गया।

मेरे आगे जो व्यक्ति खड़ा था, मुझ से बोला, "यहां पर भोजन की बहुत सुन्दर व्यवस्था है। पहले भोजन कर लीजिये।"

मुझे प्रस्ताव पसन्द आया। भूख के मारे पेट के चूहे भी सुस्त हो गये थे। नौकरी देने वाले की ओर से खाने-पीने की इस निःशुल्क व्यवस्था के लिए मैंने मन-ही-मन धन्यवाद दिया। शुद्ध देशी घी में तले हुए काजू और चाय बंट रही थी। मैं भी एक मेज के सामने बैठ गया और क्रमशः कभी चाय, कभी काजू खाने लगा। खा-पी कर शीघ्रता से श्रीयुत रामलुभावनलाल महोदय के पास पहुंचा। मुझे देखते ही वह बोले, "देखिये, महोदय, आप मुझे एक योग्य व्यक्ति जान पड़ रहे हैं। हमें ऐसे ही प्रतिभाशाली व्यक्तियों की आवश्कता है। हमें पूर्ण आशा है कि आप निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर होते जायेंगे। शायद आज तक आप की योग्यता को किसी ने नहीं परखा है। आप विज्ञान के क्षेत्र में होते तो 'आइंस्टीन' से टक्कर ले सकते थे; राजनीतिक क्षेत्र में 'डलेस' का मुकाबला करने की योग्यता आप में है; साहित्यिक क्षेत्र में आप होते तो...'शा' को बहुत पीछे छोड़ देते। लेकिन उचित अवसर न मिलने के कारण आप की प्रतिभा रह गयी है। अब मैं आपको फ़िलहाल ३००) रुपये माहवार पर नियुक्त कर रहा हूं।"

मैंने एक बार आश्चर्य से अपने उस कदरदान को देखा और कहा, "जी! तीन सौ रुपया माहवार?"

"जी, तीन सौ रुपया माहवार, और कार्य कुछ भी नहीं। बस फक़त थोड़ा सा साहू शिवचरण जी का प्रोपेगेन्डा करना है—चुनाव का प्रोपेगेन्डा। वह इस बार असेम्बली के लिए खड़े हो रहे हैं। और यदि आपने योग्यता से कार्य किया तो आपको विदेशों में राजदूत बना कर भेजा जा सकता है। मगर खैर, फिलहाल आपको तीन सौ रुपये माहवार पर रखा जाता है। वेतन प्रत्येक पहली तारीख को प्राप्त हो जाया करेगा, परन्तु एक शर्त है?"

"क्या?" मैंने पूछा।

"रेलवे रोड पर एक नया होटल खुला है। भोजन आपको वहीं करना होगा। एक साधारण सी शर्त है: दोनों समय का भोजन वहीं करना होगा। दो बार नाश्ता भी आप वहीं करेंगे? यदि किसी भी दिन आप वहां भोजन करने से चूक जायेंगे तो आपको उसी समय नौकरी से अलग कर दिया जायेगा। हमारे यहां आधे या चौथाई वेतन मिलने की व्यवस्था नहीं है। या तो पूरे महीने का वेतन लीजिये, अन्यथा वेतन से वंचित रह जाइयेगा।"

मैं क्षण भर के लिए स्तब्ध सा रह गया। फिर होश आने पर मैंने

उसकी यह शर्त मान ली और बड़ी सक्रियता एवं श्रद्धा से साहू शिवचरण जी के चुनाव-कार्य में लग गया। सभी पार्टियां अपने पूर्ण प्रदर्शन में लगी हुई थीं, परन्तु शिवचरण जी की बात ही कुछ और थी।

चुनाव में केवल बारह दिन थे। ज्यों-ज्यों निश्चित दिन पास आता गया, हम लोगों की सरगरमियां बढ़ती गयीं। मुझे तो कई रात बिना सोये हो गये थे।

आरम्भ में मुझे यह सम्भावना लग रही थी कि चुनाव के बाद शायद नौकरी से अलग कर दिया जाऊं। परन्तु ज्ञात हुआ कि अच्छे कार्यकर्त्ताओं को साहू साहब की मिल में नौकर रख लिया जावेगा! यह जान कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मैं दुगुने उत्साह से काम पर जुट गया।

घर की भोजन-सम्बन्धी व्यवस्था एक परचूनिये ने हल कर दी। माह के अन्त में रुपया मिल जाने के विश्वास पर वह आटा-दाल इत्यादि उधार देने पर रजामन्द हो गया था। नौकरी से पहले इसी व्यक्ति ने एक रुपये के सामान के लिये भी मना कर दिया था।

साहू साहब चुनाव में जीत गये। इसकी हमें एक शानदार दावत दी गयी। बहुत खुशियां मनायी गयीं। मैंने काफी मेहनत की थी, इसलिए साहू साहब ने एक दिन मुझे बुला कर कहा, "भाई, हम तुम्हारे काम से बहुत प्रसन्न हैं। यदि चाहो तो पचास साठ हजार रुपया लगा कर कोई व्यापार करा दें या एक हजार रुपया माहवार की एक नौकरी खाली है, उसे चाहो तो कर लो। मैं पत्र लिख दूंगा, वे रख लेंगे।"

"अजी व्यापार का क्या होगा? मेरे लिए तो नौकरी ही ठीक रहेगी। आप लिख दीजियेगा।"

मेरा छप्पर फट गया था और भगवान उसमें से धन बरसाने ही वाला था। अपनी आत्महत्या वाली बात पर मुझे बड़ी हंसी आई।

पहली तारीख को मुझे तीन सौ रुपये मिल गये। उछलता-कूदता मैं सबसे पहले होटल वाले का रुपया देने के लिए पहुंचा। मैनेजर ने मुझे बिल थमा दिया। देखा—इकत्तीस रुपये।

जो कुछ मैंने खाया था उसके इकत्तीस रुपये उचित ही थे। मैंने दस रुपये के तीन नोट और एक रुपये का एक उनके काउन्टर पर रख दिये।

"महाशय, बिल को ग़ौर से देखिये। तीन सौ दस रुपये वाजिब हैं। एक दिन का दो समय का भोजन और दो नाश्ते का हमारे यहां दस रुपया लिया जाता है। यह महीना इकत्तीस दिन का है। इसलिये तीन सौ दस रुपये दीजिये।"

"तीन सौ दस रुपये!"

"जी हां, तीन सौ दस रुपये," मैनेजर महोदय ने आंखें निकाल कर विश्वास करा दिया।

अपने वेतन के तीन सौ रुपये देता हुआ मैं बोला, "अच्छा, दोस्त, ये तीन सौ हैं। दस मैं शीघ्र ही कभी भेज दूंगा।"

मै फिर वहां न रुका। सारी स्थिति मेरी समझ में आ गयी। मैं एक बार फिर जमीन पर आ गया। चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं। केवल भोजन पर मुझे एक माह इतना काम करना पड़ा था।

मैं फिर आत्महत्या करने के लिए चल दिया और निश्चय कर लिया कि इस बार किसी अखबार वाले के प्रलोभन में नहीं आऊंगा। मगर यह समस्या अब भी उसी तरह विद्यमान थी कि मरा कैसे जायेगा ?

•••
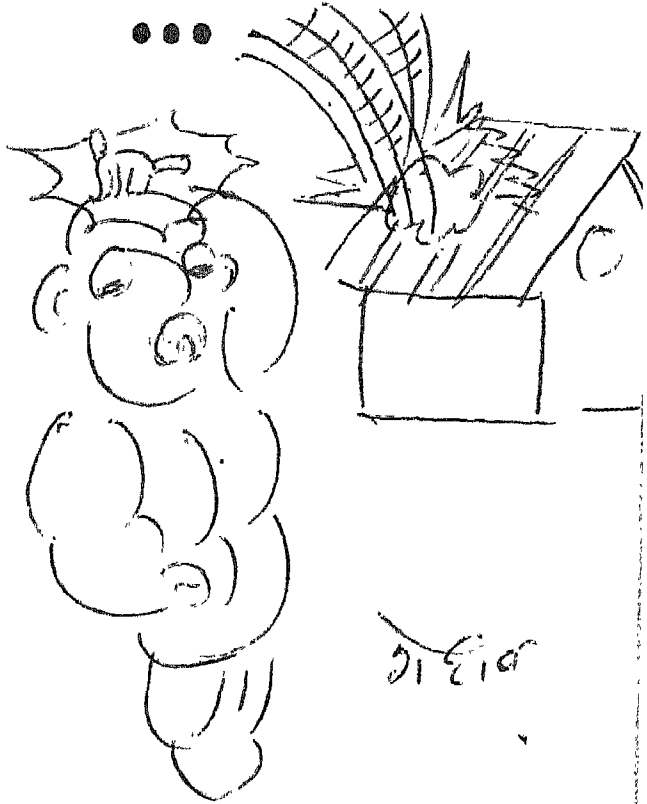
✱ श्रवणकुमार गोस्वामी

रांची कालिज में एम० ए० के छात्र भाई श्रवणकुमार गोस्वामी उन उदीयमान कलाकारों में हैं, जिन के ऊपर हमारी भावी आशाएं टिकी हैं। आप मूलतः बनारस के रहने वाले हैं। आप ने सन् १९४५ से लिखना आरंभ किया और कहानियां, लेख, उपन्यास, स्केच, रिपोर्ताज आदि सभी तरह के कथा-साहित्य में आप की रुचि है। आप आकाशवाणी, नागपुर, के लिए एक धारावाहिक रूपक 'तेतर केर छांहें' लिख रहे हैं 'नागपुरी' भाषा में। आकाशवाणी में आप के ९ रूपक पहले भी प्रसारित हो चुके हैं तथा अपने रूपकों का आप ने स्वयं ही अभिनय व निर्देशन भी किया है। पिछले वर्ष आप का एक कथा-संग्रह 'जिस दीये में तेल नहीं' प्रकाशित हो चुका है तथा दूसरा प्रकाशन की बाट देख रहा है।

यदि आप के कालिज सार्टिफिकेट के ऊपर विश्वास किया जाए, तो आप ने यह सारा काम अपनी बीस वर्ष की अल्पायु में ही कर डाला है। यह तो तथ्य ही है कि सार्टिफिकेटों में 'राजनीतिक आयु' होती है। शुक्र इतना ही है कि अन्तर एक-दो वर्ष से अधिक नहीं होता। इसलिए यदि आयु दो और भी कम हुई तो फिर भाई गोस्वामी जी दो वर्ष का आदर और पा जाते हैं।

प्रस्तुत कहानी 'मुंशीजी' के भीतर जो करुणाजनक विनोद है वह एक कुशल लेखनी का परिचय देता है। 'मुंशीजी' का संघर्षमय जीवन सामान्य है, किन्तु द्वन्द्व अनोखा है, और पहले ही परिचय में उन की करुणाजनक स्थिति पर हास्य उत्पन्न करता है। साले साहब हैं कि जमानए-कदीम से एक रकम-खास के लिए चक्कर लगा रहे हैं और मुंशीजी हैं कि उन के आने-जाने का किराया देते चले आ रहे हैं, मगर रकम कभी नहीं जुटा पाए...और ऐसा आशावादी भी आप को शायद ही ढूंढे मिले, जो दिन भर की अनिश्चित आय पर भरोसा कर के साहूकार को शाम तक ठहरने का भरोसा दिए चला आता है। साहूकार के पास जो धमकी का डंडा है वह भी देखते ही बनता है। बेचारे मुंशीजी की एक तो मुसीबत नहीं।

इस कहानी का अंत अत्यंत स्वाभाविक हुआ है, यद्यपि मुंशीजी बेचारे के बेचारे ही रहे। किसी ने अपराध न किया हो तो किस तरह उस के हाथों से अपराध सम्पन्न हो, यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है और गोस्वामी भैया ने इसे खूब निभाया है।

—मेन रोड, रांची।

● मुंशीजी

"मुंशीजी ! मुंशीजी ! मुंशीजी !"

एकाएक मुंशी रमजानअली के कानों में यह आवाज तीर की तरह आ घुसी। मुंशीजी बड़बड़ाते हुए उठ खड़े हुए। पर यह याद करते ही कि कोई असामी पुकार रहा है, उन की बड़बड़ाहट बन्द हो गई। दिल में यही आशा लिए उन्हों ने दरवाजा खोला। किन्तु अपने सामने खड़े आदमी को देख कर वह एकाएक स्तब्ध हो गये। होशियारी से अपनी झेंप छिपाते हुए वह तपाक से बोले—"अरे म्याँ, कब आये ? आओ, आओ, भीतर आओ। तुम ने तो खत-वत देना ही बन्द कर दिया है। बात क्या है ? कहने के तो साले कहलाते हो, पर ऐसी चुप्पी लगा जाते हो, जैसे हमारे और तुम्हारे बीच कोई ताल्लुक ही नहीं।" और वह फरश पर पड़ी गठरी को भीतर ले आए।

मेहमान अन्दर आ गया। उस ने कहा—"क्या बताऊं, भाई साहब, बड़ी परेशानी में पड़ा हूं आजकल। अभी-अभी आया हूं और रात को ही जाना होगा।"

"इतने दिनों के बाद आये भी तो क्या आज ही जाने के लिये ? ऐसी क्या जल्दी पड़ी है ?" मुंशीजी ने ऊंची आवाज में कहा। पर उन की आवाज में एक मजबूरी साफ-साफ झलक रही थी। ये वाक्य उन्हों ने स्वयं नहीं कहे थे, बल्कि तहजीब के बस आ कर ये शब्द उन के मुंह से निकले थे।

साले साहब को चारपाई पर बैठा कर मुंशीजी अन्दर चले गये। उन्हों ने अपनी बीवी को जगाया। मुंशीजी की बीवी यह सुनते ही बाँसों उछल पड़ी कि उस का भाई आया है। वह उसी क्षण अस्त-व्यस्त अवस्था में भाई के पास आ पहुँची।

मुंशीजी सिर थाम कर वहीं जमीन पर बैठ गए। वह बाहर नहीं आये। उन के सिर पर आज सुबह-ही-सुबह एक फिकर सवार हो गई। अब उन के दिमाग में पचास रुपये चक्कर काट रहे थे। मुंशीजी इस बात से भलीभांति परिचित थे कि साले साहब के आगमन का कारण मात्र पचास रुपये ही हैं। पांच साल पहले मुंशीजी ने साले साहब से पचास रुपये कर्ज लिए थे। यह मुंशीआइन भी नहीं जानती थी। अब वह यही सोच रहे थे कि रुपयों का प्रबन्ध कैसे किया जाय ! इस बार तो साले साहब को

किसी भी हालत में टालना सम्भव ही नहीं, बड़ा दुष्कर था। सब से अधिक डर तो उन्हें यह था कि कहीं बीवी साहबा के सामने उन की कलई न खुल जाय। साले साहब रुपयों के लिए कई बार आये, पर रुपयों से मुलाकात कभी नहीं हुई। पिछली बार मुंशीजी ने हिसाब लगाया था कि आने-जाने के खर्च की बाबत, कई बार मिला कर, वह पचास रुपयों से कहीं अधिक अपने साले साहब को भेंट कर चुके थे, पर पचास रुपये एकमुश्त कभी नहीं दिए जा सके। उन्हें यह चिंता सता रही थी कि यदि इस बार वह रुपया नहीं देंगे, तो मुंशीआइन के सामने उन की पोल अब जरूर ही खुल जायगी। वह अपनी बीवी से बहुत डरते थे। इस का यह अर्थ नहीं कि वे जोरू के गुलाम थे। पर अब तो उन की आंखों के सामने चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखलाई पड़ रहा था। सोचते-सोचते जब मुन्शीजी थक से गये, तब उन्हों ने आकाश की ओर देखते हुए कहा—"या परवरदिगार! अब तू ही बता क्या करूँ? तेरा ही आसरा है। किसी तरह बेड़ा पार लगा दे।"

वह यह बोल कर उठे ही थे कि साले साहब उन के सामने आ खड़े हुये। साले साहब को देखते ही मुंशीजी की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। दोनों कुछ देर तक शांत रहे। मुंशीजी तो सिर गाड़े खड़े ही थे।

"क्यों, साहब, इस बार क्या इरादा है? मैं शाम को सात बजे जाऊँगा। रुपयों का इन्तज़ाम कर लो, वरना...।"

इसी बीच मुंशीजी टपक पड़े—"अरे भाई, सुन लिया। वह तो तुम्हें देखते ही मैं ने समझ लिया था कि सिर पर आ गई बला। मैं अभी पोस्ट–आफिस जा रहा हूं, शाम को आऊँगा। रुपये साथ होंगे।"

"ऐसी बातें तो तुम बराबर करते हो। पर रुपयों का इन्तजाम भी किया है कभी? अरे यार, चार-चार आने भी रोज़ जमा करते, तो मामला खत्म था। खैर, आज भी देख लेता हूं, नहीं हमीदा तो है ही।"

"अरे, यह क्या करते हो, भाई! मैं तुम्हें जरूर रुपये दूँगा। तुम्हारे पांव पकड़ता हूं, अपनी बहन से यह बात कभी न कहना, नहीं तो मेरी हड्डी-पसली दोनों एक हो जायेंगी।"

"मेरा क्या कसूर है इस में? पचास रुपयों के लिये मुझे कितनी बार परेशान होना पड़ा है! यदि अपनी इज्जत का तुम्हें ज़रा भी ख्याल होता, तो ऐसा तुम कभी न करते। मालूम तो ऐसा होता है, जैसे तुम ने अपनी सारी इज्जत खिड़की में रख छोड़ी है। मैं साला हूं और तुम मेरे भाई साहब

हो, यही गनीमत है। चार बजे तक रुपये मेरे हाथ में होने चाहियें, नहीं तो तुम जानना और तुम्हारा काम।"

गुस्से में बड़बड़ाते हुये साले साहब चले गये। मुंशीजी ने हाथ झटकारते हुए चैन की सांस ली।

दस बजते ही मुन्शी रमजानअली अपने अड्डे पर जा पहुंचे। उन्हों नें एक गहरी सांस खींची। पोस्ट-आफिस की घड़ी की ओर गरदन घुमा कर उन्हों ने समय देखा। समय देखते ही वह जल्दी-जल्दी अपना सामान संजोने लगे। कटहल के पेड़ के नीचे बोरे के पुराने टुकड़े को बिछा कर मुंशीजी उस पर बैठ गये। बोरे की लम्बाई और चौड़ाई मिला कर मुश्किल से तीन वर्ग फीट होगी। एक फीट की छोटी चौकी को अपने सामने मुन्शी जी ने रखा। पाकेट से कलम और दावात निकाली। उन का छोटा-सा दफ्तर देखते-ही-देखते तैयार हो गया। ये चीजें इतनी अधिक पुरानी हो गई थीं कि उन को देख कर बराबर पोस्ट-आफिस आने वाला कोई भी आदमी आसानी से यह बता सकता था कि ये चीजें मुंशी रमजानअली की ही हैं।

दाढ़ी पर हाथ फेरते हुये उन्हों ने आस-पास के वातावरण का सिंहा-वलोकन किया। चारों ओर दृष्टि घुमा-घुमा कर वह किसी असामी की खोज करने लगे।

पोस्ट-आफिस के दरवाजे के बाहर एक देहाती आया। उस के हाथ में एक पोस्ट-कार्ड था। उसे देखते ही मुंशीजी समझ गये कि यह आदिवासी है। वे पटाक् से उस के पास जा पहुँचे और पूछा—"का, गोमके ? चिट्ठी लिखावे का ? आव, आव, एने आव।"

"नेई, गोमके," देहाती ने उत्तर दिया।

"ले, ए ही तो बोहनी-बट्टा के बेरा में गड़बड़ करे लगले। आव, आव, खाली चाह पिये भर दे देबे, बस।"

"नेई, गोमके, हमर अबदीन अपने चिट्ठी लिखेला," इतना कह कर देहाती आगे की ओर बढ़ गया। मुन्शीजी उस की ओर टुकुर-टुकुर ताकते ही रह गये। तकदीर को कोसते हुए वह अपने बोरे के टुकड़े पर बैठ गए।

इसी बीच एक देहाती और आया। मुंशीजी उसे देख भी नहीं पाए और वह देहाती दूसरे के पास चिट्ठी लिखवाने बैठ गया।

लगभग दो घन्टे इसी तरह निकल गये। मुंशीजी को कोई काम नहीं मिला। रोज इस समय तक वह आठ-दस आने का काम कर लिया करते थे। पर आज की अपनी हालत पर उन्हें बड़ा तरस आ रहा था।
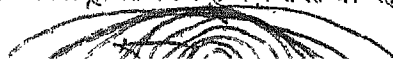
वह प्रति दिन घर से केवल मुंह धो कर आया करते थे। चाय-पानी यहीं पी लिया करते थे। किंतु आज तो उन्हें चाय क्या, पानी भी नसीब न हुआ। उन्हें भीतर ही भीतर बड़ा क्रोध आ रहा था। कभी-कभी जली हुई निगाह से उस ओर भी वह देख लेते थे, जिधर रामू मुंशी पोस्ट-कार्ड पर घसर-पसर कलम चलाये जा रहा था। मुंशीजी को पेट की ज्वाला अलग सता रही थी और पचास रुपयों की चिंता अलग। चिंता के इन दो पाटों के बीच पिस कर वह मरे जा रहे थे। कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। अकल ठिकाने नहीं थी।

दो पंजाबी मुंशीजी की ओर बढ़े आ रहे थे। उन्हें देखते ही मुंशी जी की बांछें खिल गईं। असामी फांसने के लिए वे अपनी जगह से उसी क्षण उठ खड़े हुये और सरदारों से बड़े नम्र स्वर में कहा—"आइये, खालसा जी, दो मिनिटों में चिट्ठी तैयार कर दूंगा।"

मुंशीजी की बात सुन कर, दोनों सरदार एक-दूसरे की ओर देख कर मुसकराने लगे। हँसते हुये एक ने कहा—"हमरी चिट्ठी णहीं लिखवाणी हय। तार-घर कित्थे हय ?" यह सुनते ही मुंशीजी को काठ सा मार गया। उन के मुंह से आवाज भी नहीं निकली। उन्हों ने केवल तार-घर की ओर संकेत कर दिया।

सैंकड़ों लोग आ और जा रहे थे। आस लगाये मुंशीजी भीड़ की ओर देखते रहे। पर कोई नहीं आया। कभी मुंशीजी किसी बंगाली बाबू को बंगला भाषा में पुकारने का असफल प्रयत्न करते, तो कभी किसी भोजपुरी को। परन्तु आता कोई नहीं। केवल एक बार मुसकरा कर लोग दूसरी ओर बढ़ जाते।

अन्त में मुंशीजी चश्मा उतार कर उसे साफ करने लगे। सिर गाड़े वह चश्मे को गुस्से में साफ कर रहे थे। उन की उंगलियां चश्मे के कांचों पर इस तरह चल रही थीं, मानो वे किसी दुश्मन का काम तमाम कर रही हों।

मुन्शीजी को अपने सामने कुछ अंधेरा मालूम पड़ा। उन्हों ने सिर उठा कर ऊपर की ओर देखा—एक देहाती खड़ा था। हाथ में एक मनीआर्डर फार्म था। उसे देखते ही मुन्शीजी भीतर ही भीतर खुशी से दोहरे हो गये। चश्मा लगाते हुए उन्हों ने कहा—"आओ, आओ, भाई, बैठो। कहां भेजने हैं रुपये ?" इतना कह कर उन्हों ने बोरे के उस टुकड़े को असामी की ओर बढ़ा दिया, जिस पर वह स्वयं बैठते थे। स्वयं वह जमीन पर बैठ गए। फ़ार्म ले कर वह आसामी की ओर देखने लगे।

ग्राहक ने मुन्शीजी को गौर से देखने के बाद कहा—',पचास रुपये अपने बेटे के पास भेजने हैं ।"

'पचास रुपये !" सुनते ही मुन्शीजी दूसरी दुनिया में खो गये । वह फार्म लिये उस समय तक शून्य की ओर देखते रहे, जब तक कि देहाती ने उन्हें यह नहीं कहा, "मुन्शीजी, जरा जल्दी कीजिये ।"

मुन्शीजी की तंद्रा टूटी । वह आसमान से गिर पड़े—"अंय !" साथ ही वह फार्म भरने में लग गये । पता आदि लिखने के बाद उन्हों ने कहा —"यह लीजिए ! चार आने पैसे दीजिये ।"

"चार आने क्यों ?"

"कितनी मेहनत का काम है ! जरा आप ही सोचिये ।"

"इस में क्या मेहनत है ? दो बार कलम चला दी बस ।"

"हूं ! कलम चला दी, बस ! यदि रुपिया न पहुंचा तो जूतियां किस के सिर पर बरसेंगी ? जरा सोचिये, ज़िम्मेदारी का काम है, मज़ाक नहीं !"

"चाहे कुछ भी हो, दो आने से ज़्यादा नहीं दूँगा । पहले भी दो आने ही देता आया हूं । कोई नया तो हूं नहीं ।"

"दो आने से तो काम नहीं चलने का ।"

"फिर नौ पैसे ले लीजिये ।"

"नौ पैसे क्यों ? चौदह पैसे से कम तो किसी भी हालत में ले नहीं सकता ।"

"देखिये, ज्यादा किच-किच ठीक नहीं लगती । तीन आने ले लीजिये । मैं यहां बैठता हूं, आप खुद मनीआर्डर कर दीजिये ।"

मुन्शीजी उस देहाती की ओर एकटक देखने लगे, क्यों कि यह बात उन की शान के खिलाफ थी । पर न जाने क्यों, उन्हों ने देहाती की बात मान ली । फार्म ले कर वह पोस्ट आफिस में घुस गये । मनीआर्डर के लिए काफी लम्बी लाइन लगी थी । मुन्शीजी भी लाइन में शामिल हो गए । उन के मन में तरह-तरह की बातें चक्कर काटने लगीं । उन्हें साले साहब को पचास रुपये देने हैं, वह भी आज ही । उन्हों ने एक हाथ में फार्म और दूसरे हाथ में रुपया रख कर सोचना आरम्भ किया । उन की दृष्टि रुपयों पर थी । वह सोच रहे थे, इन्हीं पचास रुपयों के लिए उन्हें अपने साले साहब के सामने आज जलील बनना पड़ेगा । वे सारी बातें उन के दिमाग में चक्कर काट रह थीं, जो उन के साले साहब ने पिछले अवसरों पर रुपये न मिलने पर कही थीं । उन वाक्य-प्रहारों को याद कर मुन्शीजी कांप उठे । उन का चेहरा धीरे-धीरे रक्तहीन सा होता जा रहा था । कभी-

कभी उन के हाथ कांपने भी लगते थे। आंखों पर अजीब रंग का आवरण छाता जा रहा था। एक ओर उन की इज्ज़त थी और दूसरी ओर पचास रुपए। तुला के ये दो पलड़े, जिस में मुन्शीजी की इज्ज़त का पलड़ा हल्का सा होता प्रतीत हुआ।

एकाएक उन के मन में यह विचार आया कि यदि ये रुपए किसी तरह मिल जाते, तो क्या ही अच्छा होता। पर इन रुपयों को प्राप्त करना बड़ा ही कठिन था। यह सोच कर भी वह इस मौके से लाभ उठाने की बात सोचने में तल्लीन थे। एकाएक उन के दिल में आया कि वह इन रुपयों को ले कर...किन्तु खुदा की याद आते ही उन की रूह कांप उठी। उन्हों ने सामने देखा, काफी लोग छंट चुके थे। पांचवें नम्बर पर अब मुंशीजी ही थे। देर काफी हो रही थी। फलस्वरूप देहाती ठहर-ठहर कर मुंशी जी को देख जाता था।

समय बहुत कम था। शीघ्र ही निर्णय करना था। इसी लिए मुंशीजी पानी–पानी हुए जा रहे थे। एकाएक न जाने मुन्शीजी को क्या फितूर सूझा कि वह लाइन से बाहर आ गए। अपनी बैठक पर आ कर वह फ़ार्म पर लिखे पते को कांटने-छांटने लगे और बड़बड़ाने लगे—"ये साले पोस्ट आंफिस के बाबू भी, बड़े अजीब होते हैं! साला कहता है, फ़ार्म गलत भरा है। अब फिर फार्म भरना होगा। दुबारा मेहनत करनी पड़ेगी और आप हैं कि तीन आने से ज्यादा देना नहीं चाहते!"

देहाती ने कुछ कहना उचित नहीं समझा। वह चुपचाप बैठा रहा।

मुन्शीजी ने दूसरा मनीआर्डर फार्म निकाला। कटे हुए फ़ार्म को देख कर वह नए फार्म पर पता लिखते जा रहे थे। इस समय उन की स्थिति बड़ी ही विचित्र हो गई थी। कलम इधर–उधर फिसल जाती; अतः वे बड़बड़ाने लगते। कलम के साथ बेढब रिश्ते जोड़ने लगते। रह–रह कर देहाती की ओर नज़र उठा कर देखते और फार्म पर पता लिखने लगते, जैसे देहाती के चेहरे पर ही सही–सही पता अंकित हो! हृदय की धड़कन तीव्र हो चली थी। कपोल जल से रहे थे। आंखें एवं उंगलियां आवश्यकता से अधिक चंचल हो गईं। वह भर तो फार्म रहे थे, पर भान ऐसा हो रहा था मानो दोज़ख में अपने लिए एक सीट के 'एडवांस बुकिंग' के लिए तार का फ़ार्म भर रहे हों!

फ़ार्म भरने के उपरांत उन्हों ने उठते हुए कहा—ज़रा सामान पर निगाह रखिएगा। ऐसा न हो कि लेने के देने पड़ जायें।

भीड़ छंट चुकी थी। मनीआर्डर करने में कुछ बिलम्ब न हुआ।

रसीद ले कर मुंशीजी अपनी बैठक में आ गए। एक बार चारों ओर देख कर देहाती की ओर रसीद बढ़ाते हुये उन्हों ने कहा—"लाइये पैसे !" इतना कह कर मुंशीजी एकाएक एक अज्ञात आशंका से कांप उठे। दोनों हाथों में मानो लकवा मार गया हो। तीन आने पैसे दे कर ग्राहक ने रसीद ले ली। मुंशीजी ने अपने कांपते हुये दोनों हाथों से पैसा जेब में झोंका।

देहाती चला गया।

मुंशीजी अपनी बैठक पर बैठे रह गए।

बैठे-बैठे मुंशीजी का बुरा हाल हो रहा था। उन की व्यग्रता बढ़ने लगी थी। वह अस्त-व्यस्त से इधर-उधर देखने लगे थे। उन की ओर कोई देखता, तो न जाने क्यों मुंशीजी घबरा कर अपनी आंखें झुका लेते। एक सिपाही आफिस की ओर बढ़ा आ रहा था। उसे देखते ही बेहाल हो गए। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि सिपाही उन्हीं की ओर आ रहा है, वह मुंशीजी की करतूतों से परिचित है, अतः वह उन को अभी और इसी समय गिरफ्तार कर लेगा। सिपाही आगे बढ़ गया। पर मुंशीजी उसे ध्यान से देखते ही रहे कि कहीं वह मनीआर्डर वाले काउन्टर पर तो नहीं जा रहा है। सिपाही सचमुच मनीआर्डर वाले काउन्टर पर ही जा कर खड़ा हो गया। इसी बीच उस की आंखें मुंशीजी पर पड़ीं। मुंशीजी सिपाही को अपनी ओर देखते हुए पा कर एकाएक बुरी तरह घबरा गए। पैरों तले की धरती खिसकती मालूम पड़ने लगी। उन्हों ने उसी क्षण एक रिक्शा वाले को बुलाया। अपने सामान को जैसे-तैसे उठा कर रिक्शा पर रखने के बाद वह खुद भी रिक्शा पर बैठ गए।

रिक्शा पर बैठे मुंशीजी पोस्ट-आफिस की ओर एक अद्भुत दृष्टि से देखते चले जा रहे थे। बीच-बीच में कहते जाते—"जरा जल्दी चल, भाई, जल्दी चल।"

एक सप्ताह के बाद मुंशीजी के नाम एक चिट्ठी एवं मनीआर्डर की रसीद आयी। चिट्ठी उन के साले साहब की थी, जिस में लिखा था :

'मुंशी रमजानअली और हमीदा बहन को सलीम की तरफ से आदाब-अर्ज। यहां खुदा की मेहरबानी से सब ठीक-ठाक हैं। उम्मीद है तुम लोग भी खैरियत के साथ होगे।

'मियां, अभी तक तुम्हारा रुपया नहीं आया। तुम्हारे मनीआर्डर का इन्तजार दो दिन और करूंगा। अगर इस बीच रुपया न मिला, तो मैं जुमे के दिन तुम्हारे दरवाजे पर फिर हाजिर हो जाऊंगा। अब तुम मुझे इस से ज्यादा धोखा नहीं दे सकते। खत का जवाब मत देना, क्यों कि

इस के लिए मेरा आना ही काफी होगा।'

पत्र देख कर मुंशीजी पागल जैसे हो गये। उन्हों ने देखा यह वही रसीद थी, जिसे उन्हों ने भेजी थी। पर रुपया पाने वाले के नाम की जगह सलीम का नाम नहीं, बल्कि उस बूढ़े के बेटे की सही थी। उन्हों ने रसीद उलट-पुलट कर देखी, फिर रसीद लिए कुछ देर तक आकाश की ओर देखते ही रहे।

एकाएक उन के मुंह से आवाज निकली—"या अल्लाह !"—और वह गश खा कर गिर पड़े।

●●●

✱ चंद्रमोहन 'मधुर'

भाई 'मधुर' जी सरल व स्नेही स्वभाव के व्यक्ति हैं। आप की लेखनी का मुख्य रुझान हास्य की ओर है। यों सामाजिक क्षेत्र में भी आप ने काफी लिखा है। लगभग ६० कहानियां व दो उपन्यास आप के प्रकाशित हो चुके हैं और एक-दो प्रकाशन के पथ पर हैं। आप जीवन को अनुभवों से नापते हैं और कठिन परिश्रम को उन्नति का मूल-मन्त्र समझते हैं। मित्र-भाव, विश्वसनीयता, सादगी और गम्भीरता ये आप के विशिष्ट गुण हैं।

चौबीस वर्षों के इस विषम संसारी जीवन में आप ने जो अनुभव बटोरे हैं उन्हें बहुत कुशलता के साथ अपने उपन्यासों में संजोया है। देहरादून से आप ने एम० कौम० किया, उद्योग के एक्स्टेंशन आफिसर के रूप में ट्रेनिंग ली और उसी में आफीसर हैं।

प्रस्तुत कथा—'म्यां, यह माजरा क्या है?'—किसी चमत्कारी भाषा के बल पर हास्य उत्पन्न नहीं करती, बल्कि इस की घटनाओं में ही ऐसी परिस्थितियां बनती हैं, जिन से हास्य उत्पन्न होता है। जरा कथानायक की परेशानी तो देखिए: रात के बारह बजे घर लौटें, और मालूम हो कि एक भयंकर डाकू एक सेठ तथा उस की पुत्री पर अत्याचार कर रहा है, तो कौन युवक ऐसा है कि उस का खून नहीं खौल उठेगा? फिर, मौलाना साहब भी चार कदम आगे हैं। जब वह सोएं तब सारे जमाने को सारी चिन्तायें त्याग कर भले आदमियों की तरह सो जाना चाहिए! डाकुओं के विरुद्ध अभियान में वह बंदूक ले कर चलते हैं, तो रास्ते ही रास्ते में वह एक टूटी हुई लाठी के रूप में बदल जाती है! फिर डाकुओं की भयंकरता के तो ठिकाने ही नहीं हैं!

हास्य-पात्र को सदा ऐसे काम करते रहने चाहिए, जो आम तौर पर सही-सालिम दिमाग रखने वाले नहीं करते। इस लिहाज से मौलाना साहब, बिशेशरदयाल वगैरह वगैरह तो अपनी विशिष्ट हरकतें करते ही हैं, कम्बख्त मौलाना साहब का कुत्ता भी, जो कुत्ता होने की वजह से घ्राणशक्ति का देवता कहा जाना चाहिए रोज रोज के अतिथि को पहचानने से इनकार करता है और बिशेशरदयाल की हालत गौर फरमाने लायक हो जाती है। श्री चंद्रमोहन 'मधुर' की यह कहानी हमें आगे उन से और बड़ी आशाओं के लिए बाध्य करती है।

—एक्स्टेन्शन ऑफ़ीसर (उद्योग), ब्लाक डैवलैपमेंट आफ़िस,
फ़रीदाबाद, जिला गुड़गांव।

● क्यों, यह माजरा क्या है ?

उन दिनों मौलाना साहब के यहां ताश जरा देर तक जमते थे। समय का ध्यान भी न रहता था। सरदियों का मौसम था, खिड़कियां बन्द करके कम्बल ओढ़ कर जब बैठते थे तो धर्मपत्नी की डांट-फटकार कोसों दूर रहती थी। मौलाना साहब के दौलतखाने से मेरा घर यही दो-तीन फर्लांग की दूरी पर था। जिस रात का जिक्र करने बैठा हूं, उस रात और दिनों की बनिस्बत कहीं और ज्यादा देर हो गई। बात यह हुई कि आज मौलाना साहब के दसवें सार्टिफिकेट, शाहजादे नन्हे-मियां का दूसरा जन्म-दिन था, सो देर होनी स्वाभाविक थी।

समय साढ़े ग्यारह या बारह का हो गया था। अख्तर भाई ने कहा भी कि, भाईजान, घर तक छोड़ जाऊं, मगर मैंने एकदम इन्कार कर दिया। कारण, अख्तर भाई दरवाजे पर पहुंचे और नीलू की ममी उन पर बिगड़ी। खैर, रास्ता तो ऐसा न था कि रात के बारह बजे डर लगे, मगर हां, सुनसान काफी हो जाता था। सड़क की दोनों ओर बने मकानात भी दूर हो जाते थे रास्तों पर बिजली अभी तक नहीं लगी। यह बस्ती ही नई बसी थी। श्रीमती जी की डांट-फटकार सहने के लिए अपने को तैयार करता मैं चला जा रहा था कि अचानक कानों में एक ऐसी आवाज पड़ी, जिस से ठिठक कर मुझे रुक जाना पड़ा। सिर उठा कर देखा, अंधेरा ही अंधेरा, चांदनी रात भी नहीं। बस्ती की सिर्फ दो-चार कोठियों से धीमी रोशनी आ रही थी, नहीं तो सारा राजेन्द्रनगर रात के खामोश अंधेरे में सोया हुआ था।

अचानक फिर आवाज आई, जैसे कोई व्यक्ति दर्द से चिल्लाया हो। आवाज़ दाहिनी ओर से आई थी। उस ओर कान लगाये मैं खड़ा रहा। वैसी ही चिल्लाहट फिर हुई। अब मैं रुक न सका, कदम आवाज की ओर चल पड़े। वह एक अधूरी सी बनी हुई कोठी थी। काम चल रहा था, इसलिए स्थान-स्थान पर चूने-बजरी के ढेर लगे थे। कोठी के पास पहुंचते ही वह चीख फिर सुनाई दी, जैसे किसी को बेरहमी से सताया जा रहा हो। आहट न करता हुआ मैं दाखिल हो गया। सारे दरवाजे और खिड़कियां बन्द थीं। लेकिन ऊपरी रोशनदानों से हल्की रोशनी छन कर आ रही थी। रोशनी लालटेन या लैम्प की ही थी, बिजली की नहीं। एक भारी-भरकम, रोबदार स्वर सुनाई दिया, "सेठ लालचन्द, अब भी इस चैक पर हस्ताक्षर

कर दो और अपनी तिजोरी का पता बता दो, वरना...!"

दृढ़ स्वर में कोई व्यक्ति बोला, "तुम मेरी बोटी बोटी काट दो, लेकिन...।"

तभी तड़ाक् से हन्टर की आवाज कानों में पड़ी और फिर वह व्यक्ति चिल्ला उठा। मैं दरवाजे से सट कर खड़ा हो गया। भीतर देखने का प्रयत्न किया, लेकिन व्यर्थ। कम्बख्त दरवाजों में जरा भी दरार न थी।

पहले वाली भारी आवाज बोली, "इस तरह नहीं मानेगा? रूपा, लक्ष्मी को लाओ।" तभी दूसरा स्वर चीखा, "ओफ, कम्बख्तों! तुम मेरी लड़की को भी ले आये।.....ओह, शैतानों!"

पहली आवाज खिलखिलाहट में बदल गई। इस भयानक खिलखिलाहट से मेरी आत्मा भी कांप उठी।

"सेठ लालचन्द, जोहनासिंह हर तरीके से काम करना जानता है। तुम्हारे सामने तुम्हारी लड़की की दुर्दशा की जाएगी।"

तभी एक कोमल-सी चीख सुनाई दी। लगा किसी लड़की को जबरदस्ती कमरे में लाया गया है।

जोहनासिंह का भारी स्वर फिर सुनाई दिया, "सेठ लालचन्द, अब भी बता दो। रूपा, इस लड़की को इधर लाओ।"

एक धीमी, घुटी सी कोमल चीख सुनाई दी। मेरा खून खौल उठा। भीतर एक सेठ को लूटा जा रहा है, एक लड़की की इज्जत उतारी जा रही है, और मैं खड़ा सुन रहा हूं! यह विचार हृदय में आते ही मैं घूम गया। तभी उस दुष्ट जोहनासिंह का स्वर फिर सुनाई दिया, "रूपा, इस लड़की को कत्ल कर डालो।"

"जोहनासिंह, मुझे बरबाद न कर......जोहनासिंह! लक्ष्मी बेटी!" कातर स्वर बाहर आया।

"रूपा, काम खत्म करो," वह शैतान गरजा।

अधिक सुनने को मैं वहां खड़ा न रह सका। बेतहाशा बाहर की ओर दौड़ा। किसी प्रकार सड़क पर पहुंच जाना चाहता था। अचानक पांव किसी गीली वस्तु पर पड़े और दूसरे ही क्षण धप्प से मैं उस गीले गारे पर गिर पड़ा। मालूम हुआ चूने-बजरी के गारे में धंस गया हूं। भाग्य को कोसता उठा। गीला मसाला शरीर में घुस चुका था। मुंह में चले गये चूने को थूक कर, हथेली से मुंह पोंछ कर फिर भागा। रुकने का काम न था। सड़क पर आ कर दम लिया। पुलिस-चौकी दूर थी। मेरे पैरों में पर लग गए। लेकिन रात अंधेरी थी। रास्ता भी खराब। फिर जगह-जगह ईंट-बजरी के ढेर थे। गीले मसाले में सना बेतहाशा भाग

रहा था। खैर, किसी तरह गिरता-पड़ता, दौड़ता-हांफता, मौलाना साहब के मकान तक जा पहुंचा।

दरवाजा भड़भड़ाते ही मौलाना का कुत्ता, जिस से मैं नफरत करता हूं, भौंक कर मुझ पर टूट पड़ा। कुत्ते से स्वयं को बचाता मैं चिल्लाया, "मौलाना साहब, मौलाना साहब!" मेरा बुरा हाल था। कम्बख्त कुत्ता भौंकता हुआ बार-बार मुझ पर टूटा पड़ रहा था। एक बार शायद मैंने कहा भी, "डिब्बू के सुअर, मैं हूं, मैं।" लेकिन चूने-बजरी के शरीर को सूँघ कर ही शायद वह मेरी इस सच्चाई पर विश्वास न कर सका। हाल यह हुआ कि मेरे हाथों, शरीर और पीठ पर कई जगह उसके पंजों की खरोंच पड गई। अपनी भरपूर शक्ति से दरवाजा पीट कर मैं चिल्ला उठा, "मौलाना साहब, अब हद हो गई। ऐसी भी क्या कम्बख्त नींद! उठिए!" मेरा यह चिल्लाना काम कर गया।

मौलाना साहब की नींद भरी आवाज सुनाई दी, "कौन है, बे?"

"मैं हूं, मैं, मौलाना साहब," मैंने कहा।

" 'मैं' कौन?"

"मौलाना साहब, दरवाजा तो खोलिए," कुत्ते से बचता मैं चिल्लाया।

"दरवाजा क्या तेरे बाप का है, बे? साले, भरवां से खोपड़ी तोड़ दूंगा। कोई और मकान नहीं मिला?"

क्रोध तो मुझे बहुत आया, मगर मजबूर था। दरवाजे से मुंह लगा कर बोला, 'मौलाना साहब, मैं हूं बिशनदयाल।"

"कौन बिशनदयाल?' मौलाना ने उसी स्वर में पूछा।

कमीना कुत्ता बुरी तरह परेशान कर रहा था। लातों से उसे दूर भगाता भगाता थक गया था। जल्द से जल्द उस घटनास्थल पर पहुँचने के लिए मैं पागल हो रहा था। इधर मौलाना यों देर कर रहे थे। चिढ़ कर बोला, "मैं हूं बिशनदयाल, तुम्हारा दोस्त बिशनदयाल।"

खैर, मौलाना साहब ने दरवाजा खोला। वह एक हाथ में लालटेन और दूसरे में एक मोटा सा डंडा लिए खड़े थे। मेरे आगे बढ़ते ही फुरती से उन्होंने वह लालटेन फरश पर रक्खी और दोनों हाथों से पकड़ कर डंडा ऊपर उठाया, गोया इसके लिए वह पहले ही तैयार खड़े थे। यदि मैं भी फुरती से आगे बढ़ कर उनके हाथ का डंडा पकड़ न लेता, तो मेरी खोपड़ी लहूलहान थी। जब उन्हें समझाया गया कि मैं ही उनका दोस्त बिशनदयाल हूं, तो वह भौंचक्के से हो कर मेरी ओर देखने लगे। बोले, "क्यों, म्यां बिशनदयाल, यह शरीफों के आने का कौन सा वक्त है? और वह भी इस

हालत में ?"

मैं झल्ला उठा। बारह बजे लोगों को घर भेजना शरीफों का काम है और उसके जरा बाद ही लौट कर इनके यहां आना शरीफों का काम नहीं ! खैर, इन सब बातों के लिए समय नहीं था। शीघ्रता से सारी परिस्थिति से मैंने उन्हें अवगत कराया।

वह फुरसत से बोले, "चुनाँचे तुम मसाले से पुत गए हो, इसलिए अख्तर के कपड़े जा कर पहन लो। तब बैठ कर राय क़ायम करेंगे गोया क्या करना चाहिए।"

मैं क्रोध से आगबबूला हो उठा। इधर एक भले आदमी की सारी ज़िन्दगी की कमाई लूटी जा रही है और एक लड़की को क़त्ल किया जा रहा है और इधर मौलाना आराम से राय क़ायम करने की बात कर रहे हैं ! मैंने उन्हें झकझोरते हुए कहा, "आप जल्दी से अपनी बन्दूक ले लें और पड़ोस के दो-तीन जवानों को भी। मैं अख्तर भाई को जगाता हूं।" मौलाना ने मुझे समझाने की कोशिश की, लेकिन मैं उन्हें वहीं छोड़ अख्तर भाई के कमरे की ओर लपका।

खैर, कुछ देर बाद गारे में लिपटा बदहवास सा मैं, अख्तर भाई और पड़ोस के दो और तगड़े जवान तथा बन्दूक कंधे पर लादे मौलाना साहब घटनास्थल की ओर चल पड़े। तेजी से कदम बढ़ाते हुए, धीमे स्वर में मैं उन्हें परिस्थिति समझाता जा रहा था। वह जगह अब निकट ही थी। तभी मौलाना साहब चौंकते हुए बोले, "ओफ् ओ ! म्यां बिशनदयाल, बारूद लाना तो मैं भूल ही गया !"

सिर से पैर तक मैं जल उठा। जी चाहा कि मौलाना की लम्बी दाढ़ी नोच लूँ और चीख़ कर कहूं—"तो क्या बंदूक अपने सिर पर मारने लाये हो ?" लेकिन बात दिल ही दिल में घुट कर रह गयी। अख्तर भाई की हंसी छूट पड़ी। अब बारूद लेने लौटा तो जा नहीं सकता था। खैर, किसी प्रकार घटनास्थल पर पहुंचे। पांचों व्यक्ति दबे पांव आगे बढ़ रहे थे। रोशनदान से रोशनी अब भी आ रही थी यह देख कर सन्तोष हुआ। किन्तु दिल धक् धक् कर रहा था कि न जाने अब तक क्या कुछ हो चुका हो !

सहन में खड़े हो कर हम ने आहट लेने का प्रयत्न किया, किन्तु भीतर बिलकुल सुनसान लगता था। तभी उस शैतान, डाकू जोहनासिंह का स्वर सुनाई दिया, "अब चला जाए। बहुत रात बीत गई है।"

सुनते ही मेरे होश गायब हो गए। लगा कि वह अपना काम समाप्त कर चुका है और अब वे लोग भागने की तैयारी में हैं। मौलाना साहब

बोले, "किवाड़ तोड़ डाले जायें।"

अख्तर भाई नहीं माने। उनकी राय थी कि चार आदमी मकान की चारों तरफ चले जायें और मौलाना साहब बन्दूक लिए दरवाजे पर खड़े रहें—तब मौलाना आवाज दें। लेकिन चारों को अलग-अलग जाना मंजूर न था, और न ही मौलाना साहब अकेले, बिना बारूद की बन्दूक ले कर आवाज देने को तैयार थे। खैर, शीघ्र ही निश्चय किया गया कि अख्तर भाई आवाज दें। बाकी सब चुपचाप सावधानी से खड़े रहें। आगे जैसा होगा देखा जाएगा।

गला साफ कर, दरवाजे के किनारे से भर्राये स्वर में अख्तर भाई ने आवाज दी, "दरवाजा खोलो!"

भीतर सन्नाटा छा गया।

मौलाना साहब बोले, "ऐसे काम नहीं चलेगा। शैतान भाग जायेंगे। पांचों जने दरवाजे को धक्का दे कर तोड़ डालें। बढ़ो, भागने न पायें।"

और धडाक् धडाक् दरवाजे पर धक्का दिया गया।

"कौन है?" भीतर से आवाज आई।

मेरा रक्त जम गया। स्वर जोहनासिंह का था। अब अपनी गलती महसूस हुई। सोचा पुलिस स्टेशन को क्यों न खबर कर दी जाए। डाकू हथियारों से लैस होंगे। रिवाल्वर, छर्रे....खून जम गया। दिल की धड़कन बढ़ गई। नीलू और उसकी ममी की चिन्ता हो आई। हाय, मैं चला गया तो उनका क्या होगा! किस कुघड़ी में आज मौलाना के यहां गया! सुबह जाने किस मनहूस का मुंह देख कर उठा था!

अख्तर भाई ने हिम्मत बांध कर कहा, "हम हैं तुम्हारी मौत के फरिश्ते। दरवाजा खोलो।"

आहिस्ता से दरवाजा खुला। मेरे कदम स्वयं ही पीछे हट गए। छूटने वाली रिवाल्वर की पहली गोली से मैं खुद को बचाना चाहता था। मौलाना साहब ने अख्तर भाई के पीछे से ही खाली बन्दूक तान ली। दोनों जवान सीधे खड़े हो गए। दरवाजा पूरा खुल गया। दो व्यक्ति दरवाजे के भीतर लैम्प लिए खड़े दिखाई दिए।

जोहनासिंह का स्वर फिर सुनाई दिया, "अरे, मौलाना साहब, आप! कैसे तशरीफ लाये इतनी रात को?"

मौलाना साहब की बन्दूक नीची हो गई। धीरे-धीरे वह आगे बढ़े, पीछे-पीछे हम भी।

वही जोहनासिंह का स्वर था, "तो आप लोग हमारी रिहर्सल

देखने आये हैं! पहले ही खबर कर देते। रास्ते में परेशानी न होती। लेकिन आज की रिहर्सल तो समाप्त हो गई है।"

मौलाना साहब ने घूम कर मेरी ओर देखा। उनके होंठ फड़फड़ाये, शब्द मुंह से निकले, "बिशनदयाल, म्यां, यह माजरा क्या है?"

और मैं गारे में लिपटा खड़ा उनकी चढ़ी त्योरियों के साथ खाली बंदूक को निहार रहा था।

छब्बीस जनवरी को खेलने के लिए बस्ती के कुछ नौजवान एक नाटक की तैयारी कर रहे थे।

● ● ●
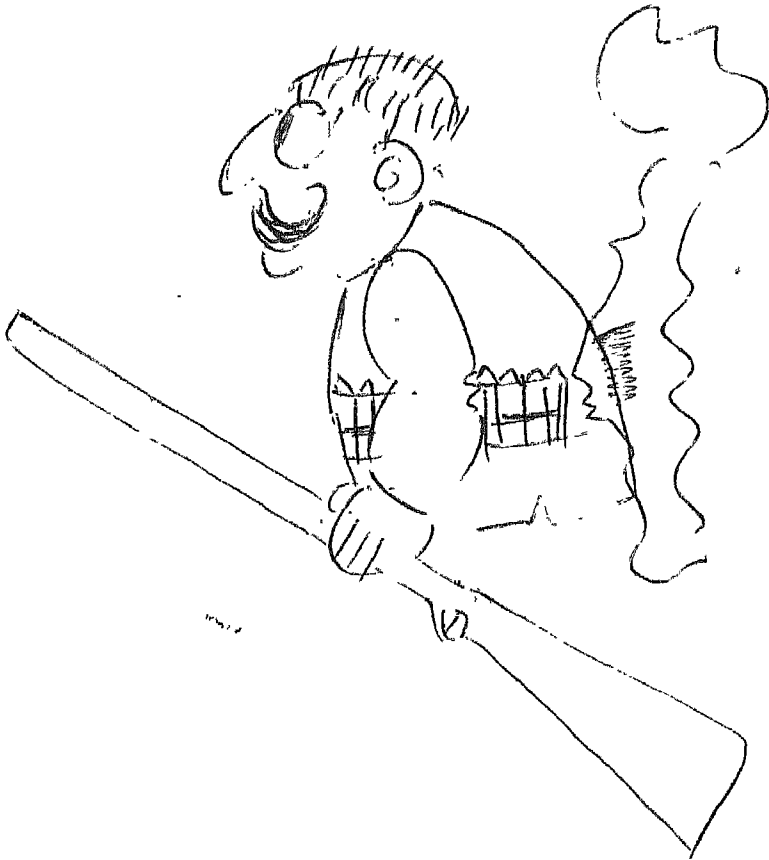
★ रामकुमार ओझा

भाई रामकुमार उस तबके के आदमी हैं, जो भावी क्रांति का अग्रदूत होता है— इसी लिए बड़ी बड़ी आकांक्षाएं और उन को पूर्ण करने के लिए मन में उतनी ही विकल तरंगें। 'मुर्गी हत्याकांड', 'मरियम का मजार', 'मन्त्री-मंडल का विस्तार' जैसी कहानियां तथा 'कुत्ता कमीशन' व 'उद्जन के बाद' जैसे मनोरंजक एकांकी आप ने लिखें...और अभी बहुत कुछ लिखेंगे—क्यों कि राम-कुमारों ने जब अश्वमेध का घोड़ा पकड़ा था, तब उन्हें यह कहां मालूम था कि वे वास्तव में रामकुमार हैं !

आयु में रामकुमार जी एक प्रकार से मेरे ही जुड़वां भाई हैं। अल्पायु में ही आप पिता की स्नेह-छाया से वंचित हो गए। लिखने का आरम्भ चौथी श्रेणी से ही हो गया था और तभी एक रचना 'दीपक' नामक पत्र में प्रकाशित हुई थी। किन्तु विशेष विकास के लिए आसपास का क्षेत्र आप को बहुत ऊसर मिला। एक कविता-संग्रह 'निशीथ' नाम से प्रकाशित हो चुका है। 'प्रजा परिषद' में उत्साह के साथ भाग लेने के कारण पढ़ना-लिखना छोड़ना पड़ा। बाद में प्राईवेट ही मैट्रिक, प्रभाकर, साहित्य-रत्न आदि परीक्षायें पास कीं। अब नोहर, राजस्थान, के एक हाई स्कूल में अध्यापक हैं।

प्रस्तुत कथा 'उद्घाटन भाषण' आप की व्यंग्य-लेखनी का एक नमूना है। भाई रामकुमार जी की लेखनी के नमूने के रूप में हम एक अन्य रचना इस के स्थान पर प्रस्तुत करना चाहते थे, किन्तु अनेक प्रयत्नों के बाद भी वह और हम उस रचना को उस पत्रिका से प्राप्त नहीं कर पाए, जिसने नए लेखकों को बढ़ावा देने के शुभ-कार्य के साथ साथ प्रारम्भिक पारिश्रमिक में ही उन की रचनाओं का समस्त कापीराइट ले लेने का नियम बना रखा है। भाई रामकुमार जी अब कभी अपनी उन श्रेष्ठ कथाओं का अन्य संकलनों में संग्रह, अन्य भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में अनुवाद आदि नहीं करा सकेंगे, क्यों कि उपरोक्त कापीराइट-होल्डर महोदय का यह विश्वास है कि यह सद्बुद्धि अन्य भाषाओं के प्रकाशकों को आनी चाहिए, जो सीधे कापीराइट-होल्डर से संपर्क स्थापित करें ! हमारी भी यही शुभ-कामना है कि उन लोगों को इसी जीवन में यह सद्बुद्धि आ जाए ! इन सब अड़चनों के होते हुए भी ओझा जी ने हमारे विशेष आग्रह पर यह नई रचना हिन्दी कहानीकार संसद भेंट की, इस के लिए हम उन के आभारी हैं।

—*नोहर (राजस्थान)।*

● उद्घाटन–भाषण

एक सप्ताह बाद मन्त्री महोदय को अपने ही निर्वाचन-क्षेत्र के एक गांव में आदर्श कुक्कुटालय की इमारत का उद्घाटन करने के लिए जाना था। समस्त आवश्यक तैयारियां हो चुकी थीं, पर एक अत्यावश्यक कार्य करना अभी बाकी था, यानी हज़ार प्रयत्नों के बावजूद भी समयोचित भाषण अभी न लिखा जा सका था। अतः आप चिन्तापूर्ण मुद्रा में बैठे थे और झुंझला पड़ने की भी सम्भावना थी।

पर मन्त्री महोदय से भी कई गुना अधिक चिन्तित और खिन्न उन के पर्सनल एसिस्टेंट, स्टाफ के अन्य कर्मचारी और कृपा-पात्र थे, क्यों कि उन की कार्य–पटुता और कौशल कसौटी पर थे। सारा भाषण तो उन्हीं लोगों को लिखना था। मन्त्री महोदय का काम तो केवल पांडुलिपि को देख कर हस्ताक्षर भर कर देना, और फिर प्रतियां छप कर आ जायें तो उन्हें एक बार पढ़ भर लेना था, ताकि समय पर शब्द–योजना के अनुकूल भाव-प्रदर्शन में दिक्कत न हो।

पर यह सब तो तब हो न जब भाषण लिख कर तैयार कर दिया जाये। वैसे तो भाषण एक बार नहीं, पूरे ग्यारह बार लिखा जा चुका था, पर मुख्य मन्त्री महोदय ने हर बार उस के अधिकांश से असहमति प्रकट की और पुनः लिखने का अनुरोध किया।

दरअसल मन्त्री महोदय इस भाषण को अत्यधिक महत्त्व दे रहे थे, क्यों कि एक तो यह अपने ही चुनाव–क्षेत्र का मामला था और दूसरे इस अवसर पर केन्द्र के दो–एक मन्त्रियों के भी आने की संभावना थी। अतः इस अवसर के लिये आप ऐसा भाषण चाहते थे जो समयोचित, विद्वत्तापूर्ण, रोचक, प्रभावोत्पादक, प्रचारात्मक वगैरह सब कुछ हो।

इस नाकामयाबी के लिये पी० ए० महोदय सब से ज्यादा बदनाम हो रहे थे। अतः अन्त में उन को ही हल भी खोज निकालना पड़ा। मन्त्री महोदय बड़ी देर से उदासीन मुद्रा में बैठे थे कि तभी वह वहां आ कर बोले— "सरकार, एक बात सूझी है। आज्ञा हो तो निवेदन करूँ।"

"हां, हां, कहिए," मन्त्री महोदय खिड़की की ओर ताकते हुए बोले।

"मेरा ख्याल है कि सारा भाषण कोई एक आदमी न लिखे। यदि अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग टुकड़ों में लिखे तो काम आसानी के साथ निबट जाये।"

"और फिर उसे दस–बीस महानुभाव अलग-अलग मौकों पर भिन्न-भिन्न ढंग से पढ़ें तो मजा आ जाये ! क्यों, यही तो मतलब है न आप का, मिस्टर धारीवाल ?" मन्त्री महोदय कटुता के साथ बोले। पर मि० धारीवाल ने धैर्य न खोते हुए बात जारी रखी—

"जी नहीं, मैं अभी अपना आशय प्रकट ही कहां कर पाया हूं। भाषण तो केवल एक ही तैयार होगा। अलग-अलग तो केवल नोट्स भर लिये जायेंगे।"

अब मन्त्री महोदय भी बात समझे और तनिक उत्साह के साथ बोले, "ठीक तो है, एक बार ऐसा ही कर देखिए।"

पी० ए० महोदय नये सिरे से काम में जुट गये। पिछले भाषणों में की गई गल्तियों का सर्वेक्षण किया और नई रूपरेखा तैयार की :

'*क्यों कि विषय सीधा मुर्गों से सम्बन्धित है, अतः भाषण के पूर्वार्द्ध* में ही उन के इतिहास, प्रगति, विकास और उपयोग आदि का विवरण होना चाहिये। पर भवन तो पंचवर्षीय योजना के सिलसिले में बना है, इसलिए योजना का एकदम मौलिक ढंग से जिक्र किया जाए, ताकि मन्त्री महोदय को उस में घिसी-पिटी पृष्ठ-पेषणात्मक शैली की बू तक न आ पाये; और जब पंचवर्षीय योजना का जिक्र आता है, तो देश की अर्थ-व्यवस्था का वर्णन करना भी आवश्यक हो जाता है। चूंकि अर्थ-व्यवस्था का सीधा सम्बन्ध समाज से है, अतः भाषण में समाज-शास्त्र की विशद् व्याख्या तो होनी ही चाहिये।'

इस प्रकार तैयारी कर आप ने न केवल अपने ही स्टाफ के, बल्कि विभिन्न मन्त्रालयों के भी प्रशिक्षित कर्मचारियों को इस काम में नियोजित कर दिया। स्थानीय कालिजों के समाज-शास्त्र, जीव–विज्ञान और अर्थ के विशेषज्ञों तथा विश्वस्त प्राध्यापकों को भिन्न-भिन्न विषयों का मुखिया बना कर उन्हें कई-कई सहायक दे दिए गए और जोरशोर से काम होने लगा। साधारण क्लर्क तक इधर-उधर पुस्तकालयों आदि में दौड़–दौड़ कर आवश्यक सामग्री इकट्ठी करने लगे। अजीब मुस्तैदी और कार्यदक्षता का वातावरण पैदा हो गया। 'इलेक्शन अर्जेन्ट' के समान ही 'स्पीच अर्जेन्ट' के रुक्के चलने लगे। हज़ार आवश्यक कार्य रोक कर भी कर्मचारीगण इस कार्य–सम्बन्धी आदेश की पूर्त्ति में जुट जाते। जरा से विवरण की खोज के लिए फाइलों के ढेर के ढेर मुख्य मन्त्री महोदय की कोठी पर पहुंचने लगे।

कुछ मसखरों ने इस सप्ताह का नाम रखा 'भाषण सप्ताह'। पंच–वर्षीय योजना सम्बन्धी आंकड़े और समाज–विज्ञान के उद्धरण तो आसानी से जुटा लिए गए, पर जीव-विज्ञान कमेटी बड़े चक्कर में पड़ी थी। बेचारे

प्रोफेसर महोदय सैंकड़ों पुस्तकें उलट गए, पर मुर्गे सर्वप्रथम किस देश में पैदा हुए और उन के क्रमिक विकास का क्या इतिहास है, इस का पता न लग सका। फिर उन की आदतों और जातियों पर भी एक विवाद उठ खड़ा हुआ। इस प्रश्न पर भी झमेला खड़ा हो सकता था कि पहले मुर्गी पैदा हुई या अण्डा। तभी गाड़ी इस विषय पर आ कर रुक गई कि संसार भर में कुल कितने मुर्गे और मुर्गियां हैं तथा वे साल भर में कितने अण्डे पैदा करते हैं। यूनेस्को की रिपोर्टों में भी इस सम्बन्ध में विश्वस्त आंकड़े नहीं मिल पाये, तो बेचारे जीव-शास्त्री सिर पकड़ कर बैठ गए।

जब सिर्फ दो दिन शेष रह गये और मुर्गों-सम्बन्धी भाषण का प्रथमांश भी तैयार न हो पाया, तो पी० ए० महोदय को इस कमेटी के काम में हस्तक्षेप करना पड़ा। प्रोफेसर महोदय की कठिनाइयों का विवरण सुन आप इस गाढ़े समय में भी हंस पड़े और बोले —"महाशय जी, संसार भर की सभी बातें पुस्तकों में नहीं मिला करतीं। अधिकांश की तो मौलिक सृष्टि ही करनी पड़ती है। अब यही मुर्गों के मादरे-वतन का ही प्रश्न ले लीजिए। इस सम्बन्ध में आप आसानी से लिख सकते हैं कि मूल रूप से मुर्गे की पैदाइश इसी मुल्क में हुई है। वेद-पुराणों और वाल्मीकि रामायण में इसे अरुण-शिखा कह कर संबोधित किया गया है। यहां से श्रीधर श्रेष्ठी नामक एक सार्थवाह इस जाति के जीवों को सर्वप्रथम छठी शताब्दी ईस्वी-पूर्व में अरब देश ले गया। इस स्थान के गरम वातावरण में यह जाति खूब फली-फूली और इस का आकार-प्रकार बहुत कुछ चित्ताकर्षक बन गया। इसी सिलसिले में कुछ और भी जोड़ दीजिये। बस, मुर्गों के ऐतिहासिक विकास की कहानी तैयार हो जाएगी। संख्या का प्रश्न तो बड़ी आसानी से हल हो सकता है। कोई भी बड़ी सी संख्या रख कर पचास-साठ या सौ से आप उसे गुणा कर दीजिये। तुरन्त मुर्गे-मुर्गियों के साथ साथ अण्डों की भी संख्या निकल आयेगी। यदि आंकड़ों सम्बन्धी यह झमेला आप से हल न हो पाये तो अपने किसी मित्र या परिचित गणित-अध्यापक से यह सब करवा डालिये।"

प्रोफेसर ने पी० ए० महोदय के फार्मूले के मुताबिक काम किया तो पलक मारते सारी पहेली हल हो गई।

रूपरेखा तैयार हो जाने पर पी० ए० महोदय सारी सामग्री का एकीकरण कर भाषण का रूप देने बैठे। पर बात बनी नहीं। वैसे तो आप आज तक सैंकड़ों भाषण लिख चुके थे, लेकिन इस भाषण की बात कुछ और थी। ग्यारह बार असफल हो बड़े-बड़े योद्धा मैदान छोड़ भागे थे। फिर बेचारे पी० ए० महोदय की तो बात ही क्या थी।

अतः फिर वही क्रम चला। हिन्दी के एक सिद्धहस्त प्राध्यापक की मांग हुई। शब्द-कोश इकट्ठे किए गये। प्रभावोत्पादक उद्धरणों का जमघट लग गया। गुरु-गम्भीर, विद्वत्तापूर्ण शैली, सरस सुन्दर मुहावरों तथा हास्योत्पादक लतीफ़ों के नगीने जड़े गये। प्रातःकाल होते-न-होते भाषण तैयार हो गया। पी० ए० महोदय पूर्ण विश्वास के साथ पाण्डुलिपि ले कर मन्त्री महोदय के पास पहुंचे।

पर उस समय मन्त्री महोदय अजीब उलझन में फंसे थे। बार–बार सोचने पर भी आप यह तय न कर पा रहे थे कि मुर्गा पशु श्रेणी का प्राणी है या पक्षी वर्ग का जीव। अन्त में आप ने प्राणी-शास्त्र के प्राध्यापक महोदय से परामर्श करने का निश्चय किया। तभी पी० ए० महाशय आ पहुँचे। आप ने सोचा, चलो इस प्रश्न का उत्तर अब भाषण में ही मिल जायेगा। प्रोफेसर साहब ने इस का ज़िक्र अवश्य किया होगा। अतः आप सारा भाषण आद्योपांत पढ़ गये, पर अपने प्रश्न का उत्तर कहीं नहीं मिला तो झुंझला उठे।

"आखिर यह क्या बात है? आप लोगों ने इस बात का कहीं जिक्र तक न किया कि मुर्गा पशु श्रेणी का प्राणी है या पक्षी वर्ग का!"

लोग फिर चक्कर में पड़ गये। पी० ए० महोदय भी इस पहेली का उत्तर न दे सके। पर अब इतना समय न था कि इस प्रश्न पर बहस की जा सके। अतः मन्त्री महोदय का प्रश्न कबाब में हड्डी के समान अटका रहा और पाण्डुलिपि प्रेस में दे दी गई। समय इतना तंग था कि मन्त्री महोदय के स्पेशल ट्रेन में बैठ जाने के बाद छपे हुए भाषण की दो हजार प्रतियां उन की बगल में ला कर रख दी गयीं। ट्रेन रवाना हो गई, पर आप अब भी उदास थे, क्यों कि आप का भाषण अधूरा था। आप के मस्तिष्क में एक ही प्रश्न दौड़ रहा था:

मुर्गा पशु श्रेणी का प्राणी है या पक्षी–वर्ग का जीव?

●●●

कहानी कैसे लिखें?

★ व्यवहार-पक्ष

★ रचना-पक्ष

● व्यवहार–पक्ष

'हिंदी कहानीकार संसद', उस के त्रैमासिक मुखपत्र 'कहानीकार' तथा 'कथायन' के संकलन का आंदोलन जब से चला, तब से मेरा यह सौभाग्य रहा है कि नई पीढ़ी के सैंकड़ों उठते-उभरते कथाकारों से मेरा संपर्क बना। यदि मुझे कटु सत्य प्रकट करने की छूट दी जाए, तो मैं कहूंगा कि उन में से अनेक साथी ऐसे हैं, जिन्हें कभी कथाकार नहीं बनना है। इस का कारण यह है कि कहानी लिखने से पहले ही उन के मन में अपने बड़े भाइयों, संपादकों, तथा प्रकाशकों की ओर से इतना अधिक संशय सिर उठा लेता है कि इस दिशा में उन के सारे प्रयत्न अंगरेजी शब्द 'फ़स्ट्रेशन' (निराशा) के मानों में होते हैं। कुछ करने-धरने से पहले ही वे साहित्य-संसार को अपना शत्रु अथवा विरोधी मान लेते हैं। इस से उन का स्वपक्ष इतना गरम हो जाता है कि उन के कथाकार का गर्भपात ही हो जाता है।

पहले दूसरों की सराहना करें

एक सफल कथाकार बनने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम उन कथाकारों की सराहना करना सीखें, जो हम से पहले इस क्षेत्र में अपना खूनपसीना बहा चुके हैं। हमारे भीतर कहानी लिखने तथा पत्र-पत्रिकाओं व पुस्तकों में अपना नाम छपा देखने की चाह उन्हीं की रचनाओं को देखने से उत्पन्न होती है। यह एक बहुत आम बात है कि भारत में निरक्षरता ८० प्रति शत से भी ऊपर होने के कारण पत्र–पत्रिकाओं अथवा पुस्तकों की मांग इतनी अधिक नहीं है, जितनी नये साहित्यकारों की उपज। इस का परिणाम यह होता है कि नये कथाकार को उभरने के लिए भारी संघर्ष करना पड़ता है। आश्चर्य तो तब होता है, जब नये लिखने वाले भी पढ़ने और अच्छी रचनाओं की सराहना से दूर भागने लगते हैं! वे स्वयं मांग कर पढ़ने में विश्वास रखते हैं और यह कामना करते हैं कि उन की अटपटी कलम से निकली पहली ही रचना दूसरे लोग पूंजी लगा कर छापें और वह बाजार में बिके।

संसार में जितने साहित्यकारों ने प्रसिद्धि प्राप्त की, उन में कोई ऐसा नहीं होगा, जिस ने अपने पूर्वजों अथवा समकालीन साहित्यकारों की रचनाओं का डट कर अध्ययन न किया हो, और उन में जो अच्छी बातें मिलीं, उन्हें अपना कर कोई नई और आगे की चीज प्रस्तुत न की हो। अनेक

साहित्यकारों की स्वय की बहुत बड़ी लायब्रेरी रही है और उन्हों ने भूखे रह कर या घी-दूध का त्याग कर के पुस्तकें खरीदी हैं। ये पुस्तकें बाद में चल कर उन के संदर्भ-ग्रंथों का काम देती हैं और एक तरह से कथा-शिल्प अथवा साहित्य-शिल्प के अभ्यास में उन के औज़ारों का काम देती हैं। बहुत सी रचनायें ऐसी होती हैं, जो जीवन भर याद रहती हैं, बहुत से कथाकार ऐसे होते हैं, जो जीवन भर नहीं भूलते। वे हमारे आदर्श लेखक होते हैं। अगर हम विकसित युग की विकसित उपलब्धियों के बल पर कोई नई चीज़, नई दिशा, नये सकेत, नये मान-उपमान साहित्य को देने में समथ होते हैं तो उन की नींव में निरे हमारे ही गुण नहीं होते। उदाहरण के लिए जिस व्यक्ति ने सर वाल्टर स्कौट, अलेग्ज़ेंडर ड्यूमा, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, वृन्दावनलाल वर्मा के साहित्य की विशेषताओं की सराहना स्वतः अथवा प्रकट रूप में न की हो, उस के लिए नये युग के अनुरूप ऐतिहासिक कहानी लिखना आत्मप्रवंचना होगी।

अपरिपक्वता और प्रोत्साहन

ऐसे कथाकार बिरले ही होते हैं, जिन की पहली रचना ही उछल कर एकदम चोटी पर जा पहुंचे। ऐसा हो जाये, बड़ी अच्छी बात है, किंतु ऐसी कामना रख कर नहीं चलना चाहिए। विफलता की अवस्था में इस से हतोत्साह होना पड़ता है। कुछ पत्र-पत्रिकायें अथवा प्रकाशक इस बात का दावा करते हैं कि वे नये लेखकों को प्रोत्साहन देते हैं। हो सकता है कि उन का यह नेक इरादा काफी मज़बूत हो, मगर नए लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि सामान्यत: पहली बहुत सी रचनाएँ अपरिपक्व होती हैं यानी पाठक की खरीदारी की दृष्टि से देखा जाए, तो बाजार में उन का मूल्य घिसेपिटे लेखकों की रचनाओं के मुकाबले कम होता है। भले ही नये युग की नई मांग को आगे चल कर ये नये लेखक ही पूरा कर पाएँ। साहित्य के इस प्रकार करवट लेने से पहले जो प्रकाशक उन की रचनाओं को आगे बढ़ कर छापता है उस के अन्तर्मन तथा परोक्ष में कुछ स्वार्थ काम करते हैं, जिन में से कुछ ये हैं :

१. हो सकता है कि कुशल लेखकों की रचनाओं के अनुरूप वह पारिश्रमिक देने की अवस्था में न हो, और नए लेखक को प्रोत्साहन देने के नाम पर वह रचनाओं के बदले या तो कुछ भी न दे कर काम निकालना चाहे या काफी कम दे।

२. हो सकता है कि व्यक्तिगत रूप से वह इतना अहंवादी हो कि पुराने लेखकों के नखरे बरदाश्त न कर पाता हो।

३. हो सकता है कि अपने स्वस्थ सम्पादन तथा उत्तम प्रकाशन के बल पर वह, नए लेखकों को प्रोत्साहन देने के नाम पर, उन की रचनाओं का कापीराइट सदा सदा के लिये ले कर भारी लाभ की कोई भारी योजना बना रहा हो। पुराने लेखक अपनी रचनाओं का कापीराइट देना पसंद नहीं करते, क्यों कि इस से न केवल रचनाओं का प्रचार-प्रसार रुक जाता है, बल्कि अन्य भाषाओं में उन के अनुवाद तथा जीवन भर उन की रायल्टी पाने के अवसर समाप्त हो जाते हैं। जो पत्र-पत्रिकाएँ इस प्रकार पहली ही झोंक में लेखक की सम्पति छीन लेती हैं उन में से कुछ की ओर से लेखक को यह सुविधा भी मिलती है कि वह अपने निजी संकलन में उन रचनाओं को संकलित कर सकता है। किंतु यह सुविधा केवल एक भाषा के लिये ही रहती है और सारी रोटी हज़म कर एक टुकड़ा छोड़ देने वाली बात है।

अत: प्रोत्साहन मुफ्त में नहीं मिलता। उस की आवश्यकता से अधिक कीमत नये लेखक को चुकानी पड़ती है। इस का यह अर्थ भी नहीं है कि ऐसी पत्र–पत्रिकाओं को नया लेखक रचना ही न भेजे। भेजे यदि आवश्यक हो, किंतु ऊपर के सारे पहलू ध्यान में रख कर। आगे चल कर वह कहीं ठगा सा खड़ा न रह जाए।

शिकायतों का अंबार

जैसा कि हम कह आए हैं, नए लेखक के पास अपने बड़े भाइयों, संपादकों व प्रकाशकों के प्रति शिकायतों का एक अंबार रहता है। इन शिकायतों में जहां बहुत-कुछ तथ्य भी निहित रहता है, वहां कुछ वहम भी पलते हैं। ये वहम लेखन व प्रकाशन के व्यापार की ओर से न्यूनाधिक अज्ञानता से उत्पन्न होते हैं। नये साथियों की कुछ शिकायतें ये हैं :

१. संपादक लोग लड़कियों की रचनाएँ अधिक प्रसन्न हो कर छापते हैं, या पुराना नाम देख कर रचना प्रकाशित करते हैं।

२. संपादक व प्रकाशक नए लेखकों की रचनाओं के प्रति लापरवाही बरतते हैं और प्राय: पत्रों के उत्तर नहीं देते या रचनाएँ हज़म कर जाते हैं। छापने पर पता नहीं देते, पैसा नहीं देते अथवा अपने पत्र की वाउचर प्रति नहीं भेजते।

३. संपादक रचनाओं के प्रकाशित करने में महीनों, कभी कभी वर्षों लगा देते हैं।

४. कुछ संपादक उत्तम रचनाओं को छोड़ कर हीन कोटि की रचनाएँ छापते हैं, जिस से उत्तम साहित्य को प्रोत्साहन नहीं मिलता।

५. संपादक-जन रचनाओं में काट-छांट कर के लेखक की महत्ता को

चुनौती देते हैं।

ये सारे आरोप सही हैं। ये सारे आरोप ग़लत हैं। ऐसा होता भी है और नहीं भी होता। न संपादक लोग देवता हैं, न बेचारे दानव हैं। संपादक लेखक व प्रकाशक के बीच की एक कड़ी है और एक प्रकार से वह दो पाटों के बीच में रहता है। वह लेखन का प्रकाशन से नाता जोड़ता है, इसलिये अपनी व्यक्तिगत झखों अथवा नितांत व्यक्तिगत आवश्यकताओं से भी त्रस्त हो सकता है। वह रात-दिन परिश्रम करने वाला भी हो सकता है और मन का मौजी भी हो सकता है। किन्हीं अवस्थाओं में वह भी मजबूर होता है—प्रकाशक के द्वारा नियुक्त किया हुआ एक मज़दूर होता है। ऊपर की शिकायतों को वहम की सीमा तक मन में प्रश्रय नहीं देना चाहिए, क्यों कि उन के निम्नलिखित उत्तर हो सकते हैं :

लड़कियों से अथवा उन के नाम से आकर्षित होना एक पुरुषोचित दुर्बलता है, जो मात्र संपादकों पर ही आरोपित नहीं होनी चाहिए। यह अपना अपना नैतिक स्तर है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुविधानुसार ऊँचा या नीचा बनाने से नहीं चूकता। लेकिन पुराना नाम देख कर रचना छापने की एक बहुत ठोस वजह है। प्राय: प्रकाशक संपादन–विभाग में कम स्टाफ़ रखते हैं, जिस के ज़िम्मे आई हुई डाक को रजिस्टर में चढ़ाना, पढ़ना, यथोचित उत्तर देना, फ़ाइलों में संजोना, पांडुलिपि के अक्षर–विन्यास तथा विरामादि चिह्नों को पत्र की शैली के अनुरूप सुधारना, आवश्यकतानुसार संशोधन, प्रेस-संबन्धी निर्देशन अंकित करना, प्रेस-प्रूफ़ों का कई कई बार संशोधन, अंतिम प्रेस-प्रूफ़ों को डमी पर सुन्दरता के साथ चिपकाना, अंतिम पेज-प्रूफ़ देखना—और इस के बाद, यदि पत्रिका छोटी-मोटी है, तो डिस्पैच आदि का सारा कार्य—इतने भार रहते हैं।

मुझे विश्वास है कि इस सारी कार्य-प्रणाली को अधिकांश नए साथी या तो जानते ही नहीं, या इस के भीतर निहित कार्य–भार की गुरुता और उत्तरदायित्व को सही–सही नहीं आंक पाते। इस में कोई संदेह नहीं कि यदि स्टाफ़ पूरा हो, तो यह सारा काम एक सुविधा-पूर्ण प्रणाली में स्वत:–चालित हो सकता है—मगर अनेक चोटी के पत्रों में भी पूरा स्टाफ़ नहीं है यह एक तथ्य है, और इस का कारण यह है कि प्रकाशकों ने नए लेखकों को कृतार्थ करने का ठेका नहीं ले रखा है! जहां तक गालियों का सवाल है, उन के लिए प्रधान संपादक काफी समझा जाता है! ऐसे में यदि नए लेखकों की अटपटी पांडुलिपियों में दुगुना श्रम करने की अपेक्षा बेचारा संपादक पुराने लेखक पर विश्वास कर के अपना काम चला लेना चाहे, तो वह ऊपर की अनेक प्रक्रियाओं से बच निकलता है। पत्रों के उत्तर न आने

आदि का भी कारण यही है। मूल में बात यही है कि पाठक कम हैं, रचनाओं की खपत उसी के अनुपात से कम है, पूर्ति अधिक है और प्रतिद्वन्द्विता अधिक है।

जहां तक हीन कोटि की रचनाओं का सवाल है, यह बहुत कुछ पत्र की नीति, उस के विशिष्ट पाठक–वर्ग का सस्तापन अथवा मंहगापन, और उस के प्रकाशक व संपादक की रुचि-अरुचि पर निर्भर करता है। विशिष्ट हिन्दी पत्रिकाओं में सरिता, ज्ञानोदय, मानव, माया, मनोहर कहानियां, मनोरमा आदि, कुछ फिल्मी पत्रिकायें, तथा दिल्ली व उत्तर प्रदेश से अलग प्रदेशों की चलती हुई अनेक पत्रिकायें हैं। सब का पाठक-वर्ग अलग–अलग है।

रचनाओं की काट–छांट करने का मूल अधिकार सम्पादक का होता है और इस बारे में लेखक को प्रायः बुरा नहीं मानना चाहिये—जब कि होता कभी-कभी यह भी है कि कोई संपादक रचना विशेष का सत्यानाश भी कर देता है। मगर सिवा इस के कि आगे उस से बचा जाए इस समस्या का और कोई इलाज नहीं। अकसर तो यही होता है कि सम्पादक लोग अनावश्यक अंश ही काटते हैं और जो भाग उन की कलम से कटे हैं उन के बारे में लेखक को अच्छी तरह फिर एक बार सोचना चाहिए कि उन्हें क्यों काटा गया है।

सुझाव

उपर्युक्त कठिनाइयों के मूल कारणों का यही सारा लेखाजोखा नहीं है। कुछ और भी है। लेकिन असल बात यह है कि यदि हमें अच्छा लेखक बनना है, तो प्रत्येक वस्तुस्थिति को दूसरों की दृष्टि से सोचने–परखने की आदत भी डालनी होगी—और यही लेखन की सफलता का मूल-मन्त्र है। यही पात्रों, स्थितियों, संघर्षों आदि के विश्लेषण में काम देगा।

नीचे दिए गये सुझावों को अमल में लाने से बहुत सी कठिनाइयों से स्वतः ही बचा जा सकता है :

१. अक्षरों, शब्दों व पंक्तियों के बीच पर्याप्त अन्तर दें—अक्षरों की बनावट सुपाठ्य रखें—और कागज़ का एक तिहाई हाशिया सम्पादक के संशोधनादि के लिए उस का अधिकार–क्षेत्र समझ कर छोड़ना न भूलें।

२. कागज़ का लोभ बिलकुल न करें। कागज की एक ही ओर लिखें। इस से प्रेस के कंपोज़ीटरों में कम्पोज़ के लिये अलग-अलग पन्ने बंटने में सुभीता रहता है।

३. अपनी रचनाओं की अनेक प्रतियां बनायें, चाहे टाइप के द्वारा,

चाहे हाथ से ही। यदि साफ लिख पाते हों, तो कारबन–कापी कर सकते हैं, जो एक साथ कई कई हो जाती हैं।

४. अपनी रचना कम से कम पांच मित्रों की आलोचक-गोष्ठी को, या अलग-अलग उन्हें सुना कर, बिना उन की किसी भी तरह की आलोचना पर बुरा माने, यह जानने या समझने की चेष्टा करें कि वे रचना के सौंदर्य पर उछल क्यों नहीं पड़े या उन के मुंह से 'वाह' क्यों नहीं निकली, और यदि निकली है, तो वह खुशामद की श्रेणी में तो नहीं आती !

५. किसी व्यस्त व कुशल साहित्यिक मित्र को पूरी पांडुलिपि सुनाने की उत्सुकता त्याग दें। वह एकाध बार शायद आप का मन रख ले, लेकिन आगे पूरा ध्यान नहीं दे पाएगा। इस के बजाय यदि एकाध पृष्ठ का कथा–सारांश उन्हें सुना कर उन का मत लें, तो उन्हें अधिक उत्साह होगा।

६. पत्र–पत्रिकाओं में भेजने के लिए जो रचना करें उस में उस पत्रिका की नीति का समावेश होना चाहिए—यदि वह आप के विचारों से मेल खाती हो। उस की नीति से विपरीत विचारों की रचनाएँ उसे मत भेजिए। इस के लिये पत्रिका के कई अंक पढ़ने चाहियें।

७. किसी पत्र-पत्रिका को आरम्भ में अपनी रचना सोना समझ कर नहीं, मिट्टी समझ कर भेजनी चाहिये, और उस की प्रति या प्रतियां हर हालत में अपने पास सुरक्षित रख लेनी चाहिए—जिस से डाक की गड़बड़ी, रचना न लौट पाने आदि के रिस्क न रहें।

८. आम तौर से हर पत्र-पत्रिका के संपादन-विभाग मे रचना का निर्णय करने की एक अवधि होती है। दो-चार रचनाओं के जाने-आने से ही उस का पता चल जाता है। उस से पहले स्मरण-पत्रादि न भेजिए। स्मरण-पत्र भी नितांत व्यावहारिक शैली में, संक्षिप्त भाषा में होने चाहिए—उन में किसी तरह की लल्लोचप्पो नहीं करनी चाहिए।

९. सामान्यत: रचनाओं के साथ उन की तारीफ में, अथवा उन की व्याख्या करने के उद्देश्य से पत्र मत भेजिए। 'पांडुलिपि-बुक-पोस्ट' के शब्द अंकित कर देने पर पांच तोले वजन तक का, एक तरफ से खुला हुआ अथवा 'पेपर-फासनर्स' से बंद किया हुआ लिफाफा आठ नये पैसे में चला जाता है। आरम्भ में, जब तक आप से पत्र-पत्रिका का संपादक अच्छी तरह परिचित नहीं हो जाता, रचना के लौटाने के लिए अपना पता लिखा, टिकट लगा लिफाफा रचना के साथ नत्थी कर देना चाहिए।

१०. रचना यदि लौट आए तो संपादक पर बिगड़िये मत। हो सकता है कि आप की रचना श्रेष्ठ होते हुये भी किसी पत्र विशेष की नीति

से मेल न खाए, आवश्यकता से अधिक लम्बी या छोटी हो, संपादक विशेष की व्यक्तिगत रुचि के अनुकूल न हो या पांडुलिपि ही अस्तव्यस्त हो । यदि आप के प्रार्थना करने पर, अथवा स्वतः ही विद्वान संपादक कोई आलोचनात्मक टिप्पणी उस पर दे, तो उसे भक्तिभाव से गुनना चाहिए ।

११. बहुत से संपादक लापरवाही के कारण पांडुलिपियों के प्रथम पृष्ठ पर ही कार्यालय की मोहर अथवा अपना निर्णयादि लिख कर रचना लौटाते हैं । इस के सुधार के लिए सारी प्रार्थनायें प्रायः बेकार रहती हैं । बेहतर है कि इस तरह की आफिस-सम्बन्धी मोहर अथवा निशान के लिए आप अपनी पांडुलिपियों के प्रथम पृष्ठ से पहले एक और पृष्ठ लगायें, जिस पर सीधी-सादी भाषा में रचना का शीर्षक, लेखक का नाम व पता आदि अंकित हो तथा ये शब्द लिखे हों : 'आफिस संबन्धी मोहर अथवा निशान आदि कृपया इस पृष्ठ पर ही लगाएँ ।'

१२. यदि आप नियमित लेखक बनना चाहते हैं, तो प्रकाशन-जगत् व लेखन जगत् की पत्र-पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक अवश्य बन जाना चाहिए । कुछ प्रमुख पत्र-पत्रिकायें ये हैं—

(१) 'कहानीकार' (त्रैमासिक), ७८ रायज़ादगान, मेरठ—(अथवा आगामी निश्चयानुसार बदला हुआ पता) । वार्षिक मूल्य १) रु० ।

(२) 'प्रकाशन समाचार' (मासिक), राजकमल प्रकाशन, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली । वार्षिक मूल्य ३) ।

(३) 'हिंदी प्रचारक' (मासिक), डी० १५ : २४, मानमंदिर, वाराणसी—१ । वार्षिक मूल्य ३) ।

इन से आप को इस व्यवसाय की गतिविधि की उपयोगी जानकारी प्राप्त होती रहेगी ।

१३. एक ही रचना के अनेक स्थानों से अस्वीकृत होने पर ध्यान से यह सोचने-समझने की चेष्टा कीजिये कि रचना में क्या गड़बड़ी है । कई-कई बार सोचना चाहिये कि आप की रचना को छाप कर प्रकाशक या पाठकों का क्या कोई विशेष लाभ होने जा रहा था । क्या उस में कोई असाधारण तत्त्व है या सब ऐसा ही है, जो आम तौर पर हर कहीं देखने को मिल जाता है ? अन्य लोगों जैसी रचना कर लेना कोई बड़ा काम नहीं और उस की कद्र होनी जरूरी नहीं । उस की कद्र तो प्रायः वे ही लूट ले जाते हैं जिन्हों ने पहलेपहल उस तरह की रचना असाधारण रूप से पाठकों व संपादकों के सामने रखी थी ।

१४. हर अच्छे लेखक को अपना एक विशेष प्रत्यक्ष आलोचक या आलोचक-वर्ग बना लेना चाहिये । वह निष्पक्ष प्रशंसक हो तो निष्पक्ष

आलोचक भी हो यह ध्यान रखना जरूरी है।

१५. अपने प्रिय लेखकों को बराबर पढ़ते रहना चाहिए और जो गुण या शैली आप को अच्छी लगे उसे अपनाना कोई चोरी नहीं है। पर इस में यह सावधानी बरतनी चाहिए कि कहीं अनजाने या अवचेतन रूप से आप की कलम आप को धोखा दे कर किसी की चोरी न कर बैठे। यह गर्हित अपराध है और बहुत जल्दी लेखक को मंच से उखाड़ फेंकता है।

१६. 'हिन्दी कहानीकार संसद' ('कथायन' के इस भाग के प्रकाशन के समय इसका पता यह है : ७८ रायजादगान, मेरठ) के सदस्य अवश्य बनिये क्यों कि यह हिन्दी के कथाकारों की एकमात्र अखिल भारतीय संस्था है और लेखक को इस का लाभ कुछ ही समय में अनुभव हो जाता है। इस का वार्षिक शुल्क केवल पांच रुपये है।

१७. पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित बहुत से सामयिक लेख ऐसे आते हैं, जो कभी आप की पुस्तकों में उपलब्ध नहीं होंगे। समयानुसार इन का संकलन करते रहना अच्छा रहता है। ये संदर्भ का काम देते हैं और आप के द्वारा हुई नई रचनाओं का सौंदर्य निखारते हैं।

१८. नियमित रूप से रचनायें भेजने के लिए एक 'डिस्पैच रजिस्टर' रखिये, जिस में रचनाओं के भेजने की तिथि, पत्र-पत्रिका का नाम-पता, रचना का नाम व क्रम, तथा सादी डाक अथवा रजिस्टरी का उल्लेख हो, तथा उस पर होने वाले निर्णय का हवाला रहे। इस से न केवल आप अनेक चिन्ताओं से मुक्त रहेंगे, बल्कि आप को अपनी प्रगति का पता भी चलता रहेगा।

१९. कहानी-कला पर मिलने वाली पुस्तकों तथा सामयिक लेखों को एकत्र करने का विशेष चाव आप के भीतर रहना चाहिये। समय-समय पर इन्हें पढ़ते-देखते रहना चाहिए। प्रारम्भ में आप उन से जो कुछ गुनेंगे, आगे चल कर पहले से भी अधिक आप को उन से मिलेगा।

२०. इस क्षेत्र में बेशर्मी के साथ डटना सीखिए, अन्यथा चुपचाप पलायन कर जाइए। आप के मन की सरलता और सादगी ही आप को सफल कलाकार बनायेंगी—कुटिलता, संदेह, संशय, द्रोह, ईर्ष्या आदि अवगुण अन्य क्षेत्रों की भांति यहां भी विनाशकारी ही हैं। एक पैर इस क्षेत्र से बाहर और एक पैर भीतर रखे रहने से काम नहीं चलता।

२१. एक खास बात और है : अच्छे और पुराने लेखकों से भेंट करने की इच्छा का जहां तक हो दमन ही कीजिये। इस से न केवल आप उन का ही उपकार करेंगे, बल्कि अपना भी कम नहीं करेंगे। प्रायः पुराने लेखक अपने जीवन में इतना संघर्ष कर चुके होते हैं कि वे चिड़चिड़े भी हो

जा सकते हैं, या अपनी व्यस्तता के कारण आप की प्रत्याशा के अनुकूल आप को समय न दे पायें—बहुत से मानसिक व भौतिक कारण ऐसे होते हैं कि वहां से आप निराशा ले कर लौटें। इस के अलावा यह भी समझ रखें कि सब आप जैसे आदमी होते हैं और आप को यदि ऊंचा उठना है, तो आप का काम ही आप को उठाएगा, किसी की टटरी पर मक्खन लगाने से सामयिक उछाल कदाचित् मिल जाए, स्थायी उन्नति संभव नहीं।

२२. स्वयं मिथ्या अहंकार और दंभ से बचिए। संसार में हम से सैंकड़ों बरस पहले ऐसे ऐसे लेखक हो गए हैं, जिन की पैरों की धूल भी हमारी प्रतिभा नहीं है। हमारा ज्ञान पराया है, हमारी शैली का भी बहुत कुछ उधार लिया होता है, भाषा व शब्दों का आविष्कार हम ने नहीं किया, कागज हम नहीं बनाते, स्याही भी हम नहीं बनाते—अहंकार किस बात का ? जो बात आप कहना चाहते हैं, वही बात न जाने कौन कितनी बार कहां कहां कह गया है—फिर दंभ कैसा ?

२३. कथाकारों में जितना व्यक्ति-भेद होता है उतना ही हाथ की लकीरों की तरह शैली-भेद रहता है। जो आप हैं वह मैं नहीं हो सकता, जो मैं हूं वह आप नहीं हो सकते—आप मुझ से बहुत ऊपर जा सकते हैं। इसलिए एक बहुत बड़ी बात यह है कि हम कलम के मजदूरों में एक हार्दिक भाईचारा होना चाहिये, एक ऐसा बंधुत्व का भाव होना चाहिए कि दूसरे की किंचित सी हानि पर हमारा हृदय भर आये। इसलिए अपने छोटे और बड़े साथियों की रचनाओं का आदर कीजिए—कम से कम उन के प्रयत्नों की सराहना कीजिये, केवल बार बार आग्रह करने पर ही विनम्र शब्दों में रचनात्मक समालोचना कीजिए और अपनी रचनाओं के लिए वैसी ही प्रार्थना अपने अग्रजों से या मित्रों से कीजिये।

२४. सामान्यत: अपने लिखने का स्थान एकांत में बनाइए। बहुत आडंबर की आवश्यकता नहीं—छोटी-मोटी मेज़-कुरसी, कुछ अच्छी पुस्तकें जिन से आप को प्रेरणा मिली हो, साफ-सफेद कागजों का दस्ता या टाइप-रीम, और एक सस्ता सा फाउन्टेनपैन अथवा कलम, जिस से आप सफाई के साथ लिख सकते हों, काफी हैं।

२५. सामान्यत: काम करने के घंटों में लिखने की आदत डालिए। इस से आगे चल कर आप मूड के दास नहीं बनेंगे और शारीरिक स्वास्थ्य पर आप के लेखन का 'प्रभाव' नहीं पड़ेगा। यों भी शारीरिक रोगों से रहित मस्तिष्क में ही ऊंचे और संतुलित विचार जन्म लेते हैं।

२६. किसी अच्छे प्रूफरीडर को अपना मित्र बनाइए और उस से विधिवत् प्रूफरीडिंग सीखिए। इस के साथ साथ किसी अच्छे प्रेस से संपर्क

चाहती है, जब कि उस की बड़ी बहन न जाने उस का विवाह कहां करना चाहती है !

३—**चरम-सीमा की ओर**—विमल को अंक से लगा कर वह उस से सारी बातें जान लेती है। प्रकारान्तर से विमल स्वीकार कर लेती है कि खत उसी के पास आया था। वह उसे मीठे और स्नेह भरे शब्दों में आश्वासन देती है कि वह उस के मनचाहे लड़के से ही उस का विवाह करेगी—लेकिन पहले वह उसे देख तो ले, परख तो ले, उस के मां-बाप से मिल कर उन सारी बातों को तो जान ले, जिन पर किसी लड़की का सारा भविष्य निर्भर करता है। और तब उसे विमल से ही पता चलता है कि वह लड़का अपने मां-बाप की दहेज़ लेने की प्रवृत्ति के विरुद्ध घर से निकल गया है और उस का विमल तक को पता नहीं है—और बड़ी बहन का आश्वासन, त्याग और स्नेह उस समय चरम-सीमा को पहुँच जाता है, जब वह कहती है : "रो नहीं, मेरी बच्ची ! रो नहीं...हम उस का पता लगाएंगी...वह पढ़ना चाहेगा तो मैं उसे भी पढ़ाऊँगी..."

कहानी की मूल भावना सूक्ष्म होने के कारण पक्का कथानक ही शायद एक छोटी सी कहानी हो जाए। आम तौर से कथानक इस से आधा स्थान घेरता है। किंतु अच्छी, स्वस्थ कथा का मूल कथानक पाँच सौ शब्दों से अधिक नहीं होना चाहिये।

कहानी का शीर्षक

भाई मंगल सक्सेना ने कहानी की मूल भावना को उभारने के लिए दो प्रतीकों का सहारा लिया, जिस से कहानी का सौंदर्य दुगुना हो उठा। इन प्रतीकों के नाम पर कहानी का शीर्षक बहुत उभर कर आया। शीर्षकों का कुछ ठिकाना नहीं। कभी कभी शीर्षकों के आधार पर ही पूरी कहानी की रचना हो जाती है, कभी कथानक से ही शीर्षक निकल आता है और कभी पूरी कहानी लिख डालने पर भी हम शीर्षक खोजते रह जाते हैं। लेकिन ऐसा अक्सर नहीं होना चाहिए। शीर्षकों का चुनाव चाहे जब किया जाये, लेकिन कहानी लिखने से पहले एक कच्चा शीर्षक रख लेना सुविधाजनक रहता है। शीर्षक आकर्षक होना चाहिए और कहानी के अंतर-पट से मेल खाता होना चाहिए—अललटप नहीं।

शीर्षक से कहानी के मर्म का पता चले, तो वह उत्तम होता है। लेकिन यह बहुत कुछ सामयिक सूझ पर निर्भर करता है, इसलिये इसे यहीं छोड़ कर हम आगे बढ़ें।

कहानी का प्रारंभ

सदा साफ़ और स्वच्छ काग़ज़ पर, सुंदर-सुंदर अक्षरों में लिखना आरंभ करना चाहिए। इस से स्वस्थ व संतुलित विचार आते हैं और विशेष रूप से उनके क्रम पर ध्यान जमा रहता है।

कहानी की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि उसे किस तरह आरंभ किया गया। कहानी के सारे पात्रों, संघर्ष में आने वाले चरित्रों का पहले ही परिचय देना आवश्यक नहीं। ये परिचय अपने आप बीच के वर्णन, कथोपकथन, संघर्ष आदि से खुलते रहते हैं। पात्र अपना काम भी निभाते जाएं और प्रकारांतर से दूसरे पात्रों का परिचय भी देते चलें। यह कहना आवश्यक नहीं कि स्नेह की छोटी बहनों के नाम कमल और विमल थे। इस के स्थान पर यह कह देने से दो काम एक साथ हो जाते हैं: "कंचन की शादी तो उस ने कर दी थी—पर अब कमल और विमल की ?" स्नेह के इस विचार को प्रकट करने से लेखक एक साथ दो काम कर गया—और यही संक्षिप्त ढंग कहानी व नाटक आदि में चलता है।

इस प्रकार कहानी के संदर्भ बनाते चलने का उदाहरण भाई विष्णु प्रभाकर की कहानी 'दो दुर्बल हृदय' में देखिए। ऐसा ही उदाहरण आप को बहन रजनी पनिकर तथा वसंतप्रभा जी की कहानियों में भी मिलेगा। रजनी जी की कहानी में तो बहुत दूर जा कर यह पता चलता है कि प्रथम पुरुष में कहानी कहने वाली नारी-पात्र की वास्तविक स्थिति क्या है। इस से उत्सुकता जाग्रत होती है। स्थिति जानने के चक्कर में पाठक सारी कहानी ही समाप्त कर डालता है, और तब कहीं जा कर उसे यह पता चलता है कि कहानी कहां से आरंभ हुई थी। कहानी क्या है एक गोल चक्कर है, जिस पर चाहे जहां से चल पड़िये और सारा घेरा घूम जाईए। वास्तव में कहानी का आरंभ इस बात पर निर्भर करता है कि उसे किस कोण से पकड़ा गया है।

कथाकोण

कहानी लिखने में सब से अधिक कठिनाई कोई है तो वह उस का कोण निर्धारित करने में सामने आती है। किस सिरे से पकड़ कर कहानी को घुमाएं, जिस से वह अधिक से अधिक मनोरंजक, चित्ताकर्षक, स्वाभाविक, कुतूहलपूर्ण तथा मार्मिक बैठे ?

भाई मंगल सक्सेना ने कहानी को जहां से आरंभ किया है, यही अनिवार्य स्थान नहीं था। क्योंकि कहानी के पात्रों को अधिक प्रभावोत्पादक

बनाने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया गया है, इसलिए प्रतीकों के साक्षात्कार से ही कहानी का प्रारंभिक अंश अलंकृत है। किंतु लेखक इस कथा को प्रतीकात्मक न बना कर और ढंग से भी ले सकता था। उदाहरण के रूप में इस पैरे से :

'कमरे में खड़ी स्नेह ने सोचा---' (पृष्ठ ७१)

और इस से पहले का सारा विवरण घटनाओं के बीच-बीच में खुलता जाता। जिन पाठकों को घटनाप्रधान कहानियां अधिक भाती हैं उनके लिए यह आरंभ कुतूहलवर्द्धक रहता। इस से कहानी के वर्त्तमान सौंदर्य में निखार आता या वह कम होता यह कहना कठिन है; लेकिन इस से यह पता अवश्य चल जाता है कि एक ही कथानक होते हुए भी कथाकोण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, और लेखक को कथाकोण चुनने के लिए बहुत सावधानी से चिंतन करने की आवश्यकता है।

वास्तव में कथाकोण ही कहानी के प्रस्तुत रूप का उत्तरदायी होता है। कभी-कभी अच्छे कथाकोण से निकृष्ट कथानक में भी जान पड़ जाती है। कथाकोण का अभ्यास करने के लिए इस संग्रह की किसी भी कहानी को—जो आप को अधिक सुविधाजनक लगे—भिन्न-भिन्न कोणों से लिख कर देखिए।

कहानी के प्रेरणा-स्रोत

आप दस दिन सोचते रहें और आप को एक कहानी की प्रेरणा भी प्राप्त न हो---और आप एक दिन में ही दस कहानियों के कथानक उठा लें, यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि आप के सामान्य ज्ञान का विस्तार कितना है, आप की वैचारिक कल्पना कितनी ऊंची है, और आप की ग्रहणशक्ति कितनी प्रबल है। सामान्यतः हमें निम्नलिखित स्रोतों से कहानियों के कथानक मिल सकते हैं :

१. दैनिक, साप्ताहिक या अन्य सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में आने वाले समाचारों अथवा उन समाचारों की आलोचनाओं से।

२. अन्य लेखकों की अच्छी कहानियों के पात्रों को कुछ अथवा सर्वथा भिन्न समस्याओं तथा परिस्थितियों में रख कर सोचने से।

३. अच्छी पुस्तकों के निरंतर अध्ययन से।

४. पास–पड़ोस अथवा समाज की उन घटनाओं से जो हमारी आंखों के सामने या हमारी जानकारी में घटती हैं।

५. किसी मित्र अथवा संबन्धी द्वारा कथित मौखिक घटना अथवा किसी बीती हुई घटना के वर्णन से।

६. समाज की असंगतियों तथा उस के चरित्रों के सूक्ष्म अध्ययन व निरीक्षण से।

७. अपने साथ बीती किसी घटना के काल्पनिक अथवा वास्तविक उलट-फेर से ।

असल में कहानी के कथानक पग-पग पर बिखरे हुए हैं। एक बार किसी बात पर जम कर नजर गड़ जाए, तो कल्पनाशील लेखक तुरन्त मन ही मन कहानी की कल्पना कर डालता है। अन्त में मूल बात यही है कि कहानी के प्रेरणा-स्रोत अनगिनत हैं, असंख्य हैं, और उन का अवगाहन आप की ग्रहणशक्ति पर ही निर्भर करता है ।

ध्यान रखिये

अच्छी कहानी के लेखन में कुछ बातें बड़ी बाधा उपस्थित करती हैं। उन का ध्यान में रहना जरूरी है :

१. कहानी में उपदेश में मत झाड़िये। किसी को आप के उपदेश सुनने की फुरसत नहीं है—विशेष रूप से कहानी के माध्यम से ।

२. कहानी लिखते समय सदा अच्छे पाठक की दृष्टि से सोचिये। अपने मन के गुब्बार निकालने के लिए कोरे कागज पर अत्याचार न कीजिये। **जो कुछ कहना हो अत्यंत संक्षेप में, केवल पात्रों की आवश्यकतानुसार, अधिकतर अपने पात्रों से कहलवाईये ।**

३. कहानी को छोटी छोटी घटनाओं के सहारे आगे बढ़ाईये। वर्णन का अंश थोड़े से थोड़ा रखिए।

४. हर कदम पर स्वाभाविकता और सुरुचि का ध्यान रखिये।

५. आरम्भ में प्रेम-कथाएँ मत लिखिए। प्रेम या प्रणय सेक्स की विकट समस्याओं से सम्बन्धित गहरी चीजें हैं, और इन की जड़ों तक पहुंचने के लिये गहन अध्ययन तथा अनुभव की आवश्यकता होती है ।

६. कहानियों में लोभवश या निंदावश अपने परिचितों के सही नाम न दीजिए ।

७. पांच हजार शब्दों से अधिक की कहानियां प्रायः नहीं लिखनी चाहिये। ध्यान रखिये कि दैनिक पत्रों में एक हजार से दो हजार शब्दों तक की कहानियां खप पाती हैं, जब कि मासिक पत्र पांच हजार शब्दों तक की कहानियां अधिक पसंद करते हैं।

८. कुछ मासिक पत्रों ने विराम-चिह्नों का अजीब ढर्रा चलाया है! उन्हों ने 'इनवर्टेड कौमा' ही गायब कर डाले हैं! इस से वार्त्तालापों को वर्णन से अलग कर के पढ़ने में भारी दिक्कत होती है। विराम-चिह्नों में सार्वभौमिक ढंग ही अपनाना चाहिए। किसी विशेष संपादक की झख को उस के परिश्रम पर ही छोड़िए ।

९. पैरा कभी हाशिए से आरम्भ न कीजिये। यह भी विशिष्ट सम्पादकों की झख है। सारे पैरा एक सी दूरी से आरम्भ करने चाहियें।

१०. टाइप की हुई या कराई हुई प्रति को बिना भलीभांति जांच किए छपने को न भेजिए। इस से आप की ही अज्ञानता प्रकट होगी।

११. अपनी पांडुलिपि को फूल-पत्तियां बना कर न सजाइए। इस के स्थान पर यदि आप शीर्षक व पृष्ठांकों को लिखित पृष्ठ के बीचोंबीच तथा उचित स्थान पर रखने की आदत डालेंगे, तो अच्छा रहेगा!

१२. कभी भूल कर भी घसीट में मत लिखिए।

कहानी-लेखन बहुत बड़ा विषय है। दसियों वर्षों के निरन्तर लेखन-कार्य तथा उस से होने वाले अनुभवों को लिपिबद्ध करने के लिए पूरा ग्रंथ चाहिए। किन्तु फिर भी अभ्यास के लिए यदि आप इन बातों पर ध्यान देंगे, तो पर्याप्त लाभ की संभावना है:

इस संकलन की कुछ कहानियों को, जो आप की रुचि के अनुकूल हों, उधेड़ डालिये। अलग अलग किन्तु एक साइज के कागजों पर उन के उद्देश्य, कथानक, पात्र, सहायक पात्र आदि उसी ढंग से लिख डालिए, जिस तरह हम ने ऊपर एक कहानी को थोड़ा सा उधेड़ा है। इन कथानकों आदि को रख कर भूल जाइये और काफी दिनों बाद उठाइये। या फिर परस्पर दो साथी मिल कर उन कहानियों को इसी प्रकार खोल डाले, जिन्हें एक दूसरे ने पढ़ा न हो। इन्हें एकदूसरे को दे देना चाहिए। इन उद्देश्यों, कथानकों आदि पर अपने ढंग से, अपने कथाकोण से आप कहानियों की रचना करें (कहीं भूल से छपने न भेज दें—वरना गजब हो जाएगा!) और जब स्वयं उन रचनाओं से संतुष्ट हो जायें, तो उन्हें एक एक कर के संकलन की कहानियों से मिलायें और यह देखें कि आप की रचना में कितनी कमी है या संकलन के तत्संबन्धी लेखक ने अपनी कहानी में क्या बात ऐसी दी है, जिस से उस में आप की कहानी से ज्यादा दम पैदा हो गया है। यह अभ्यास कुछ ही दिनों में आप को एक सफल और मौलिक कथाकार बना सकता है। **कठोर परिश्रम ही सफलता की गारंटी है।**

कथायन के अगले भागों में हम कहानी के अन्य आवश्यक रचना-विधान की चर्चा करेंगे तथा नई पीढ़ी की प्रयोगवादी कहानी के रचना-शिल्प पर भी प्रकाश डालेंगे।

—संपादक